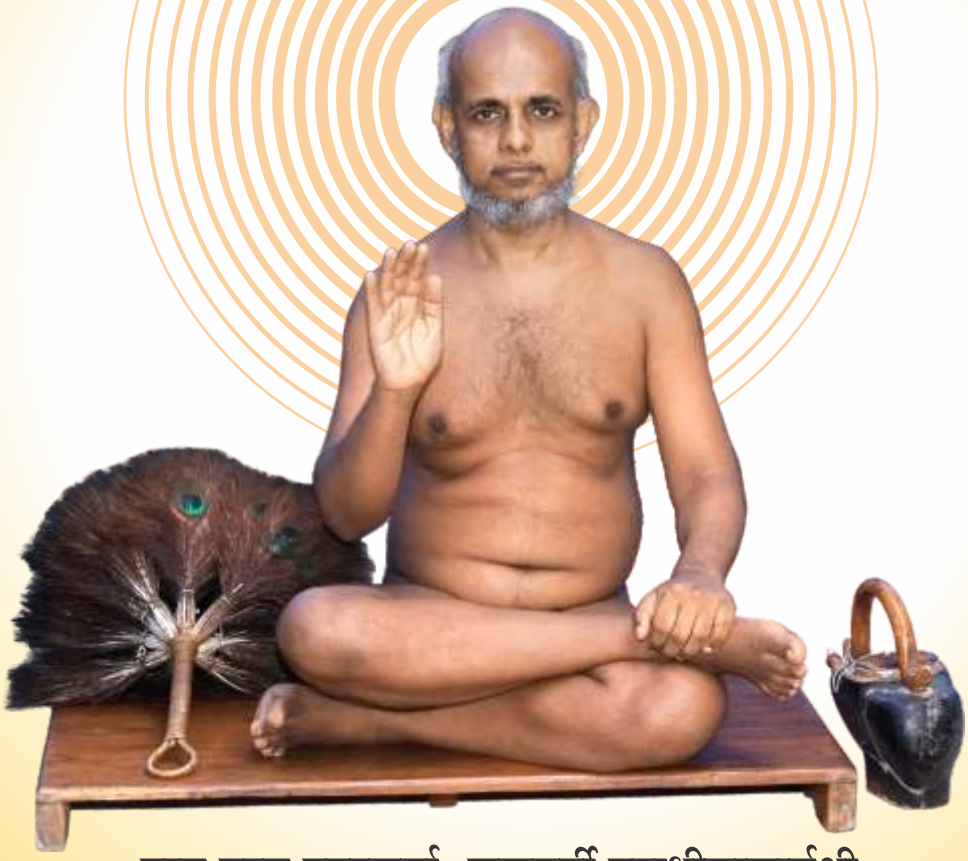

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

नियमसार

ग्रन्थकर्त्ता

परम पूज्य आचार्यश्री कुन्दकुन्द जी महाराज

टीकाकार

आचार्यश्री पद्मप्रभ जी महाराज

अनुवादिका

पूज्या आर्यिकारत्नश्री ज्ञानमती माताजी

प्रकाशक

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर-मेरठ (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

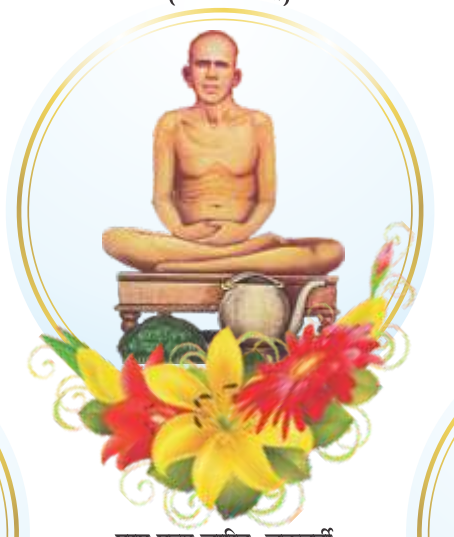

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला पुष्प नं० ७५

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत

नियमसार

[श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवकृततात्पर्यवृत्तिसहित]

हिन्दी अनुवाद :

पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

प्रकाशक :

वि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान

हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथम संस्करण

११००

३ फरवरी ८५, माघ शुक्ला १३

वी० नि० सं० २५११

संशोधित मूल्य

रु० [मूल्य]

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

हस्तिनापुर (मेरठ)

आद्य–उपोद्घात

श्री कुंदकुंद देव के द्वारा विरचित इस नियमसार ग्रन्थ में "मार्ग और मार्ग का फल" इन दो विषयों का वर्णन है। मोक्ष का उपाय मार्ग है और निर्वाण उसका फल है। मोक्ष के उपाय को अथवा ग्रन्थ के नाम की सार्थकता को बतलाते हुये श्री आचार्यदेव ने कहा है—

"णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।"
विवरीयपरिहरत्थं भणियं खलु सारमिदि वयणं॥

नियम से जो करने योग्य है वह "नियम" है, वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। उसमें विपरीत-मिथ्यात्व का परिहार करने के लिये "सार" शब्द लगाया है।

कोई लिखते हैं कि "विपरीत का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है विकल्प अर्थात् भेद रत्नत्रय है। क्योंकि इस ग्रन्थ में निर्विकल्परूप निश्चय रत्नत्रय का ही वर्णन है"

किन्तु यह बात गलत है। 'यदि श्री कुंदकुंददेव को विपरीत शब्द से भेद रत्नत्रय का परिहार करना इष्ट होता तो वे स्वयं चार अधिकार तक इस व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन क्यों करते।

देखिये, चौथी गाथा में ही उन्होंने कहा है कि—

"एदेसि तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होई"। दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं।

पुनः सम्यक्त्व का लक्षण करते हुये कहा है—

"आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। अनंतर आचार्य ने इन तीनों का लक्षण स्वयं बताया है। पहले अधिकार में गाथा १६ तक जीवतत्त्व का वर्णन, द्वितीय अध्याय में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका वर्णन किया है। यहां तक व्यवहार, आगे शुद्ध जीवतत्त्व का वर्णन करके नय अवस्था दिखाई है।

जाणिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवतारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥ ४७॥
असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जय लोयग्गे सिद्धा वसु जीवा णंसिदी णेया॥ ४८॥

एवे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥ ४९ ॥

जैसे सिद्धात्मा हैं वैसे भव में रहने वाले संसारी जीव हैं और इसी कारण से वे जरा, मरण और जन्म से रहित हैं तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं ।

जिसप्रकार से अशरीरी, अविनाशी, अतींद्रिय, निर्मल, विशुद्धात्मा, सिद्धलोक के अग्रभाग पर स्थित हैं वैसे ही जीव संसार में हैं ऐसा जानना ।

पुनः तत्क्षण ही नयविवक्षा को स्पष्ट कर दिया है—

पूर्वोक्त सभी भाव (स्थिति, अनुभाग, बंध, ध्यान आदि) व्यवहारनय का आश्रय करके कहे गये हैं । किन्तु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्धस्वभाव वाले हैं ।

यहां पर आचार्यदेव का अभिप्राय व्यवहारनय से असत्य का नहीं है । अन्यथा वे व्यवहार-निश्चय, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को शुद्ध-सिद्ध बनाने का उपाय क्यों प्रदर्शित करते; वे कह सकते थे कि "वास्तव में मार्ग का फल निर्वाण है और मार्ग जो मोक्ष का उपाय है वह असत्य है ।" क्योंकि मोक्ष का उपाय तो व्यवहारनय के आश्रित ही है । किन्तु ऐसा न कह कर व्यवहार का उपदेश दिया है ।

आगे पुनः चतुर्थ अधिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का कथन किया है । आचार्य कुंदकुंददेव ने महाव्रत और समिति में निश्चयनय को न घटाकर गुप्ति में अवश्य घटाया है । पुनः पंचपरमेष्ठी का लक्षण बताकर अन्तिम गाथा में कहा है—

एदिस्सय भावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

इन पूर्वोक्त भावना में (गाथा ७५ तक की भावना में) व्यवहारनय के अभिप्राय से चारित्र होता है, अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूंगा ।

इसके आगे पांचवें अधिकार से लेकर ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चय परम आवश्यक इन सातों का वर्णन किया है जो कि ध्यान के आश्रित ही हैं ।

आगे ग्यारहवें अधिकार के अन्त में कहा है—

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण ।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्जय केवली जादा ॥१५८॥

सभी पुरुष पुरुष इसी प्रकार से आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त आदि अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण, सूक्ष्मसांपराय और क्षीणकषाय गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गये हैं।

इसके आगे अन्तिम बारहवें अधिकार में केवली भगवान का वर्णन करके अन्त में निर्वाण को प्राप्त सिद्धों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार से आचार्य महोदय ने अपने कहे अनुसार ग्यारह अधिकार में मार्ग और बारहवें अधिकार में मार्ग के फल को कहा है। उस मार्ग के व्यवहार-निश्चय दो भेद करके चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को कहकर पुनः आगे ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय मोक्षमार्ग को कहा है। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय के लिए साधन है। निश्चयरत्नत्रय साध्य भी है और मोक्ष के लिए साधन भी है।

यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मुनियों के चारित्र का ही वर्णन करता है। इसमें श्रावकों के चारित्र का कोई कथन नहीं है। हाँ: परमभक्ति अधिकार में अवश्य ही भक्ति करने के लिये श्रावक शब्द को लिया है।

इन्हीं कुंदकुंद आचार्य ने चारित्र पाहुड़ में तथा रयणसार में पृथक् से श्रावकों के सम्यक्त्व और चारित्र का वर्णन किया है इस तरह से ग्रन्थ के रहस्य को समझ लेने के बाद ग्रन्थ के किसी भी प्रकरण से अनर्थ की संभावना नहीं रहती है।

जिन और जिनकल्पी-स्थविरकल्पी मुनि :

श्री कुंदकुंददेव ने अपने सभी ग्रन्थों में मोक्षमार्ग को लिया है। यद्यपि पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में सिद्धांत कथन प्रधान है फिर भी इनमें अंतिम अधिकार में मोक्षमार्ग का प्रकरण और मुनियों की चर्या का वर्णन ही लिया है।

यह मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की एकतारूप है। श्रावक ग्यारह प्रतिमा तक भी चारित्र के एकदेशधारी ही कहलाते हैं अतः उन्हें ज्ञान भी अंग-पूर्व का नहीं होता है। मुनि सकलचारित्र के अधिकारी हैं अथवा यों कहिये कि सकलचारित्र ग्रहण करने पर ही मुनि, श्रमण, संयत, तपोधन, साधु आदि नाम प्राप्त होते हैं।

तीर्थंकर मुनि तीर्थंकरदेव ही होते हैं, दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भी वे न संघ रखते हैं न उपदेश देते हैं न ग्राम या नगर में या वसतिका में निवास करते हैं। वे एकलविहारी महासाधु कभी कभी नगर में आकर आहार ग्रहण कर लेते हैं। सतत मौन का अवलंबन रखते हुये पर्वत, नदी के किनारे, घोर अरण्य आदि एकांत स्थानों पर तपश्चर्या करते हुये शुद्ध आत्मतत्त्व का चिंतन और ध्यान करते रहते

है। यद्यपि इनको भी छठा-सातवां ही गुणस्थान रहता है फिर भी इनकी चर्या, इनके परिणाम सामान्य जनों की कोटि में नहीं आ सकते हैं। इसीलिये ये साक्षात् जिन हैं। इनका आचरण तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट है।

इनके समान जिनकी चर्या हो फिर भी इनसे किंचित् न्यून ही हो वे मुनि जिनकल्पी कहलाते हैं। ये भी प्रायः मौन पूर्वक विहार करते हुये चार-छह महीने तक भी ध्यान में खड़े हो जाते हैं, ये भी एकलविहारी होते हैं। ये उत्तम संहननधारी महामुनि इस युग में नहीं हो सकते हैं।

जो मुनि ज्ञानी उत्कृष्ट चर्या को पालने में असमर्थ होते हैं वे गुरु के सान्निध्य में संघ में रहकर आहार विहार नीहार क्रियाओं में आगम के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं। इनमें जो प्रधान आचार्य होते हैं वे शिष्यों का संग्रह करना, उन्हें दीक्षा, शिक्षा, प्रायश्चित आदि देकर मोक्षमार्ग में लगाना, मुनि व श्रावकों को धर्मोपदेश देना, तीर्थ-यात्रा, धर्म प्रभावना आदि कार्यों में प्रवृत्त होना आदि सरागचर्या का अनुसरण करते हैं। ये साधु "स्थविरकल्पी" कहलाते हैं। ये यहां चतुर्थकाल में और विदेह क्षेत्रों में भी होते हैं। पंचमकाल में श्री कुंदकुंददेव आदि से लेकर आज तक के सभी मुनि उत्तम संहनन के अभाव में स्थविरतक के सभी मुनि उत्तम संहनन के अभाव से स्थविर-कल्पी ही हैं।

व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग :

मुनियों के सकलचारित्र के दो भेद हैं—सराग चारित्र और वीतराग चारित्र। इन्हें शुभोपयोग-शुद्धोपयोग, अपहृतसंयम उपेक्षासंयम, व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र भी कहते हैं। इनमें से पहले मुनिजन व्यवहार चारित्र को ग्रहण कर उसमें पूर्णतया निष्णात-निष्पन्न होकर निश्चयचारित्र के लिये प्रयत्न करते हैं। व्यवहार चारित्र, आचरण, क्रिया अथवा प्रवृत्तिरूप है और निश्चयचारित्र, ध्यान, एकाग्रता या निवृत्तिरूप है।

साधनसाध्य भाव :

इन दोनों में आपस में साधन-साध्यभाव अथवा कारण कार्य भाव पाया जाता है। जैसे अग्नि के बिना धूम या बीज के बिना वृक्ष अथवा फूल के बिना फल नहीं हो सकता है। ऐसे ही बिना व्यवहारचारित्र के निश्चय चारित्र नहीं हो सकता है। चारित्रचक्रवर्ती गुरुमांगुरु आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज ने अपने २६ दिन के उपवास के बाद दिये गये अंतिम उपदेश में व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र के लिये फूल से फल का उदाहरण दिया था। सवि० - निर्विकल्प समाधि, सविकल्प समाधि इस प्रकार के दो भेद कहे गये हैं। कपड़ों में रहने वाले गृहस्थ सविकल्प समाधि करेंगे। मुनियों के सिवाय निर्विकल्प समाधि होती नहीं। ... इ छोड़े बिना मुनिपद नहीं होता। भाइयो! अब तो मत, मुनिपद धारण करो। यथार्थ संयम हुये बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होती है। इसप्रकार समयसार में श्री कुंदकुंदस्वामी ने कहा है। आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व होता नहीं। व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार कहा है। वह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है, वह साधन है। जिसप्रकार फल के आने के लिये फूल

पुनः दूसरी गाथा की उत्थानिका में कहा है—

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् । "नितरामुपपन्नः । "

इसलिये निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग से साध्यसाधन भाव अच्छी तरह से सिद्ध हो गया है ।

प्रवचनसार ग्रन्थ में तो तृतीय चारित्राधिकार में सर्वप्रथम मुनिदीक्षा लेने की ही विधि बताते हैं । वे कहते हैं—

"जो मुनि होना चाहता है वह सर्व प्रथम अपने बंधुवर्ग से पूछकर, पंचाचार से सहित आचार्य के पास पहुंचकर उन्हें प्रणाम कर उनसे दीक्षा की याचना करे । उस दीक्षा में केशलोंच करके नग्न मुद्रा धारी होकर पांच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुण धारण करे[1] ।"

"आगम में मुनि शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ऐसे दो प्रकार के हैं । उनमें से शुद्धोपयोगी आस्रव से रहित हैं और शुभोपयोगी आस्रव से सहित हैं । यहां शुद्धोपयोगी मुनि १२वें गुणस्थानवर्ती लिये गये हैं ।[2]" पुनः गाथा ४६ से लेकर ७२ तक शुभोपयोगी मुनि की चर्या बतलाई है । आगे गाथा ७३–७४ में शुद्धोपयोगी का लक्षण किया है : शुभोपयोगी मुनि की चर्या का एक उदाहरण देखिये—

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया य सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य ॥४८॥

दर्शन ज्ञान का उपदेश देना शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना, तथा जिनेंद्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सब सराग चर्या अर्थात् शुभोपयोगी मुनियों की प्रवृत्ति है ।

समयसार में भी मूल गाथा में सर्वप्रथम भेदरूप व्यवहाररत्नत्रय पुनः अभेदरूप निश्चयरत्नत्रय धारण करने का उपदेश है यथा—

दंसणणाणचरित्ताणि सेवियव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

साधु के द्वारा दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नित्य ही सेवन करने योग्य हैं । पुनः इन तीनों को निश्चय से आत्मा ही समझो । अर्थात् प्रथम तीनों को पृथक् पृथक् धारण करना चाहिये पुनः निश्चयनय से इन तीनोंरूप आत्मा की आराधना करना चाहिये ।

---

१ प्रवचनसार अधिकार ३, गाथा १ से ६ ।

२ ,, ,, गाथा ४५ ।

अपने पाहुड़ ग्रन्थों में से चारित्रपाहुड़ में भी क्रम कहा है—

गाथा २१ वीं में है—"सागार और निरागार-अनगार के भेद से संयमचरण दो प्रकार का है। उनमें से सागारचारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनि के होता है। पुनः दर्शन व्रत आदिक से श्रावकों के ग्यारह भेद किये हैं। अनंतर आगे क्रम कहा है—

एवं साययधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥२७॥

इसप्रकार श्रावकधर्मरूप संयमचरण का निरूपण किया, अब आगे यतिधर्मरूप, सकल शुद्ध और निष्कल संयमचरण का निरूपण करूंगा। इसके बाद मुनिधर्म का स्वरूप कहते हैं—

पंचेंद्रियों का दमन, पांच महाव्रत, इनकी पच्चीस भावनायें, पांच समितियां और तीन गुप्तियां यह निरागार संयमचरण चारित्र है।

इसका अर्थ यही हुआ कि श्रावकधर्म के बाद मुनिधर्म धारण करने के अनंतर ही निश्चयचारित्र होता है।

द्वादशानुप्रेक्षा ग्रन्थ में संवर अनुप्रेक्षा में क्रम बताया है—

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं, कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥
सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।

शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभयोग का संवर करती है और शुद्धोपयोग द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है। शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं।

मूलाचार में सात अध्याय तक मूलगुण, समाचार, पंचाचार, पिंडशुद्धि, आवश्यक प्रकरण आदि द्वारा व्यवहारचारित्र को बतलाकर अनंतर आठवें अधिकार में अनुप्रेक्षा, नवमें में अनगार भावना और दसवें समयसार अधिकार में आदि भावना प्रधान कही है।

प्राकृत भक्तियों में तो भक्तिराग की प्रधानता होने से व्यवहार क्रियायें उन्हें कितनी अधिक प्रिय थीं। श्री कुंदकुंददेव स्वयं व्यवहारचारित्र से चलते हुये पंच परमेष्ठी आदि की भक्ति करते थे। इससे व्यवहार क्रियाओं की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् जब तक मुनि आहार विहार आदि करते हैं तब तक उन्हें आवश्यक क्रियायें दृढ़ता से करना चाहिये।

श्रुतभक्ति में स्वयं श्री कुंदकुंददेव ने अपने भक्तिराग को व्यक्त किया है।

एवं मए सुदपवरा भत्तीरागेण संत्थुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं जिणवरवसहा पयच्छंतु ॥११॥

इस प्रकार मैंने भक्तिराग से द्वादशांगरूप श्रेष्ठ श्रुत का स्तवन किया है। जिनवर वृषभदेव, मुझे शीघ्र ही श्रुत का लाभ देवें। श्री कुंदकुंददेव ने किसी भी ग्रन्थ के अंत में अपना नाम नहीं दिया।

ऐसा एकांत नहीं है उन्होंने "वारसणुपेक्खा" ग्रन्थ के अंत में अपना नाम दिया है। यथा

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ९१ ॥

इसप्रकार श्री कुंदकुंदमुनिनाथ ने निश्चय और व्यवहार का अवलंबन लेकर जो कहा है, शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है।

नय व्यवस्था :

यह नियमसार मुनियों के चारित्र का ग्रन्थ है। उस चारित्र में भी वीतराग चारित्र का ही प्रमुख वर्णन है। इसमें चौदे अधिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति, इन तेरह विध चारित्र को कहा है। महाव्रत और समिति तो व्यवहारचारित्र ही है। हां, गुप्तियों में आचार्यदेव ने व्यवहार निश्चय दो भेद कर दिये हैं। व्यवहार गुप्तियां शुभ प्रवृत्ति होते हुए भी अशुभ से निवृत्ति रूप हैं ये पंचम काल में संभव हैं और आचार्य परमेष्ठी के ३६ गुणों में भी हैं। निश्चयगुप्तियां अशुभ-शुभ दोनों की निवृत्तिरूप होने से त्रिगुप्तिगुप्त महा-मुनियों के ही संभव हैं जो कि आजकल नहीं हो सकती।

इस ग्रन्थ में व्यवहार-निश्चय का समन्वय करते हुये दोनों के विषय को कहने वाली दस गाथायें हैं, उनके कुछ उदाहरण देखिये—

गाथा ४९ में कहा है—प्रकृति स्थिति बंध आदि तथा औपशमिक आदि सभी भाव व्यवहारनय से जीव के कहे हैं निश्चयनय से या शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्धस्वभाव वाले हैं गाथा ७६ में कहा है—पांच महाव्रत आदि तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि भावना से व्यवहारचारित्र होता है और अब मैं इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूंगा इस कथन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि व्यवहारनय के चारित्र को धारण करने के बाद ही निश्चय चारित्र प्राप्त होता है न कि पहले। कुछ लोग अभी के व्यवहारचारित्र के बिना भी निश्चय चारित्र मान लेते हैं उन्हें इस ७६वीं गाथा पर लक्ष्य देना चाहिये।

गाथा १५९ में केवली भगवान् में दोनों नयों की विवक्षा करते हैं श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—व्यवहारनय से केवली भगवान् सर्व जगत् को जानते-देखते हैं और निश्चयनय से अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं। इस कथन

से यह समझा जाता है कि व्यवहारनय मिथ्या नहीं है अन्यथा केवली भगवान के ज्ञान में सब कुछ झलक रहा है यह कहना ही मिथ्या हो जावेगा। अतः नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है वह अपने विषय को कहने में समीचीन ही है।

निश्चयचारित्र मुनि को ही होता है :

इस ग्रन्थ में चारित्र के प्रकरण में हर एक जगह मुनि के लिये ही वीतराग या निश्चयचारित्र का प्रतिपादन है। उसके सूचक मुनि या मुनि के वाचक संयत श्रमण आदि शब्द २२ गाथाओं में आये हुये हैं उन गाथाओं को परिशिष्ट में दिया गया है। जिनमें से कुछ उदाहरण देखिये—

गाथा ८८ में जो साधु अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिगुप्ति से गुप्त होते हैं वे ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणरूप हो चुके हैं। गाथा १०७ में जो कर्म नो कर्म रहित, विभावगुणपर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करते हैं उन श्रमण के आलोचना होती है। गाथा १४४ में जो संयत शुभ भाव में आचरण करते हैं वे अन्यवश हैं इसलिये उनकी क्रियायें आवश्यक लक्षण नहीं हैं। पुनः १५१ में कहा है—जो धर्म शुक्ल ध्यान से परिणत हैं वे अंतरात्मा हैं। ध्यान से हीन श्रमण बहिरात्मा है। तात्पर्य यही निकलता है कि चौथे अधिकार के व्यवहारचारित्र के बाद जो निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, समाधि, भक्ति और आवश्यक नाम से निश्चयचारित्र के अनेक नाम अधिकार हैं उनमें ध्यान की एकाग्रता, आत्मा के स्वरूप में तन्मयता, शुद्धोपयोग परिणति या निर्विकल्प समाधि ही विवक्षित है वही वीतराग चारित्र है।

टीकाकार ने स्थल स्थल पर इस विषय को स्पष्ट किया हुआ है। जिन कलश काव्यों में भक्ति प्रधान है और जो कलश काव्य निश्चयचारित्र का कथन करते हैं तथा और भी जो कुछ विशेष हैं ऐसे चौबीस कलश काव्य परिशिष्ट में दे दिये हैं। कुछ उदाहरण देखिये—कलश काव्य ७३ में कहा है—शुद्धनिश्चयनय से मोक्ष और संसार में कुछ अंतर नहीं है। शुद्धतत्त्व के रसिक तत्त्वविचार के समय ऐसा ही कहते हैं।" कलश १२४ में है—यह शुक्ल ध्यान रूपी दीपक जिन के मनरूपी मकान में जल रहा है, वही योगी है उसके शुद्धात्मा स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है। "यहां यह स्पष्ट है कि श्रेणी में ही मुनियों को शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।" कलश १७० में कहा है—रागरूपी अंधकार का नाश करने वाला सहजतेज जयशील है, वह मुनिवरों के मन में ही गोचर होता है, पूर्ण शुद्ध है। विषय सुख में रत हुये लोगों को सर्वथा ही दुर्लभ है, परमसुख का समुद्र है। ऐसा यह शुद्धज्ञान निद्रा से रहित है। इसमें भी स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा तेरे विषयसुख में तत्पर गृहस्थों को नहीं मिल सकता। आगे २४३ कलश में कहते हैं—मुनिवेषधारी भी पुण्य भोगी अनेक होते हैं वे मोक्षमार्गी नहीं किंतु स्वयं मुनि मोक्षमुक्त है और यह जिनेन्द्रदेव से किंचित् ही न्यून है, ये स्वयं मुनि बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं। इसे ही कलश २४९ में कहा है कि "मोह के नष्ट हो जाने पर वे मुनि अंतस्तत्त्व को देख लेते हैं।" यह भी बारहवें गुणस्थान में संभव है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारी देव के कुछ टीका के अंश भी इस विषय में द्रष्टव्य हैं। गाथा १४६ की टीका में अंतरात्मा का लक्षण देखिये—"स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा।"

"स्ववश" नाम के परम श्रमण सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा हैं, सोलह कषायों के अभाव से ये क्षीणमोह पदवी को—बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हुये महात्मा हैं। यहां तो बारहवें गुणस्थान के अंतरात्मा को लिया है यह बात स्पष्ट कर दी है।

गाथा १५० की टीका में "स्वात्मध्यानपरायणस्सन् निरञ्जनेनान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति।"

स्वात्मध्यान को करने में तत्पर हुये संपूर्ण रूप से अंतर्मुख होकर शुभ-अशुभ समस्त विकल्पों में कदाचित् भी नहीं वर्तते हैं इसीलिये वे परम तपोधन साक्षात् अंतरात्मा हैं। गाथा १५१ की टीका में पंक्ति है—"इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः।" यहां पर निश्चित ही साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीण कषाय मुनि हैं।

इन सब उद्धरणों से समझना चाहिये कि इस नियमसार में निश्चय क्रियायें बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ध्यान में घटित होती हैं। उसके पूर्व सातवें से लेकर ग्यारहवें तक भी शुद्धोपयोग में प्रारंभ होने की अपेक्षा घटित होती है।

गाथा १३३ की टीका में कहा है कि शाश्वत सामायिकव्रत ध्यान में ही होता है—

"यस्तु ..... धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं ध्यायति हि तस्य खलु जिनेश्वरशासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवति।" जो धर्मध्यान शुक्लध्यान के द्वारा सदा शिव स्वरूप आत्मा को निरंतर ध्याते हैं। उनके ही जिनेश्वर के शासन में प्रसिद्ध नित्य शुद्ध त्रिगुप्ति से गुप्त परम समाधिलक्षण शाश्वत सामायिकव्रत होता है।

गाथा १२५ की टीका में त्रिगुप्ति का लक्षण किया है—

"प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसो व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः।"

शुभ अशुभ समस्त मन वचन काय के व्यापार का अभाव हो जाने से तीन गुप्तियों से गुप्त अवस्था होती है।

गाथा ९८ की टीका में निश्चयप्रतिक्रमण के स्वामी को बताया है—

"यः ..... त्रिगुप्तिगुप्त निर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणसंज्ञितं अन्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अतएव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति।"

जो मुनीश्वर त्रिगुप्ति से गुप्त परमसमाधिलक्षण से सहित, अति अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं। जिस हेतु से वे प्रतिक्रमणमय परमसंयमी हैं इसी हेतु से ये निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं। गाथा ९१ की टीका में भी परम तपोधन मुनि के ही निश्चयप्रतिक्रमण कहा है—

"यः परमपुरुषार्थपरायणः शुद्धरत्नत्रयात्मकं आत्मानं भावयति स एव परमतपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमण-स्वरूप इत्युक्तः।"

जो परम पुरुषार्थ में लगे हुये मुनि शुद्धरत्नत्रयस्वरूप आत्मा की भावना करते हैं, वे ही परमतपोधन निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं।

गाथा ८२ की टीका में परम संयमी को ही मुमुक्षु कहा है—

"जीवकर्म पुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यतएव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां वास्तवं चारित्रं भवति।"

जीव कर्म के भेदाभ्यास में जो "मुमुक्षु" हमेशा स्थित हैं इस हेतु से वे मध्यस्थ हैं, उन परमसंयमी मुनियों के ही वास्तविक चारित्र होता है।

इस तरह वीतरागमुनि के सातवें, आठवें, गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक जो ध्यानावस्था होती है उसी का नाम निर्विकल्प ध्यान, शुद्धात्मतत्त्व ध्यान और निश्चयचारित्र है। इन उद्धृत प्रकरणों से क्रम विदित हो जाता है। व्यवहारचारित्र के बाद निश्चयचारित्र का क्रम होने से इन दोनों में कारण कार्यभाव और साधनसाध्य भाव अच्छी तरह सिद्ध हो रहा है।

भक्ति में श्रावक भी अधिकारी हैं :

इस ग्रन्थ में परमभक्ति नाम के दसवें अधिकार में आचार्यदेव ने भक्ति करने के लिये "सावगो" "समणो" शब्द से दोनों को ही लिया है। यथा—

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदिति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

जो श्रावक या श्रमण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में भक्ति करता है उसके निर्वृति (निर्वाण) भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इस गाथा से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्ति के सिवाय त्रयोदशविध चारित्र निश्चय प्रतिक्रमण आदि चारित्र श्रावकों के लिये नहीं है मात्र मुनि के लिये ही है।

ध्यानरूप चारित्र आज के मुनि को है या नहीं :

अदि सक्कदि काडुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

हे मुने ! यदि तुम्हें शक्ति है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करो । और यदि शक्ति नहीं है तो श्रद्धान करना चाहिये । इसमें टीकाकार ने कहा है कि "यदि इस पंचमकाल में तुम्हें उत्तम संहनन नहीं है तो केवल निज-परमात्मतत्व का श्रद्धान ही करना चाहिये । पुनः कलशकाव्य में कहा है—"पापबहुल इस कलिकाल में मुक्ति नहीं है अतः अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है; इस कारण तुम्हें निज आत्मा का श्रद्धान ही करना चाहिये ।"

करणानुयोग पढ़ने की प्रेरणा :

गाथा १७ में आचार्यदेव ने नर नारक आदि के संक्षिप्त भेद बताकर यह कह दिया कि—

"एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं । इनका विस्तार लोकविभाग से जान लेना चाहिये । इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी को करणानुयोग ग्रंथ के पढ़ने की प्रेरणा दे रहे हैं ।

योगभक्ति या परमसमाधिरूपध्यान :

गाथा १४० में कहा है कि वृषभ से लेकर सभी तीर्थंकरों ने योगभक्ति-निर्विकल्प ध्यान करके ही निर्वाण सुख प्राप्त किया है अतः तुम लोग भी योगभक्ति करो । यहां परमसमाधिरूप ध्यान विवक्षित है ।

गाथा १५८ में कहा है कि "सभी प्राचीन पुरुष, आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर केवली भगवान् हुये हैं । इस कथन से आवश्यक क्रियाओं का महत्त्व प्रगट हो रहा है ।

महत्त्वपूर्ण या प्रिय गाथा :

इस ग्रन्थ में एक गाथा है जिसे आचार्यदेव ने अपने सर्व ग्रंथों में ली है, वह यह है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥

हे शिष्य ! तुम जीव को रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, व्यक्तरहित, शब्दरहित, अनुमान के द्वारा ग्रहण न करने योग्य, संस्थान भी जिसका न कहा जा सके ऐसा अनिर्दिष्ट संस्थान और चेतनागुण सहित समझो ।

यह समयसार में ४९वीं गाथा है । प्रवचनसार में द्वितीय अधिकार में ८०वीं है । नियमसार में ४६वीं है । पंचास्तिकाय में १२७वीं है और भावपाहुड में ८०वीं है । इससे मालूम पड़ता है ग्रन्थकार श्रीकुंदकुंददेव को

यह गाथा अत्यधिक प्रिय रही है। और इस कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ग्रन्थकार अपनी प्रिय गाथा, श्लोक आदि को अपने अन्य ग्रन्थों में लेते रहे हैं। यहां नियमसार में प्रत्याख्यान परमसमाधि, और आवश्यक अधिकार में ली गई गाथायें मूलाचार ग्रन्थ में भी ली गई हैं।

अध्यात्म से संयम रत्न मिलता है :

टीकाकार ने अपने १४७ वें कलश में कहा है—

"अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृतसमुद्र से मैंने संयमरत्नमाला निकाली है।" इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यात्म ग्रन्थों को पढ़ने से संयम ग्रहण करना अवश्य होता है न कि संयम से अरुचि। आजकल जो अध्यात्म ग्रन्थ पढ़ कर संयम और संयमी से अरुचि करते हैं वे अध्यात्म के रहस्य को न समझकर शास्त्र को शस्त्र बना लेते हैं और संयम तथा संयमी की निंदा करके दर्शन मोहनीय को बंध लेते हैं। वास्तव में अध्यात्म ग्रन्थ से आत्मा में अनंत शक्ति है।" ऐसा ज्ञान और श्रद्धान हो जाने से उसके फलरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये चारित्र ग्रहणरूप पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

मैंने स्वयं यह अनुभव किया है। बाल्यकाल में पद्मनंदिपंचविंशतिका के स्वाध्याय से "आत्मा में अनंत शक्ति है।" ऐसा निश्चय हो जाने से मैंने शक्ति के अनुसार चारित्र ग्रहण कर उस अनंतशक्ति को प्रगट करने के पुरुषार्थ में अपना कदम उठाया।

पद्मप्रभमलधारिदेव का भक्तिराग :

टीकाकार ने इस अध्यात्मग्रन्थ में तीर्थंकरों की भक्ति, सामान्य से जिनभक्ति, गुरुभक्ति और अपने स्वयं के इष्ट आचार्यों की भक्ति करते हुए अनेक कलशकाव्य लिखे हैं। उनमें से श्री पद्मप्रभु की भक्ति के तीन काव्य हैं, नेमिनाथ की भक्ति के तीन काव्य हैं और वीरप्रभु की भक्ति के दो काव्य हैं। जिनेंद्रदेव की भक्ति के तो अनेक काव्य हैं।

इन पद्मप्रभमलधारिदेव ने प्रारंभ में आचार्यों में श्री सिद्धसेन, श्री अकलंकदेव, श्री पूज्यपाद और श्री वीरनंदि को नमस्कार किया है। मध्य के कलशकाव्यों में श्रीचंद्रकीर्ति मुनि, श्री माधवसेन आचार्य, श्री वीरनंदि आचार्य को भी बड़े आदर से स्मरण किया है। इन तीनों में से कौन इनके दीक्षागुरु थे और कौन शिक्षा गुरु यह स्पष्ट नहीं हो पाया है।

आज भी सच्चे मुनि हैं :

इस कलिकाल में भी सच्चे मुनि हैं यह बात इन्होंने अपने दो कलशकाव्यों में कही है। उसका उदाहरण देखिये —

कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुहृती काले कलावप्यलं[1] ॥

ऐसे ही—एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः[2] ॥

टीकाकार ने एक काव्य में "आलोचना" मेरे लिये कामधेनु होवे ऐसी प्रार्थना की है—

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या निर्मुक्तिमार्गफलदा यमिनामजस्रं ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुकम्पा, स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥१७२॥

इन सुन्दर-सुन्दर चौबीस कलश-काव्यों को मैंने परिशिष्ट में दे दिया है ।

श्रीकुन्दकुन्द की गाथायें :

गाथा ७ की टीका में टीकाकार ने कहा है—

तथा चोक्तं श्री कुंदकुंदाचार्यदेवैः —

"तेओ-विट्ठो णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहा ॥"

यह गाथा प्रवचनसार की है । अमृतचंद्रसूरि ने इसकी टीका नहीं की है । जयसेनाचार्य ने इसकी टीका की है । इससे यह विदित होता है कि जयसेनाचार्य ने जो भी अधिक गाथायें कुंदकुंददेव की मानकर समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में लेकर उनकी टीकायें की हैं वे अन्य आचार्यों को भी कुंदकुंदकृत मान्य रही हैं ।

महासेन पंडितदेव कौन है :

गाथा १५९ की टीका में टीकाकार ने कहा है—

उक्तं च षण्णवतिपाषंडि विजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपंडितदेवैः —

"यथावद् वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित्प्रमितेः पृथक् ॥"

आगे गाथा १६२ की टीका में भी ऐसे ही है—

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपंडितैः —

"ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥"

ये ९६ बार पाखंडियों के साथ शास्त्रार्थ में विजयी होने वाले श्री महासेन पंडितदेव कौन हैं ? वैसे ये दोनों श्लोक "स्वरूप संबोधन" के हैं, जो कि श्री अकलंकदेव की रचना प्रसिद्ध है । अतः इस विषय में अन्वेषक विद्वानों को विचार करना चाहिये ।

---

१ कलशकाव्य २४१ २ कलशकाव्य २२७

इस विवाद निरसन ग्रन्थ में गाथा ३१-३२, ४१ तथा ५३ की टीका में कुछ विवाद हैं। उन-उन स्थलों में टीका का अर्थ करके मैंने विशेषार्थ में अन्य शास्त्रों के प्रमाण देकर विवाद का निरसन कर दिया है।

श्री कुंदकुंददेव की चर्या :

नियमसार कथित निश्चय प्रतिक्रमण आदि क्रियायें श्री कुंदकुंददेव के पूर्णरूप से थीं क्या ? उसी को दिखाते हैं—निश्चय प्रतिक्रमण में कहा है—

चत्ता असुहिमावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

जो साधु अशुभ भाव को छोड़कर तीनगुप्ति से गुप्त होते हैं वे प्रतिक्रमण करते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं। इसमें टीकाकार ने कहा है कि जो मुनीश्वर त्रिगुप्ति से गुप्त निर्विकल्प परम समाधिलक्षण से लक्षित अति अपूर्व आत्मा को ध्याते हैं वे ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं। श्रीकुंदकुंददेव कदाचित् सातवें गुणस्थान के स्वस्थान अप्रमत्त भाग में अंशात्मक यह ध्यानरूप प्रतिक्रमण करते होंगे फिर भी इनके भी व्यवहार गुप्तियां ही माननी चाहिये चूंकि निश्चय गुप्तियों में तो अवधिज्ञान संभव है।

निश्चय प्रत्याख्यान में कहा है—

मोत्तूण सयल जप्पमणागय सुह असुह वारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥ ९५ ॥

जो मुनि सकलजल्प को और अनागत सर्व शुभ-अशुभ को छोड़कर आत्मा का ध्यान करते हैं उनके प्रत्याख्यान होता है। इसमें भी टीकाकार ने संपूर्ण शुभ-अशुभ, द्रव्य-भाव कर्मों के संवर को प्रत्याख्यान कहा है जो कि बारहवें गुणस्थान में घटेगा। श्री कुंदकुंददेव ग्रन्थ रचना करते थे, उपदेश करते थे अतः शुभरूप बाह्यजल्प और अंतर्जल्प उनके था ही था।

निश्चय आलोचना में कहा है—

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहि वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

जो कर्म नोकर्म से रहित और विभाव गुण पर्यायों से रहित आत्मा का ध्यान करते हैं उन श्रमण के आलोचना होती है। यह भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग परिणतिरूप ध्यान में घटेगी। यह आलोचना श्री आचार्य देव को कदाचित् ही ध्यान में घटती होगी।

निश्चय प्रायश्चित्त में कहा है—

मूढ असुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥१२०॥

शुभ अशुभ दोनों प्रकार के वचन और रागादि भावों को छोड़कर जो आत्मा को ध्याते हैं। यहां भी शुभ वचन रचना को छोड़कर अर्थात् निर्विकल्प ध्यान करना कहा है। शुभवचनरचना श्री कुंदकुंददेव के होती ही थी अन्यथा शास्त्र रचना असंभव थी

परमसमाधि में कहा है—

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

जो सर्वसावद्य आरंभ परिग्रह से रहित है, तीन गुप्तियों से सहित है, पूर्ण जितेन्द्रिय है, उन्हीं के स्थायी सामायिक होती है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। यहां भी तीनगुप्ति से निर्विकल्प ध्यान के ध्याता मुनि लिये गये हैं। श्री कुंदकुंददेव के यह स्थायी सामायिक गुप्तिरूप से कदाचित ही ध्यान में होती होगी।

परमभक्ति में कहा है --

सव्ववियप्पाभावे, अप्पाणं जो दुजुंजदे साहू।
सो जोगभत्ति जुत्तो, इदरस्स य किध हवे जोगो ॥१३८॥

जो साधु सर्वविकल्पों के अभाव में—निर्विकल्प ध्यान में अपनी आत्मा को लगाते हैं वे योगभक्ति से युक्त हैं। इससे अतिरिक्त इतर साधु के योग कैसे होगा; यहां पर सर्वविकल्पों का अभाव होना वीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है। यह ध्यान श्रेणी आरोहण में—शुक्ल ध्यान में ही घटित होता है अतः श्री कुंदकुंददेव के भी यह योगभक्ति न होकर मात्र भावना ही माननी चाहिये।

आवश्यक में कहा है—

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥ १४४ ॥

जो संयत शुभभाव में वर्तन करते हैं वे अन्यवश हैं। इसलिये उनकी क्रियायें आवश्यक लक्षण नहीं हैं। यहां पर देववंदना गुरुवंदना आदि शुभक्रियाओं से प्रवृत्ति छुड़ाई है। जब कि श्री कुंदकुंददेव स्वयं सर्व शुभ क्रियायें करते ही थे। छठे गुणस्थान में प्रवृत्ति करते हुये इन्हें कैसे छोड़ सकते थे।

आगे कहते हैं—

दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहांधयारवयगयसमणा, कहियंति एरिसयं ॥ १४५ ॥

जो द्रव्य, गुण और पर्यायों में चित्त लगाते हैं वे अन्यवश हैं। मोहांधकार से रहित श्रमणों ने ऐसा कहा है। यहां पर भी द्रव्य गुणपर्यायों के चिंतन को छुड़ाकर मात्र निर्विकल्प ध्यान की प्रेरणा दी है। श्री कुंदकुंददेव स्वयं इस लक्षण से कथंचित् अन्यवश माने जा सकते हैं।

आगे और जो लक्षण किया है कि—

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

जो अंतर और बाह्य जल्प में रहते हैं वे बहिरात्मा हैं और जो जल्प में वर्तन नहीं करते हैं वे अंतरात्मा हैं।

यहां टीकाकार ने कहा है कि जो अपने आत्मध्यान में तत्पर हुये सर्वप्रकार से अंतर्मुख होकर शुभ अशुभ समस्त विकल्प जाल में कभी भी नहीं वर्तते हैं वे ही "परमतपोधन" साक्षात् अंतरात्मा हैं। यह लक्षण बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में घटेगा।

श्री कुंदकुंददेव भी साक्षात् बारहवें गुणस्थानवाले अंतरात्मा न होकर छठे सातवें गुणस्थानवाले मध्यम अंतरात्मा थे। उनके प्रशस्तरूप अंतर्बाह्य जल्प दूर नहीं हुये थे।

आगे और कहते हैं—

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

जो धर्मशुक्लध्यान में परिणत हैं, वे अंतरात्मा है, ध्यान से रहित श्रमण बहिरात्मा हैं। इसकी टीका में कहते हैं—"इह हि साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीणकषायः तस्य खलु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडश कषायाणामभावात्.....।" यहां पर साक्षात् अंतरात्मा क्षीणकषायवर्ती भगवान् हैं, उन भगवान् बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि के अनंतानुबंधी आदि सोलह कषायों का अभाव हो चुका है।

यह लक्षण भी श्री कुंदकुंददेव व टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव में घटित नहीं हो सकता है।

पुनः स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं—

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च।
आलोयणवयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ॥१५३॥

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियमप्रायश्चित्त और वचनमय आलोचना इन सबको तुम स्वाध्याय समझो। कुंदकुंददेव स्वयं वचनमयी क्रियायें करते थे।

पुनः कहते हैं—

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादि करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जो जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

यदि शक्ति है तो ध्यानमय—निश्चय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये और यदि शक्ति नहीं है तो श्रद्धान ही करना चाहिये । टीकाकार ने इसमें शक्ति से उत्तम संहनन लिया है और शक्तिविहीन से—इस पंचमकाल में हीन संहनन होने से कहा है । अतः यह उत्तमसंहननरूप शक्ति श्री कुंदकुंददेव में भी नहीं थी वे स्वयं अपने श्रद्धान को ही दृढ़ रखते हुये आजकल के पंचमकाल के मुनियों को श्रद्धान की प्रेरणा दे रहे हैं ऐसा समझना चाहिये ।

श्री कुंदकुंददेव विशाल संघ के आचार्य थे । इन्होंने गिरनार पर्वत पर श्वेतपटों से विवाद होने पर पाषाण की मूर्ति को बुलवा दिया था यह बात अनेकप्रमाण से सिद्ध है । गुर्वावली में कहा है—

पद्मनंदि गुरुर्जातो बलात्कार गणाग्रणीः, पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती ।
ऊर्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्, अतस्तस्मै मुनींद्राय नमः श्रीपद्मनंदिने ॥

बलात्कारगण के अग्रणी श्रीपद्मनंदि आचार्य हुये जिन्होंने ऊर्जयंतगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था । उसी से सारस्वतगच्छ प्रसिद्ध हुआ है, उन पद्मनंदी मुनिनाथ को नमस्कार हो । इन कुंदकुंददेवके १—कुंदकुंद, २—वक्रग्रीव, ३—एलाचार्य, ४—गृद्धपिच्छ और ५—पद्मनंदी ये पांच नाम थे । पांडवपुराण में कहा है कुंदकुंदगणी येनोर्जयंतगिरिमस्तके । सोऽवलात् वादिता वाणी पाषाणघटिता कलौ ।

कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुंदकुंद गुरु वंदनहेत गये गिरनार ।
वादपर्‌यो तहं संशयमति को, साक्षी वदो अंबिकाकार ॥
"सत्यपंथ निर्ग्रंथ दिगंबर" कही सुरी तहं प्रगट पुकार ।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार ॥

इन्होंने अपना आचार्यपट्ट उमास्वामी को दिया है । गुर्वावली में यह स्पष्ट है—आदि यथा—१—श्रीगुप्ति-गुप्त, २—भद्रबाहु, ३—माघनंदी, ४—जिनचंद्र, ५—कुंदकुंद ६—उमास्वामी यही बात नंदिसंघ की पट्टावली में भी है—यथा—४—जिनचन्द्र, ५—कुंदकुंदाचार्य, ६—उमास्वामी ।[1]" आदि

१—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरंपरा, भाग ४, पृ० २६३, पृ० ४४ ।

हिंदी अनुवाद का निमित्त :

सन् १९७१ में रवीन्द्रकुमार ने मेरी अत्यधिक प्रेरणा से गोम्मटसार कर्मकांड और अष्टसहस्री सार्थ ग्रन्थ पढ़कर सोलापुर परीक्षालय से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करली। अनंतर मेरे से कई बार आग्रह किया कि माताजी! आज कल समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थ को पढ़कर कुछ लोग एकांत से निश्चयाभासी बन रहे हैं। इसलिये आप विद्यार्थियों को इन ग्रन्थों का स्वाध्याय कराकर नय विवक्षा अच्छी तरह समझा दीजिये। मैंने भी समयानुसार इसे उचित समझकर इन सभी को पहले समयसार का स्वाध्याय कराया। साथ ही आलापपद्धति भी पढ़ाई। इसके बाद क्रम से प्रवचनसार पंचास्तिकाय का भी स्वाध्याय चलाया। इन ग्रन्थों के कई बार स्वाध्याय के बाद सन् १९७५ में हस्तिनापुर में नियमसार का स्वाध्याय शुरू किया। उस समय दो तरह की प्रतियां स्वाध्याय में रखी गईं। एक प्रति में तीसरी गाथा को पढ़ते समय अर्थ असंगत प्रतीत हुआ। वह गाथा यह है—

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥ ३॥

इसका सरल अर्थ यह है कि—नियम से जो करने योग्य है वह नियम है वह ज्ञान दर्शन चारित्र है, विपरीत का परिहार करने के लिये इसमें "सार" शब्द लगाया है। अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष मार्ग 'नियम' है इसमें विपरीत को दूर करने के लिये "सार" शब्द लगाकर "नियमसार" बना है। इसका अर्थ है सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र।

किंतु एक प्रति में टीका का अर्थ और टिप्पण कुछ अलग ही छपा है। वह यह है। श्लोकार्थ में विपरीत रहित का (विकल्प रहित) अर्थ किया है। और विपरीत शब्द के टिप्पण में कहा है कि "विपरीत-विरुद्ध। व्यवहाररत्नत्रयरूप विकल्पों को—पराश्रित भावों को—छोड़कर मात्र निर्विकल्प ज्ञानदर्शनचारित्र का ही—शुद्धरत्नत्रय का ही स्वीकार करने हेतु "नियम" के साथ "सार" शब्द जोड़ा है।"

यह अर्थ देखकर मैंने विचार किया कि जब स्वयं श्री कुंदकुंददेव ने इसी नियमसार ग्रन्थ में चौथे अध्याय तक व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन किया है पुनः उसी व्यवहाररत्नत्रय के परिहार के लिये "सार" शब्द जोड़ा है यह कैसे बनेगा; यह तो पूर्वापर विरुद्ध दोष हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि स्वयं श्रीकुंदकुंददेव व्यवहाररत्नत्रय को ग्रहण कर उसी के अनुसार प्रवृत्ति करते थे। वे भी अपने आहार विहार, ग्रन्थ रचना और तीर्थ यात्रा आदि कार्यों में मूलाचार के अनुसार ही चर्या करते थे। क्योंकि निश्चयरत्नत्रय व निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आवश्यक आदि क्रियायें तो ध्यानरूप ही मानी गई हैं। जो कि कथंचित् उनके ध्यानरूप सप्तमगुणस्थान में संभव थीं। ग्रन्थरचना करना, उपदेश देना आदि कार्य भी तो व्यवहाररत्नत्रय के अंतर्गत हैं न कि निश्चयरत्नत्रय के अंतर्गत।

अतः उपर्युक्त अर्थ के अनर्थ को देखकर मेरी भावना यह हुई कि इस ग्रन्थ का आर्षपरंपरा के अनुकूल अनुवाद होना अति आवश्यक है। तब मैंने वीर नि० संवत् २५०२ में मगसिर शुक्ला द्वितीया के दिन इस ग्रन्थ का अनुवाद कार्य प्रारंभ करके चैत्र कृष्णा नवमी "श्रीकृष्णजयंती" के पवित्र दिन इस अनुवाद कार्य को पूर्ण किया है।

मैंने यह अनुभव किया है कि ग्रन्थों के अनुवाद के समय अत्यधिक एकाग्रता हो जाती है। मन उसी अर्थ के चिंतन में तन्मय हो जाता है। परिणामों में निर्मलता आती है। अतिचार आदि दोषों का शोधन होता है, वैराग्य और बढ़ते हैं तथा निजात्म भावना दृढ़ होती है।

इस अनुवाद में कहीं कहीं भावार्थ और विशेषार्थ देकर अर्थ स्पष्ट करने में मैंने धवला आदि सत्ताईस ग्रन्थों से सहायता ली है और यथास्थान उन ग्रन्थों के टिप्पण भी दे दिये हैं यह अनुवाद अध्यात्म ग्रन्थ का सही अर्थ कराने में सक्षम होगा और आर्षपरंपरा के अनुयायियों को प्रिय होगा यह मेरा पूर्ण विश्वास है।

हस्तिनापुर
पौष वदी २ वीर नि० सं० २५११
दि० १०-१२-१९८४

— आर्यिका ज्ञानमती

अनुवाद में सहायक ग्रन्थ

१ धवला, पुस्तक १
२ परमात्मप्रकाश
३ सर्वार्थसिद्धि
४ आत्मानुशासन
५ गोम्मटसार जीवकांड
६ गोम्मटसार कर्मकांड
७ तत्त्वार्थ राजवार्तिक पूर्वार्ध
८ तत्त्वार्थ राजवार्तिक उत्तरार्ध
९ समयसार
१० प्रवचनसार
११ आलापपद्धति
१२ परमाध्यात्मतरंगिणी
१३ तत्त्वानुशासन
१४ बृहद्द्रव्यसंग्रह
१५ आप्तपरीक्षा
१६ यशस्तिलकचंपू
१७ सिद्धांतसारादि (अमृताशीति)
१८ मूलाचार
१९ अनगारधर्मामृत
२० आदिपुराण
२१ पद्मचरित
२२ अष्टपाहुड
२३ भगवती आराधना
२४ लघीयस्त्रय
२५ तत्त्वार्थसूत्र
२६ स्वयंभूस्तोत्र
२७ रयणसार

प्रस्तावना

आचार्य श्री कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव :

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्ति लेखों एवं पूर्वाचार्यों के संस्मरणों में कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया मिलता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस मंगल पद्य के द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को मंगल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नांकित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें बतलाया गया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द सा आचार्य न हुआ है, न है, और न होगा—

जास के मुखारविन्दतें प्रकाश भासवृन्द
स्याद्वाद जैन वैन इंद कुन्दकुन्द से
तास के अभ्यासतें विकास भेद ज्ञान होत
मूढ़ सो सखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द चंद जाहि
मोह मार खंड मारतंड कुन्दकुन्द से
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं न होंहिगे मुनिंद कुन्दकुन्द से॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोषका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका, विशेषतया आत्मतत्त्वका विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थों में उन्होंने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थों में अध्यात्म धारा रूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाहमें अवगाहन कर भवभ्रमण श्रान्त पुरुष शाश्वतशान्ति को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेह गमन :

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंधर स्वामी की दिव्य ध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमन का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य देवसेन (वि० सं० दशवीं शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसार से प्रकट है।

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन के बाद ईसाकी बारहवीं शताब्दी के विद्वान जयसेनाचार्य ने भी पंचास्तिकाय की टीका के प्रारंभ में निम्नलिखित अवतरण पुष्पिका में कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन की चर्चा की है—

"अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ श्रीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणी श्रवणावधारितपदार्थशुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं" गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धि-पूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।"

जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनिके श्रवण से अवधारित पदार्थोंसे शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे, ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्त्वको मुख्य रूप से और बहिस्तत्त्वको गौणरूप से प्रति-पत्ति कराने के लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिये पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया।

षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन का उल्लेख किया है—

"श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुला-काशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधित-भारतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे—

पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य, इन पांचनामों से जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश गमन की ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्व विदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरत क्षेत्र के भव्य जीवों को संबोधित किया था जो जिनचन्द्र सूरिभट्टारकके पट्टके आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में।"

उपर्युक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञ देव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गई है। किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों में उनके स्वमुख से कहीं विदेह गमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृत के प्रारम्भ में सिद्धों की वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गई पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥

इसमें कहा गया है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा भणित समयप्राभृत को कहूंगा। यद्यपि "सुयकेवलिभणियं" इस पद की टीका में श्री अमृतचन्द स्वामी ने कहा है—"अनादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन, निखिलार्थसाक्षात्कारि-केवलिप्रणीतत्वेन, श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरनिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्य।"

अर्थात् अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्म द्वारा प्रकाशित होने से, तथा सब पदार्थों के समूह का साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने से और स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे जाने से जो प्रमाणता को प्राप्त है।

तो भी इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि मैंने केवली की वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अतः केवली इसके कर्ता हैं। यहां तो मूलकर्ता की अपेक्षा केवली का उल्लेख जान पड़ता है। जयसेनाचार्य ने भी केवली का साक्षात् कर्ता के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने "सुयकेवली भणियं" की टीका इसप्रकार की है—

'श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरकथितमिति।'

अर्थात् श्रुत—परमागम में केवली—सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहा गया। अथवा श्रुतकेवली—गणधर के द्वारा कहा गया।

फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सर्वथा निराधार नहीं हो सकते। देवसेन ने, आचार्य परम्परा से जो चर्चाएं चली आ रहीं थी उन्हें दर्शनसार में निबद्ध किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा दर्शनसार की रचना के पहले भी प्रचलित रही होगी।

कुन्दकुन्दाचार्य के नाम :

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनंदी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुंदकुंदाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य इन पांचनामो का निर्देश किया है। नन्दिसंघ से संबद्ध विजयनगर के शिलालेख में भी जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पांचनाम बतलाये गये हैं। नंदिसघकी पट्टावली में भी उपर्युक्त पांच नाम निर्दिष्ट हैं। परंतु अन्य शिलालेखों में पद्मनंदी और कुंदकुंद अथवा कोण्डकुंद इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान :

इन्द्रनंदी आचार्य ने पद्मनंदी को कुण्डकुंदपुर का बतलाया है। इसीलिये श्रवणबेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका कोण्डकुंद नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाई ने "जैनिज्म इन साउथ इण्डिया" में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनंतपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख में उसका प्राचीन नाम "कोण्डकुंदे" मिलता है। यहां के निवासी इसे आज भी "कोण्डकुंदि" कहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि कुंदकुंदाचार्य का जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु :

संसार से निःस्पृह वीतराग साधुओं के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों के माता पिता विषयक इतिहास की उपलब्धि प्रायः नहीं है। हां इनके गुरुओं के नाम किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने कुंदकुंदस्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नंदिसघ की पट्टावली में उन्हें जिनचंद्र का शिष्य बतलाया गया है। परंतु कुंदकुंदाचार्य ने बोधपाहुड के अंत में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएं इसप्रकार हैं।

सद्दवियारो हुओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२॥

प्रथम गाथा में कहा गया है कि जिनेंद्र भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने उसे

उसी रूप में जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा में कहा गया है कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमक गुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हों।

ये दोनों गाथाएं परस्पर में संबद्ध हैं। पहली गाथा में अपने आपको जिन भद्रबाहु का शिष्य कहा है दूसरी गाथा में उन्हीं का जयघोष किया है। यहां भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते हैं क्योंकि द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्वों का विपुल विस्तार उन्हीं से संभव था। इसका समर्थन समय प्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य "वंदित्तु सव्वसिद्धे"—से भी होता है। जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहूँगा। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु यहां पधारे और वहीं एक गुफा में उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्द को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं और उस समय जबकि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञानकार आचार्यों की परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुंदकुंदान्वय की इतनी प्रतिष्ठा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थिति में कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नहीं। श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्व उन्हें गुरु परम्परा से प्राप्त रहा होगा, उसी के आधार पर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य घोषित किया है। बोधपाहुड के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि ने भी "भद्रबाहुसीसेण" का अर्थ विशाखाचार्य कर कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही स्वीकृत किया है। श्रुतसागरसूरि की पंक्तियां निम्नप्रकार हैं—

भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्।

इन पंक्तियों द्वारा कहा गया है कि यहां भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के अर्हद्बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्वके धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरि ने ६२वीं गाथा की टीका में कहा है—

"पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहु."

अर्थात् भद्रबाहु पांच श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट तत्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना। उसी की परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरु का अर्थ श्रुतसागर सूरि ने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्य के लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्द स्वामी का समय :

कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण पर "प्रवचनसार" की प्रस्तावना में डा० ए० एन० उपाध्ये ने, "समन्तभद्र" की प्रस्तावना में स्व० श्री जुगलकिशोरजी मुख्त्यार ने, "पंचास्तिकाय" की प्रस्तावना में डा० ए० चक्रवर्ती ने तथा "कुंदकुंद प्राभृत संग्रह" की प्रस्तावना में श्री पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है। लेख विस्तार के भय से मैं उन सब चर्चाओं के अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकों को तत् तत् ग्रन्थों से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुंदकुंद स्वामी के समय निर्धारण के विषय में प्रचलित मात्र दो मान्यताओं का उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। वि० सं० ४९ में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डा० ए० चक्रवर्ती ने पंचास्तिकाय की प्रस्तावना में अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है। और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान हैं। जिसका समर्थन स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्त्यार आदि विद्वान् करते आये हैं।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता :

दिगम्बर जैन ग्रन्थों में कुंदकुंदाचार्य द्वारा रचित ग्रंथ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इसप्रकार की है कि पाठक उससे वस्तु स्वरूप का अनुगम बड़ी सरलता से कर लेता है। व्यर्थ के विस्तार से रहित, नपे-तुले शब्दों में किसी बात को कहना इन ग्रन्थों की विशेषता है। कुंदकुंद की वाणी सीधी हृदय पर असर करती है। निम्नांकित ग्रंथ कुंदकुंद स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरि मान है। (१) पंचास्तिकाय (२) समयसार (३) प्रवचनसार (४) नियमसार (५) अष्ट-पाहुड। दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिंगपाहुड। (६) बारसअणुवेक्खा और भक्तिसंगहो।

इनके अतिरिक्त "रयणसार" नाम का ग्रंथ भी कुंदकुंद स्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है परन्तु उसके अनेक पाठ भेद देखकर विद्वानों का मत है कि यह कुंदकुंद के द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अंदर अन्य लोगों की गाथाएं भी सम्मिलित हो गई हैं। भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से हमने १८२५ संवत् की लिखित हस्त-लिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रयणसार की गाथाओं का मिलान किया तो बहुत अंतर मालूम हुआ। मुद्रित प्रति में बहुत सी गाथाएं छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएं मुद्रित हैं। उस प्रतिपर रचयिता का नाम नहीं है। ग्रंथ सूची में भी यह प्रति अज्ञात लेखक के नाम से दर्ज है। चर्चा आने पर पं० परमानंदजी शास्त्री ने बतलाया कि

हमने ७०-८० प्रतियां देखी हैं तबका यही हाल है मुद्रित प्रति में अप्रभ्रंशका एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्राय की गाथाएं हैं जिनका कुंदकुंदकी विचारधारा से मेल नहीं खाता। इंद्रनंदि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के आद्य भाग पर कुंदकुंद स्वामी के द्वारा रचित परिकर्म ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा। परंतु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। भारत भण्डारों, खासकर दक्षिण के शास्त्र भण्डारों में इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुंदकुंद स्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अंतिम पुष्पिकामें "इति मूलाचार विवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुंदकुंदाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्य विवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रमणस्य" यह उल्लेख पाया जाता है। विशेष परिज्ञान के लिये पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना में स्व० प० जुगलकिशोरजी मुख्त्यार का संदर्भ पठितव्य है।

कुन्दकुन्द साहित्य में साहित्य सुषमा :

कुंदकुंदाचार्य ने अधिकांश गाथा छंद का, जो कि आर्या नाम से प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप और उपजाति का भी प्रयोग किया है। एक ही छंद को पढ़ते-पढ़ते बीच में यदि विभिन्न छंद आ जाता है तो उससे पाठक को एक विशेष प्रकार का खेद होता है। कुंदकुंद स्वामी के कुछ अनुष्टुप छंदों का नमूना देखिये।

ममत्तिं परिवज्जामि निम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥९५॥—भाव प्राभृत

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥—भाव प्राभृत

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥—मोक्ष प्राभृत

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्ती पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२६॥—नियमसार

चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३९२॥

एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥–समय प्राभृत

एक उपजाति का नमूना देखिये––

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण
लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो
जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥–प्रवचनसार

अलंकारों की पुट भी कुंदकुंदस्वामी ने यथा स्थान दी है। जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा का एक उदाहरण देखिये —

ण मुयइ पयडिं अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३६॥–भाव प्राभृत

थोड़े से हेर–फेर के साथ यह गाथा समय प्राभृत में आई है। उपमालंकार की छटा देखिये —

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ॥१४२॥

जह फणिराओ रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीवो ॥१४३॥

जह तारायण सहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तह वय विमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४४॥

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसए हि सुपुरिसो ॥१५२॥–भाव प्राभृत

रूपकालंकार की बहार देखिये —

जिणवर–चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण ।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥

ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभडणिज्जिया जेहिं ॥१५४॥

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।

विसयविस फुल्लफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहि ॥१५६॥–भाव प्राभृत

कहीं पर वृटक पद्धति का भी अनुसरण किया है । यथा,

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएणपरिपरिओ ।

दो दोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥-मोक्ष प्राभृत

अर्थात् तीन के द्वारा (तीन गुप्तियों के द्वारा) तीन को (मन वचन काय को) धारण कर, निरंतर तीन से (शल्यत्रय से) रहित, तीन से (रत्नत्रय से) सहित और दो दोषों (राग द्वेष) से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है ।

कुन्दकुन्दका शिलालेखों तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में उल्लेख :

कुन्दकुन्द स्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे अतः इनका उल्लेख अनेक शिलालेखों में मिलता है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों ने बड़ी श्रद्धा के साथ इनका संस्मरण किया है । जैन सन्देश के शोधाङ्कों के आधार पर कुछ उल्लेखों का यहां संकलन किया जाता है—

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।

श्री कोण्डकुन्दनामाभून्मूलसङ्घाग्रणीर्मुनी ॥–श्र० बे० शि० ५५, ६०/४१२

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः

कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः ।

यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीक-

श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥श्र० बे० शि० ५४/६७

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।

श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥–श्र० बे० शि० ४०/६०

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥

–श्र० बे० शि० ८२, ४३, ४७, ५०

"इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीप्यतपस्या—

शास्त्राधारेषु पुण्यैरजनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।

रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥श्र० बे० शि० १०५

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला ।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदित चण्डदण्डः ॥श्र० बे० शि० १०८

श्रीमूलसङ्घेऽजनि कुन्दकुन्दः सूरिर्महात्माखिलतत्त्ववेदी ।
सीमन्धरस्वामिपदप्रबन्दी पञ्चाह्वयो जैनमतप्रदीपः ॥धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण

कविस्वतल्लिनो ग्रामनिबोधनसुधाधृणिम् ।
वन्द्यं वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम् ॥मु० विद्यानन्दि–सुदर्शन च०

श्री मूलसङ्घेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणो तिरम्यः ।
तत्रापि भारत्यतनोतिनाम्ने स्वकृत्यतो भूदिह पद्मनन्दी ॥

आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥सा० इ० इन्स०, नं० १५२

कुंदकुंदमुनिं वन्दे चतुरंगुलचारणम् ।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥सोमसेन पुराण

सृष्टेः समयसारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः ।
श्रीमच्छ्रीकुंदकुंदाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम् ॥अजित ब्रह्म–हनुमच्चरित्र

सङ्घनन्दिसंघगुरुवर्त्मदिवाकरो भूच्छ्रीकुंदकुंद इतिनाम मुनीश्वरो सौ ।
जीयात् स वं विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम् ॥

—मेधावी धर्मसंग्रह श्रावकाचार

आसाद्य सदां सहायमसमं गत्वा विदेह जवा —
दवर्धीत् किल केवलेक्षणमिदं श्रीलक्ष्मण्यक्षतः ।
स्वामी साम्यपदाधिरूढधिषणः श्री नन्दिसंघश्रियो
मान्यः सो स्तु शिवाय शान्तमनसां श्री कुंदकुंदाभिधः ॥

—अमरकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका

श्रीमूलसङ्घे ऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणे तिरम्ये ।
तत्राभवत्पूर्वपदांगवेदी श्रीमाघनन्दी भरदेवबन्धः ॥

पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूवतन्द्रः ।
ततो भवत्पन्धसुनामधामा श्रीपद्मनंदी मुनिचक्रवर्ती ॥–नन्दिसंघपट्टावली

कुन्दकुन्दाचार्य की नय व्यवस्था :

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय-विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है। यहां द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय-विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियों का अन्तर बतलाते हुए कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह की प्रस्तावना में पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी ने निम्नांकित पंक्तियां बहुत ही महत्वपूर्ण लिखी हैं—

"शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारण के व्यापार का। और परसंयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का सम व्यापार है। जैसे मिट्टी के बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार-चक्र आदि के बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष में अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना ही यथार्थ है और संसार जितना यथार्थ है उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसार दशा न केवल जीव की अशुद्ध दशा का परिणाम है और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनों का मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्य की तरह पुरुष में आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुष के संयोगजन्य बन्ध का परिणाम है अतः शास्त्रीय दृष्टि से जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं। अतः सभी का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूंकि उसकी दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अतः आत्मप्रतीति में निमित्तभूत देव शास्त्र और गुरु वगैरह का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुणस्थान भी हैं, मार्गणास्थान भी हैं—सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किसी के हित अहित को दृष्टि में रखकर नहीं करती।

आध्यात्मिक दृष्टि का विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है—

"शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत के स्वरूप का विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणा में एक मात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएं व्यवहार सत्य हैं। इसी से शास्त्रीय क्षेत्र में जैसे वस्तुतत्व का विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मतत्व का विवेचन किया जाता है और निश्चय दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्था को दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्व को प्राप्त करना चाहता है अतः उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने में समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है अतः मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अतः वह अभूतार्थ कही जाती है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत के प्रारम्भ में "ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणओ" लिखकर व्यवहार को अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चय को भूतार्थ कहा है।"

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है अतः इनमें निश्चयनय और व्यवहार नय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तु के एक अभिन्न और स्वाश्रित–परनिरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला निश्चयनय है और अनेक भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित–परसापेक्ष परिणमन को जानने वाला नय व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्धनिश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरित के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदों के चक्र में न पड़कर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक आत्मा के स्वभाव को उन्होंने निश्चयनय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहारनय का विषय कहा है। निश्चयनय आत्मा में काम क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करता। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः उन्हें पुद्गल के मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विकल्प जीव के स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय नय उन्हें स्वीकृत नहीं करता इन सबको आत्मा के कहना व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है, विभाव को नहीं। जो स्व में स्वके निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है जैसे जीव के ज्ञानादि, और जो स्वमें पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं। जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव, चूंकि आत्मा में ही पर के

लिप्त से होते हैं इसलिए उन्हें कथंचित् आत्मा के कहने के लिये जयसेन आदि आचार्यों ने निश्चयनय में शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प स्वीकृत किया है परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नहीं करते, वे उसे व्यवहार का ही विषय मानते हैं। अमृतचंद्र सूरि ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु तत्त्व का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये दोनों नयों का आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धा में वह अशुद्ध नयके आलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनय का आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुंदकुंदस्वामी ने उभयनयों के आलम्बन से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है इसलिये वह निर्विवाद रूप से सर्वग्राह्य है।

आगे नियमसार में प्रतिपादित वस्तु तत्व का दिग्दर्शन कराया जाता है।

नियमसार

नियमसार में १८७ गाथाएँ और १२ अधिकार हैं अधिकारों के नाम इस प्रकार है :—

(१) जीवाधिकार	(२) अजीवाधिकार
(३) शुद्ध भावाधिकार	(४) व्यवहार चारित्राधिकार
(५) परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार	(६) निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार
(७) परमालोचनाधिकार	(८) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार
(९) परमसमाध्यधिकार	(१०) परम भक्त्यधिकार
(११) निश्चय परमावश्यकाधिकार और	(१२) शुद्धोपयोगाधिकार।

(१) जीवाधिकार :

नियम का अर्थ लिखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं : –

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विपरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

जो नियम से करने योग्य हों उन्हें नियम कहते हैं। नियम से करने योग्य ज्ञान दर्शन और चारित्र हैं। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिये नियम शब्द के साथ सारपद का प्रयोग किया है। इस तरह नियमसार का अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी कहा है—

"नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्।"

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में आता है तथा नियमसार इस शब्द से शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

जिन शासन में मार्ग और मार्ग का फल इन दो पदार्थों का कथन है। उनमें मार्ग–मोक्ष का उपाय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाता है और निर्वाण, मार्ग का फल कहलाता है। इन्हीं तीन का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का लक्षण लिखते हुये कहा है—

आप्त, आगम और तत्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो सकल गुण स्वरूप हैं वह आप्त है। क्षुधा तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि गुण कहे जाते हैं। आप्त भगवान् क्षुधा तृषा आदि समस्त दोषों से रहित हैं तथा केवलज्ञानादि परमविभव—अनन्त गुण रूप ऐश्वर्य से सहित है। यह आप्त ही परमात्मा कहलाता है। इससे विपरीत आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

आगम और तत्व का वर्णन करते हुए लिखा है --

उन आप्त भगवान के मुख से उद्गत —दिव्यध्वनि से प्रकटित तथा पूर्वापर विरोध रूप दोष से रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है और आगम के द्वारा कथित जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश हैं वे तत्वार्थ हैं। वे तत्वार्थ नानाः गुण और पर्यायों से सहित हैं। इन तत्वार्थों में स्वपरावभासी होने से जीव तत्व प्रधान है। उपयोग, मुख्य का लक्षण है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अपेक्षा दो भेद हैं। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान स्वभाव ज्ञानोपयोग है और विभाव ज्ञानोपयोग, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो प्रकार का है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोग के मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय के भेद से चार भेद हैं और विभाव मिथ्याज्ञानोपयोग के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि की अपेक्षा तीन भेद हैं। इसी तरह दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें केवल दर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन विभाव दर्शनोपयोग हैं।

पर्याय के पर की अपेक्षा से सहित और पर की अपेक्षा से रहित, इस तरह दो भेद हैं। अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की होती है। पर के आश्रय से होने वाली षट्गुणी हानि वृद्धिरूप जो संसारी जीव की परिणति है वह विभाव अर्थ पर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठी की जो षड्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणति है वह जीव की स्वभाव अर्थ पर्याय है। प्रदेशवत्व गुण के विकार रूप जो जीव की परिणति है अर्थात् जिसमें किसी आकार की अपेक्षा रक्खी जाती है उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते हैं। अन्तिम शरीर से किञ्चिदून जो सिद्ध परमेष्ठी का आकार है वह जीव की स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है और कर्मोपाधि से रचित जो नरनारकादि पर्याय हैं वह विभाव व्यञ्जन पर्याय है।

व्यवहार नय से आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे कर्म जनित रागादि भावों का कर्ता है। संस्कृत टीकाकार ने नय विवक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्य कर्मों का कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दुःख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेष रूप भाव कर्मों का कर्ता है तथा उन्हीं का भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा शरीर रूप नो कर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से घटपटादिका कर्ता और भोक्ता है। जहां निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से नयके दो भेद ही विवक्षित हैं वहां आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणों का कर्ता भोक्ता होता है और व्यवहार नय से रागादि भाव कर्मों का।

श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने कहा है—

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्यायः एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः न खलु एक नयायत्तोपदेशो ग्राह्यः किन्तु तदुभयायत्तोपदेशः।

भगवान् अर्हन्त परमेश्वर ने दो नय कहे हैं—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। एक नय के अधीन उपदेश ग्राह्य नहीं है किन्तु दोनों नयों के अधीन उपदेश ग्राह्य है।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि नय वस्तु स्वरूप को समझने के साधन हैं, वक्ता पात्र की योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभयनयों को अपनाता है। यह ठीक है कि उपदेश के समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्य में जब शंकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा कथन होता है। तब जीव द्रव्य रागादिक विभाव परिणति तथा नरनारकादिक व्यञ्जन पर्यायों से रहित है यह बात आती है और तब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब जीव इन सबसे सहित है यह बात आती है।

(२) अजीवाधिकार :

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें स्कन्ध के अतिस्थूल स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से ६ भेद हैं। पृथिवी, तेल आदि, छाया, आतप आदि, चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के विषय, कार्मण वर्गणा और द्वयणुकस्कन्ध ये अतिस्थूल आदि स्कन्धों के उदाहरण हैं। अणु के कारण अणु और कार्यअणु के भेद से दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं की उत्पत्ति का जो कारण है उसे कारण परमाणु और

स्कन्ध से बिछुड़कर एक प्रदेशात्मक अवस्था को प्राप्त अणु को कार्य परमाणु कहते हैं। परमाणु का लक्षण इस प्रकार कहा है—

वही जिसका आदि है, वही मध्य है, वही अन्त है, जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिये।

इस परमाणु में एक रस, एक रूप, एक गन्ध और शीत उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते हैं। दो या उससे अधिक परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते है। अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं।

जीव और पुद्गल के गमन का जो निमित्त है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। जीव और पुद्गल की स्थिति का जो निमित्त है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं जीवादि समस्त द्रव्यों के अवगाह का जो निमित्त है उसे आकाश कहते हैं। समस्त द्रव्यों की अवस्थाओं के बदलने में जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य समय और आवली के भेद से दो प्रकार का होता है। अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्) की अपेक्षा तीन प्रकार का है। संख्यात आवलियों से गुणित सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है उतना अतीतकाल है। वर्तमान काल समय मात्र है और भावी (भविष्यत्) काल, समस्त जीव राशि तथा समस्त पुद्गल द्रव्यों से अनन्त गुणा है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य में शुद्ध अशुद्ध—दोनों प्रकार का परिणमन होता है। मूर्त अर्थात पुद्गल द्रव्य के संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते है, लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश है परन्तु समस्त आकाश के अनन्त प्रदेश है। कालद्रव्य एक प्रदेशी है। उपर्युक्त छह द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्त है, शेष पांच द्रव्य अमूर्त हैं। एक जीव द्रव्य चेतन है शेष पांच द्रव्य अचेतन है। पुद्गल का परमाणु आकाश के जितने अंश को घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं।

शुद्धभावाधिकार :

जब तत्वों को हेय और उपादेय इन दो भेदों में विभाजित करते है। तब परजीवादि बाह्य तत्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधि से रहित स्वकीय स्वयं अर्थात शुद्ध आत्मा उपादेय है। जब तत्वों को हेय उपादेय तथा ज्ञेय तीन भेदों में विभाजित करते हैं तब जीवादि बाह्यतत्व ज्ञेय है, स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव परिणमन हेय है। तात्पर्य यह कि आत्मद्रव्य का परिणमन स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है। जो स्व में स्वके निमित्त से होता है वह स्वभाव परिणमन कहलाता है जैसे जीव का ज्ञान दर्शन रूप परिणमन। और जो स्व में परके निमित्त से होता है वह विभाव परिणमन कहलाता है जैसे जीव का रागद्वेषादिरूप परिणमन। इन दोनों प्रकार के परिणमनों में स्वभाव परिणमन उपादेय है और विभाव परिणमन हेय है।

शुद्ध भावाधिकार में आत्मा को इन्हीं विभाव परिणामों से पृथक् सिद्ध करने के लिये कहा गया है—

कार्य की उत्पत्ति बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणों से होती है अतः सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणों का कथन करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है —

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी ॥५३॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त जिनागम तथा उसके ज्ञाता पुरुष हैं और अन्तरङ्ग निमित्त दर्शन मोह कर्म का क्षय आदिक है ।

अन्तरङ्ग निमित्त के होने पर कार्य नियम से होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के होने पर कार्य की उत्पत्ति होने का नियम नहीं है । हो भी और नहीं भी हो ।

इस अधिकार में कर्म जनित अशुद्ध भावों को अनात्मीय बतलाकर स्वाश्रित शुद्ध भाव को आत्मीय बतलाया है ।

(४) व्यवहार चारित्राधिकार :

इस अधिकार में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का, ईर्या, भाषा, एषणा आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पांच समितियों का, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और काय गुप्ति इन तीन गुप्तियों का तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाया गया है । हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह ये पांच पाप के पचासी हैं । इनके माध्यम से आत्मा में कर्मों का आस्रव होता है अतः इनका निरोध करना सम्यक्चारित्र है । पांच पापों का पूर्ण त्याग हो जाने पर पांच महाव्रत प्रकट होते हैं उनकी रक्षा के लिये ईर्या आदि पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक है । महाव्रतों की रक्षा के लिये प्रवचन—आगम में इन आठ को माता की उपमा दी गई है इसीलिये इन्हें अष्ट प्रवचन मातृका कहा गया है । व्यवहारनय से यह तेरह प्रकार का चारित्र कहलाता है । इस अधिकार में इसी व्यवहार चारित्र का वर्णन है ।

(५) परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार :

इस अधिकार में कर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम कहा गया है कि "मैं नारकी नहीं हूं, तिर्यंच नहीं हूं, मनुष्य नहीं हूं, देव नहीं हूं, गुणस्थान मार्गणा तथा जीव समास नहीं हूं, न इनका करने वाला हूं, न कराने वाला हूं, और न अनुमोदना करने वाला हूं । बालवृद्ध आदि अवस्थायें तथा राग

द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ रूप विकारी भाव भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला स्वतन्त्र जीव द्रव्य हूं।" इस प्रकार भेदाभ्यास करने से जीव मध्यस्थ होता है और मध्यस्थ भाव से चारित्र होता है। उस चारित्र को दृढ़ करने के लिये प्रतिक्रमण होता है। यथार्थ में प्रतिक्रमण किसके होता है ? इसका कितना स्पष्ट वर्णन कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है। देखिये--

जो वचनरचना को छोड़कर तथा रागादिभावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमण के होने पर ही चारित्र निर्दोष हो सकता है।

निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार :

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। यह त्याग विकारी भावों का ही किया जा सकता है स्वभाव का नहीं—ऐसा विचार करता हुआ जो समस्त वचनों के विस्तार को छोड़कर शुभ-अशुभ भावों का निवारण करता है तथा आत्मा का ध्यान करता है उसी के प्रत्याख्यान होता है। शुभ-अशुभ भाव, इस जीव के आत्मध्यान में बाधक हैं अतः प्रत्याख्यान करने वाले पुरुषों को सबसे पहले शुभ-अशुभ भावों को समझ उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिये। निश्चय प्रत्याख्यान की सिद्धि के लिये आचार्य महाराज ने इसप्रकार की भावनाओं का होना आवश्यक बतलाया है—

मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त कर ममत्व भाव को छोड़ता हूं। मेरा आलम्बन मेरा आत्मा ही है, शेष आलम्बनों को मैं छोड़ता हूं। इत्यादि।

(७) परमालोचनाधिकार :

परमालोचना किसके होती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं--

जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभाव गुण और पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है ऐसे श्रमण—मुनि के ही आलोचना होती है।

आगम में १. आलोचन २. आलुच्छन ३. अविकृतिकरण और ४. भावशुद्धि के भेद से आलोचना के चार अंग कहे गये हैं। पुनः इन अंगों के पृथक्-पृथक् लक्षण बनाये गये हैं।

(८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार :

व्यवहार दृष्टि से प्रायश्चित्त के अनेक रूप सामने आते हैं परन्तु निश्चय नयसे उसका क्या रूप होना चाहिये इसका दिग्दर्शन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अधिकार में किया है। वे कहते हैं कि व्रत, समिति, शील और

संयमरूप परिणाम तथा इन्द्रियदमन का भाव ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करते रहना चाहिये। आत्मीय गुणों के द्वारा विकारी भावों पर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिये कहा है—

क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को, और संतोष से लोभ को—इसप्रकार श्रमण इन चार कषायों को जीतता है।

(९) परमसमाधि अधिकार :

आत्मपरिणामों का स्वरूप में सुस्थिर होना परम समाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्म ध्यान से ही होती है। कहा है

जो मुनि समता भाव से रहित है उसके लिये वनवास, आतापनयोग, आदि कायक्लेश, नानाप्रकार के उपवास, और अध्ययन तथा मौन आदि क्या लाभ पहुंचा सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

सामायिक और परमसमाधि को पर्यायवाचक मानते हुये कुन्दकुन्दस्वामी ने १२५–१३३ तक नौ गाथाओं में स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किससे हो सकती है ? परम समाधि का अधिकारी कौन है ? इत्यादि।

(१०) परमभक्ति अधिकार :

"भजनं भक्तिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना को भक्ति कहते हैं। "पूज्यानां" गुणेष्वनुरागो भक्तिः" पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है यह भक्ति का वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्वृत्तिभक्ति है अर्थात् मुक्ति की उपासना है। निर्वृत्तिभक्ति, योगभक्ति—शुद्धस्वरूप के ध्यान से सम्पन्न होती है। निर्वृत्तिभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में देखिये—

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुइभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

जो श्रावक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है उसीके निर्वृत्ति भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान देखिये—

जो साधु अपने आप को रागादि के परिहार में लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावों पर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्ति से युक्त होता है। अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है ?

(११) निश्चयपरमावश्यकाधिकार :

जो अन्य के वश में नहीं है वह अवश है तथा अवश का जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश—सदा स्वाधीन रहनेवाला श्रमण ही मोक्ष का पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभभाव में लीन हो वह अवश नहीं है किन्तु अन्यवश है, उसका कार्य आवश्यक कैसे हो सकता है? जो परभाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश—स्ववश—स्वाधीन है उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करने के लिये कुन्दकुन्द स्वामी कितनी महत्वपूर्ण देशना देते हैं, देखिये—

आवासं जइ इच्छसि अप्प सहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

हे श्रमण! यदि तू आवश्यक की इच्छा करता है तो आत्मस्वभाव में स्थिरता कर, क्योंकि जीव का सामण्य—श्रमणपन उसीसे संपूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो श्रमण आवश्यक से रहित है वह चारित्र से भ्रष्ट माना जाता है इसलिये पूर्वोक्त विधि से आवश्यक करना चाहिये। आवश्यक से सहित श्रमण अन्तरात्मा होता है और आवश्यक से रहित श्रमण बहिरात्मा होता है।

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग से छह आवश्यक कहलाते हैं, इनका यथार्थ रीति से पालन करनेवाला श्रमण ही यथार्थ श्रमण है।

(१२) शुद्धोपयोगाधिकार :

इस अधिकार के प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्दस्वामी ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण गाथा लिखी है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

केवलज्ञानी व्यवहारनय से सबको जानते देखते हैं परन्तु निश्चयनय से आत्मा को ही जानते देखते हैं।

इस कथन का फलितार्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि केवली, निश्चयनय से सर्वज्ञ नहीं हैं मात्र आत्मज्ञ है, क्योंकि आत्मज्ञता में ही सर्वज्ञता गर्भित है। वास्तव में आत्मा किसी भी पदार्थ को तब ही जानता है जबकि उसका विकल्प आत्मा में प्रतिफलित होता है। जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित घटपटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मा में प्रतिफलित पदार्थों के विकल्प आत्मरूप ही होते हैं। परमार्थ से आत्मा उन विकल्पों

से परिपूर्ण आत्मा को ही जानता है अतः आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पों के प्रतिफलित होने में लोकालोक के समस्त पदार्थ कारण होते हैं अतः व्यवहारनय से उन सबका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, द्रष्टा अर्थात् सर्वदर्शी कहलाता है।

जब जीव का उपयोग—ज्ञानदर्शन स्वभाव, शुभ अशुभ रागादिक विकारी भावों से रहित हो जाता है तब वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र का अविनाभावी है। यथाख्यातचारित्र से अविनाभावी शुद्धोपयोग के होने पर वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अन्दर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। इस अधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने ज्ञान और दर्शन के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण किया है।

इसी शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जीव अष्टकर्मों का क्षय कर अव्याबाध, अतिन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पाप के विकल्प से रहित, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और पर के आलम्बन से रहित निर्वाण को प्राप्त होता है। कर्म रहित आत्मा लोकाग्र तक ही जाता है क्योंकि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे गमन नहीं हो सकता।

आगे नियमसार की संस्कृत टीका और उसके रचयिता श्री पद्मप्रभमलधारी देव पर प्रकाश डाला जाता है।

नियमसार के संस्कृत टीकाकार —

श्री पद्मप्रभमलधारी देव

नियमसार के संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव है। ये संस्कृत के महान् विद्वान थे, गद्य पद्य की रचना में सिद्ध सरस्वतीक थे। नियमसार के अधिकारान्त-पुष्पिका-वाक्यों में इन्होंने अपने नाम के पूर्व "सुकविजन पयोजमित्र", "पंचेन्द्रिय प्रसरवर्जित" और "मात्रमात्र परिग्रह" ये तीन विशेषण लगाये हैं। इन विशेषणों से उनके पाण्डित्य, जितेन्द्रियत्व और निर्ग्रन्थता का स्पष्ट बोध होता है। "मलधारी" विशेषण से शारीरिक-निःस्पृहता का भान होता है।

श्री पद्मप्रभमलधारी देव, श्री अमृतचन्द्राचार्यविरचित समयसार की आत्मख्याति टीका से पूर्ण प्रभावित है। जिस प्रकार अमृतचन्द्राचार्य ने समास बहुल एवं अप्रसिद्ध नूतन-नूतन शब्दावलि से परिपूर्ण गद्य का प्रयोग किया है तथा कलश काव्यों के द्वारा उस गद्य के प्रतिपाद्य अर्थ को प्रस्फुटित किया है उसी प्रकार इन्होंने भी समासबहुल एवं अप्रसिद्ध नूतन-नूतन शब्दावलि से परिपूर्ण गद्य का प्रयोग किया है तथा कलश काव्यों के द्वारा उस गद्य को समलंकृत किया है।

इन्होंने स्वरचित टीका में प्रतिपादित विषय का समर्थन करने के लिए विभिन्न आचार्यों के श्लोक भी समुद्धृत किये हैं। टीका परीक्षण करने से विदित होता है कि उसमें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगीन्द्रदेव, विद्यानन्द, गुणभद्र, अमृतचन्द्र, सोमदेवपण्डित वादिराज और महासेन आदि आचार्यों तथा समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उपाश्चकाध्ययन, अमृताशीति, मार्गप्रकाश, प्रवचनसारव्याख्या, समयसारव्याख्या, पद्मनन्दि-पंचविंशतिका, तत्त्वानुशासन तथा श्रुतबिन्दु नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

पद्मप्रभमलधारी देव ने यद्यपि अपनी गुरु परम्परा तथा ग्रन्थ रचना के समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि नियमसार की स्वरचित तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में और पञ्चमाधिकार के अन्त में वीरनन्दि मुनि की वन्दना की है।

मद्रास प्रान्त के अन्तर्गत "पटशिवपुरम्" ग्राम में एक स्तम्भ पर पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वर देव के समय का शक संवत् ११०७ का एक अभिलेख है —' जबकि मण्डलिक त्रिभुवनमल्ल, भोगदेव चोल्स हेजरा नगर पर राज्य कर रहे थे। उसी में यह लिखा है कि जब यह जैन मन्दिर बनवाया गया था तब पद्मप्रभमलधारी देव और उनके गुरु वीरनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती विद्यमान थे।" इस अभिलेख से पद्मप्रभमलधारी देव के गुरु का ही नहीं किन्तु समय का भी परिज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि वे १२ ईस्वीय शताब्दी के विद्वान् थे। *

पद्मप्रभमलधारी देव की अब तक दो रचनायें ही उपलब्ध हैं :—

(१) नियमसार की तात्पर्य वृत्ति और (२) पार्श्वनाथ स्तोत्र (अपरनाम लक्ष्मीस्तोत्र) नियमसार की तात्पर्य वृत्ति पाठकों के हाथ में है। पार्श्वनाथ स्तोत्र में यमकालंकार से विभूषित ९ श्लोक हैं। यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित "सिद्धान्त सारादिसंग्रह" में सटीक प्रकाशित है। यमकालंकार की छटा देखिये—

"लक्ष्मीमंहस्तुल्य सतो सतो सतो, प्रबुद्धकालो विरतो रतो रतो।
जरा रुजा जन्म हृता हृता हृता, पार्श्व फले राम गिरौ गिरौ गिरौ॥

इस स्तोत्र का हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय जुगलकिशोरजी मुख्तार ने हमसे कराया था।

तात्पर्य वृत्ति के विचारणीय स्थल—

(१) नियमसार की गाथा ३१ और ३२ में कालद्रव्य का वर्णन है। उसमें कालद्रव्य के भूत, भावी और वर्तमान के भेद से तीन भेद किये गये हैं। टीकाकार ने ३१ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में "तीदो संखेज्जावलि

---

* श्री डा० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा विरचित "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग के आधार पर"।

हुएसंठाणप्पमाणाणं तु" पाठ स्वीकृत किया है यहां संठाण के स्थान पर "सिद्धाणं" पाठ अधिक संगत जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है अतीत--भूतकाल संख्यात आवलियों से गुणित सिद्धों के प्रमाण हैं।

३२ वीं गाथा के पूर्वार्ध "जीवादु पुग्गलादोणंतगुणा चावि संपदा समया" में "चावि" के स्थान पर सही पाठ "भावि" जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है भावी—भविष्यत्काल जीव और पुद्गल से अनन्तगुणा है तथा संपदा—वर्तमानकाल एक समय मात्र है। लोकाकाश के प्रदेशों पर जो कालाणु स्थित है वह परमार्थ-निश्चल काल द्रव्य है। "चावि" पाठ के स्वीकृत करने पर भविष्यत्काल का वर्णन छूट जाता है।

(२) ४१ वीं गाथा की टीका में क्षायोपशमिक भाव के १८ भेदों की गणना में पद्मप्रभमलधारी देव ने पांच उपलब्धियों के नाम "कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यता—भेदाल्लब्धयः पञ्च" पंक्ति द्वारा कालकरण, उपदेश (देशना) उपशम (क्षयोपशम) और प्रायोग्य, स्वीकृत किये हैं जबकि ग्रन्थान्तरों में क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य को लब्धि माना गया है और करणादि लब्धियों को सम्यक्त्व प्राप्ति में सहायक बताया गया है।

(३) ५३ वीं गाथा में "खयपहुदी" शब्द की संस्कृत छाया "क्षयप्रभृतेः" स्वीकृत कर जिन सूत्र को बाह्य निमित्त तथा उसके ज्ञाता पुरुष को दर्शन मोह का क्षय होने से अन्तरङ्ग हेतु कहा है। जबकि जिनसूत्र और उसके ज्ञाता बहिरंग हेतु हैं और दर्शन मोह का क्षय आदिक अन्तरङ्ग हेतु है। "खयपहुदी" की संस्कृत छाया "क्षयप्रभृतिः" है। उसमें विपर्यास होने से टीका में विपर्यास हो गया है। टीकाकर्त्री माताजी ने विशेषार्थ में इन स्थलों पर कुछ प्रकाश डाला है।

हिन्दी टीका :

बहुत पहले नियमसार पर एक हिन्दी टीका स्वर्गीय ब्र० शीतलप्रसादजी ने लिखी थी वह कितने ही स्थलों पर स्खलित थी। अभी हाल श्री पण्डित हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती टीका के आधार पर पण्डित भगवानदासजी कृत हिन्दी टीका सोनगढ़ से प्रकाशित होकर स्वाध्याय में आ रही है। जो टीका पाठकों के हाथ में है वह भी १०५ आर्यिका रत्न ज्ञानमति माताजी के द्वारा लिखित है। स्वाध्याय करने वाले महानुभाव इस टीका की विशेषता का स्वयं अनुभव करेंगे।

आर्यिकारत्न ज्ञानमति माताजी :

आर्यिकारत्न ज्ञानमति माताजी का जन्म आसोज शुक्ला १५ वि० संवत् १९९१ सन् १९३४ ईस्वी को टिकैतनगर (उ० प्र०) निवासी धर्मस्नेही श्री छोटेलालजी की धर्मपत्नी मोहिनीदेवी के गर्भ से हुआ था। माताजी ही नहीं, इस परिवार में सब पूर्वभव के संस्कारी जीव एकत्रित हुए हैं। श्री मोहिनीदेवी इस समय "रत्नमति"

आर्यिका हैं, ज्ञानमतिजी स्वयं आर्यिका हैं, इनकी छोटी बहिन "अभयमति" आर्यिका हैं, भाई रवीन्द्रकुमार शास्त्री ब्रह्मचर्य व्रत लेकर धर्म प्रचार में रत हैं। कु० माधुरी और कु० मालती ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर श्रुताभ्यास में रत हैं।

आर्यिका ज्ञानमतिजी ने वि० सं० २००९ में आचार्य देशभूषणजी से क्षुल्लिका दीक्षा और वि० सं० २०१३ में आचार्य वीरसागरजी से आर्यिका दीक्षा ली थी। आचार्य महावीरकीर्तिजी के पास न्याय, व्याकरण, साहित्य और सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया। आचार्य शिवसागरजी के संघ में रहकर तपस्या की साधना की। तपश्चर्या के प्रभाव से आपका क्षयोपशम नित्य प्रति वर्धमान है। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज ने आचार्य श्री धर्मसागरजी और उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में विशाल जनसमुदाय के बीच दिल्ली में न्याय प्रभाकर एवं आर्यिका रत्न की उपाधि से विभूषित किया था। आपका अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग रहता है। इसी कारण अब तक आप १०८ ग्रन्थों की रचना कर चुकी हैं। आप संस्कृत और हिन्दी कविता लिखने में सिद्धहस्त हैं।

नियमसार का यह संस्करण :

श्री १०५ ज्ञानमति माताजी द्वारा विरचित हिन्दी टीका के साथ नियमसार का यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

गाथाओं के नीचे संस्कृत छाया, तदनन्तर माताजी द्वारा विरचित हिन्दी पद्यानुवाद, उसके नीचे पद्मप्रभमलधारी देव विरचित संस्कृत टीका और उसके नीचे माताजी द्वारा विरचित हिन्दी टीका दी गई है। हिन्दी टीका में गाथा का अन्वयार्थ, संस्कृत टीका का अर्थ, भावार्थ और यथावश्यक विशेषार्थ दिया गया है। टिप्पणी में गाथाओं के पाठ भेद संगृहीत हैं। परिशिष्ट में गाथानुक्रमणिका तथा पद्यानुक्रमणिका टीका में उद्धृत गाथा तथा श्लोकों की अनुक्रमणिका दी गई है। प्रारम्भ में प्रकाशकीय वक्तव्य के बाद विस्तृत प्रस्तावना संलग्न है जिसमें मूल ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य, संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव और हिन्दी टीकाकर्त्री श्री आर्यिकारत्न ज्ञानमति माताजी का परिचय दिया गया है। साथ ही नियमसार के प्रतिपाद्य विषय को अधिकारों के क्रम से दिया गया है। संस्कृत टीका संस्कृत छाया में परम्परा से जो अशुद्धियां चली आती थी उनका यथाशक्य संशोधन कर दिया गया है।

नियमसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय और व्यवहारनय के अनुसार नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया है। कुन्दकुन्द की समस्त रचनायें अनावश्यक विस्तार से रहित सार स्वरूप हैं। माताजी ने इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका लिखकर स्वाध्यायरसिक पुरुषों का महान् उपकार किया है। आशा है इसी प्रकार आपके द्वारा जिनवाणी की सेवा होती रहेगी।

सागर
१६-२-१९८२

विनीत :
पन्नालाल साहित्याचार्य

नियमसार–वंदना

(आर्यिका–ज्ञानमती माताजी)

सिद्धि लब्ध्वा जना लोके, श्रयंतो नियमश्रियम् ।
नियमाख्यं त्रिरत्नं तत् भेदाभेदात्मकं स्तुवे ॥१॥

अभेदाख्यं त्रिरत्नं न भेदरत्नत्रयं विना ।
साधनं व्यवहारं तन्निश्चयं साध्यमेव हि ॥२॥

स्वयोग्यं च व्रतं लब्ध्वा, रत्नत्रितयहेतवे ।
भावयामि सदा चित्ते, भेदाभेदत्रिरत्नकं ॥३॥

पालयन्त्या त्रिशुद्धया मे, ह्युपचारमहाव्रतं ।
भूयान्निरतिचारं तत् त्वंते सल्लेखनापि च ॥४॥

स्त्रीपर्यायं च विच्छेद्य सुरो भूत्वापि तत्र वै ।
सम्यक्त्वव्रतमाहात्म्यात् भूयां धर्मैकसक्तधीः ॥५॥

प्राप्नुयाम् च ततश्च्युत्वा, जिनरूपमनुत्तरं ।
मोक्षैकसाधनं रत्नत्रितयं चोभयात्मकं ॥६॥

निश्चयावश्यकं प्राप्य, निश्चयभक्तिमाश्रितः ।
निर्विकल्पसमाधिस्थः स्वात्मसिद्धिं लभे त्वरं ॥७॥

यावन्नैतादृशी मे स्यात् स्थितिः कर्मनिर्मूलनी ।
परमानंदमात्मानं, तावत्कं भावयाम्यहं ॥८॥

नयद्वयात्मकं तत्त्वं, स्वात्मानंदैकनिर्भरं ।
अनंतदर्शनज्ञानसौख्यवीर्यात्मकं ध्रुवं ॥९॥

एतत्स्वरूपलब्ध्यर्थं धृत्वा वीरं मनोऽब्जे ।
ग्रन्थं नियमसाराख्यं, वंदे भक्त्या पुनः पुनः ॥१०॥

ॐ

श्री कुन्दकुन्दस्वामिने नमः

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

नियमसार

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति सहित

—१—

जीव अधिकार

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ॥१॥

---

(१) **श्लोकार्थ**—हे परमात्मन् ! आपके होते हुए मैं मुझ जैसे (संसारी) तथा मोह से मुग्ध और कामदेव के वशीभूत हुए ऐसे ब्रह्मा–विष्णु–महेश को कैसे पूज सकता हूं ? अर्थात् नहीं पूज सकता हूं । जिन्होंने भव–संसार अथवा भव–कामदेव को जीत लिया है मैं उनकी वंदना करता हूं । वे चाहे सुगत हों, गिरिधर हों अथवा ब्रह्मा हों, शिव हों अथवा शोभायमान श्री जिनेंद्र भगवान हों ।

(अनुष्टुभ्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम् ।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्यधीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम् ।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दि व्रतीन्द्रम् ॥३॥

भावार्थ—लोक में भगवान बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा और महादेव ये ४ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। उन्हीं को लक्षित करके आचार्य कहते हैं कि जिन्होंने संसार का नाश कर दिया है जो जन्म मरण के दुखों से छूट चुके हैं वे चाहे जिस नाम के धारी हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूं।

(२) **श्लोकार्थ**—वाचंयमीन्द्राणां–मुनियों में प्रधान ऐसे जिनेंद्र भगवान का मुखकमल जिसका वाहन है। अर्थात् जो जिनेंद्र भगवान के मुखकमल से प्रवाहित–प्रगट हुई है। तथा जो दोनों नयों के आश्रयभूत वाच्य–पदार्थ उनके सर्वस्व–संपूर्ण अर्थ को कहने की पद्धति–शैलीरूप है। ऐसी जिनवाणी को मैं नमस्कार करता हूं।

(३) **श्लोकार्थ**—सिद्धांत रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी के पति श्री सिद्धसेन आचार्य को तर्क, न्याय, कमल को विकसित करने में सूर्य ऐसे भट्टाकलंक देव को शब्द शास्त्र-रूपी समुद्र के वर्धन में चंद्रमा ऐसे पूज्यपाद सूरि को तथा इन विद्याओं से सहित व्रतियों में प्रधान ऐसे वीरनंदि आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—श्री सिद्धसेन दिवाकर के सन्मति तर्क नामक सिद्धांतग्रन्थ श्री अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रह न्यायग्रन्थ पूज्यपाद स्वामी का जैनेंद्र व्याकरण और वीरनंदि आचार्य का आचारसार ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

(अनुष्टुभ्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥४॥

किं च—

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम् ।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ॥५॥

अपि च—

(अनुष्टुभ्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ॥६॥

---

(४) **श्लोकार्थ**—भव्य जीवों को मोक्ष की प्राप्ति के लिए और पुनः अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए मैं नियमसार की तात्पर्य वृत्ति नामक टीका को कहूंगा ।

(५) **श्लोकार्थ**—गुण को धारण करने वाले श्री गणधर देवों से रचित, श्रुतकेवली आदि श्रुतपारंगत मुनियों की अविच्छिन्न परंपरा से अच्छी तरह से व्यक्त किया गया जो परमागम है उस परमागम के अर्थ-समूह को कहने के लिए हम मंद जन कौन हो सकते हैं । अर्थात् ऐसे परमागम के अर्थ को कहने के लिए हम लोग मंद बुद्धि वाले समर्थ नहीं हो सकते हैं ।

(६) **श्लोकार्थ**—फिर भी इस समय हमारा मन परमागम को पुष्ट रुचि से बार बार अत्यंत प्रेरित हो रहा है । अर्थात् परमागम के प्रति हमारी बढ़ती हुई श्रद्धा विशेष है या बुद्धिगत रुचि विशेष है । उसी से पुनः पुनः प्रेरित होकर ही मैं इस ग्रन्थ की टीका कर रहा हूं ।

(अनुष्टुभ्)

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥७॥

अलमलमतिविस्तरेण । स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

अथ सूत्रावतार :—

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।
वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

जो जिन अनंत ज्ञान औ दर्शन स्वभाव युत ।
करके नमन उन वीर का मैं भक्ति भाव युत ॥
जिन केवली श्रुतकेवली ने जिसको कहा है ।
उस नियमसार को कहूँगा जो कि महा है ॥१॥

---

(७) **श्लोकार्थ**—सूत्रकार ने इस ग्रन्थ में प्रथम पांच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्व और नव पदार्थ का तथा (अनंतर) प्रत्याख्यान आदि सत्क्रियाओं का वर्णन किया है अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रथम ही पांच अस्तिकाय आदि का वर्णन है । अनंतर मुनियों के नियम–रत्नत्रय स्वरूप के अंतर्गत प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं का वर्णन किया गया है ।

अत्र श्रीमान् भगवान कुन्दकुन्ददेव के सूत्र का अवतार होता है—

गाथा १

अन्वयार्थ—[**अणंतवरज्ञानदर्शनस्वभावं**] अनंतस्वरूप, श्रेष्ठज्ञान और दर्शन स्वभाव वाले [**वीरं जिनं नत्वा**] श्री वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके [**केवलिश्रुतकेवलिभणितं**] केवली भगवान् तथा श्रुतकेवली भगवान् के द्वारा कथित ऐसे [**नियमसारं वक्ष्यामि**] नियमसार को मैं कहूंगा ।

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितम् । नत्वेत्यादिभिरनेकजन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः । वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः—श्रीवर्द्धमान-सन्मतिनाथ-महतिमहावीराभिधानैः सनाथः परमेश्वरो महादेवाधिदेवः परिचमतीर्थनाथः त्रिभुवन-सचराचरद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । कम् ? नियमसारम् । नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् । किंविशिष्टम् ? केवलिश्रुतकेवलिभणितम् —केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्य-श्रुतधरास्तैः केवलिभिः श्रुतकेवलिभिश्च भणितं—सकलभव्यनिकुरम्बहितकरं नियम-सारामिधानं परमागमं वक्ष्यामीति विशिष्टेष्टदेवतास्तवनानन्तरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणाप्रतिज्ञातम् । इति सर्वपदानां तात्पर्यमुक्तम् ।

टीका—अब यहां पर 'जिनं नत्वा' इस पद से शास्त्र का आदि में असाधारण मंगल कहा है ।

'नत्वा' इत्यादि रूप प्रत्येक पदों का अर्थ करते हैं—

अनेक जन्मरूपी वन को प्राप्त कराने में कारणभूत, संपूर्ण मोह, राग, द्वेष आदि को जो जीतते हैं वे 'जिन' कहलाते हैं । वीर अर्थात् विक्रमशाली, जो वीरता को प्राप्त हैं, शूरता को प्राप्त हैं, पराक्रम करने वाले हैं कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं वे 'वीर' कहलाते हैं । वे वीर भगवान्—श्रीवर्द्धमान, सन्मतिनाथ और महति-महावीर नामों से सनाथ हैं, परमेश्वर महादेवाधिदेव अंतिम तीर्थेश्वर हैं और जो तीन लोक के चर-अचर, चेतन-अचेतन स्वरूप, द्रव्य-गुण-पर्यायों से कथित समय (द्रव्यसमूह) को जानने में समर्थ सकल विमल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से युक्त हैं मैं उन वीरप्रभु को नमस्कार करके कहता हूं । क्या कहता हूं ? नियमसार को कहता हूं । यहां पर 'नियम' शब्द सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अर्थ में विद्यमान है, अर्थात् 'नियमसार' इस पद से शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है । वह कैसा है ? केवली और श्रुतकेवली के द्वारा कथित है । अर्थात् संपूर्णतया प्रत्यक्ष-केवलज्ञान को धारण करने वाले 'केवली' कहलाते हैं और ग्यारह अंग-चौदह पूर्व रूप संपूर्ण द्रव्यश्रुत को धारण करने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं । इन केवली और श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित समस्त भव्य जीव समुदाय के लिये हितकर 'नियमसार' इस नाम वाले

(मालिनी)

जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः ।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८॥

मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो, तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥२॥

मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥२॥

मारग व मार्गफल ये दो प्रकार हैं यहाँ ।
जिनदेव के शासन में ये गणधर ने है कहा ।
जो मोक्ष का उपाय है वो मार्ग कहाया ।
उसका है फल निर्वाण ऋषियों ने बताया ॥२॥

परमागम को मैं कहूंगा । इस प्रकार विशिष्ट इष्ट देवता के स्तवन के अनन्तर सूत्रकार पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव गुरुवर्य ने प्रतिज्ञा की है ।

इस प्रकार सभी पदों का तात्पर्य अर्थ कहा गया है ।

[अब श्री टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज मंगलाचरण गाथा के अर्थ का उपसंहार करते हुए स्वयं वीर भगवान् की स्तुति करते हुये श्लोक कहते हैं]

(८) **श्लोकार्थ**—जिन्होंने शुद्धभावों के द्वारा कामदेव को समाप्त कर दिया है, त्रिभुवन की जनता से पूज्य हैं, पूर्णज्ञान—केवलज्ञान के एक अतीन्द्रिय राज्य को प्राप्त कर लिया है, देवों के समूह से नमस्कृत हैं, जिन्होंने जन्मवृक्ष के बीज को नष्ट कर दिया है जो समवशरण में निवास करते हैं और जिनमें केवल लक्ष्मी निवास करती है ऐसे वे वीर भगवान् इस जगत् में जयशील होवें ।

गाथा २

अन्वयार्थ—[**जिन शासने**] जिनेन्द्र भगवान के शासन में [**मार्गं मार्गफलं च इति द्विविधं समाख्यातं**] मार्ग और मार्ग का फल इस प्रकार से दो प्रकार का

मोक्षमार्गतत्फलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम् । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्ध्रिकास्थूलभाल-स्थललीलालंकारतिलकता । द्विविधं किलैतं परमवीतरागसर्वज्ञशासने चतुर्थज्ञानधारिभिः पूर्वसूरिभिः समाख्यातम् । परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानु-ष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः । तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति ।

(पृथ्वी)

क्वचिद्व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः
क्वचिद्द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः ।

कथन किया गया है **[मोक्षोपायः मार्गः]** मोक्ष का उपाय मार्ग है और **[तस्य फलं निर्वाणं भवति]** उस मार्ग का फल निर्वाण है ।

टीका—मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप निरूपण का यह कथन है ।

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है' ऐसा [1]सूत्रकार का वचन है । यहाँ शुद्धरत्नत्रय को मार्ग कहा है और पुनर्भव से रहित ऐसी मुक्ति रूपी स्त्री के विशाल ललाट प्रदेश में लीला से रचित अलंकार स्वरूप तिलकपना ही मोक्षमार्ग का फल है । अर्थात् मुक्ति स्त्री के ललाट के तिलक स्वरूप होना–उसका पति होना–मुक्ति को प्राप्त करना ही मार्ग का फल है । परम वीतराग सर्वज्ञदेव के शासन में चतुर्थ–मनःपर्ययज्ञानधारी पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार से दो प्रकार का ही कथन किया है । परम निरपेक्ष रूप से निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान उसी परमात्मतत्त्व का सम्यक् परिज्ञान और उसी परमात्मतत्त्व में सम्यक् अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज संसारी जीवों की भिन्न–भिन्न रुचि को बतलाते हुये श्लोक द्वारा यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जो जिनेन्द्र के मार्ग को प्राप्त करके अपनी आत्मा में रत हो जाता है वही मोक्ष को प्राप्त करता है ।]

---

१. श्री उमास्वामी आचार्य ।

क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो
निजात्मनि रतो भवेद्व्रजति मुक्तिमेतां हि सः ॥९॥

णियमेण य जं कज्जं, तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं, भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम् ।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम् ॥३॥

जो करने योग्य है नियम से वोहि नियम है ।
वो ज्ञान दर्श औ चरित्र रूप धरम है ।
विपरीत के परिहार हेतु सार शब्द है ।
अतएव नियम से ये नियमसार सार्थ है ॥३॥

---

(९) **श्लोकार्थ**—यह संसारी जीव कभी तो कामिनी की रति से उत्पन्न सुख को प्राप्त करता है और कभी धन की रक्षा में अपनी बुद्धि को करता है परन्तु जो पंडित बुद्धिमान पुरुष कभी जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग को प्राप्त करके अपनी आत्मा के स्वरूप में रत हो जाता है तो निश्चित ही इस मुक्ति अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने इस नियमसार ग्रन्थ में मार्ग और मार्ग का फल ऐसी दो बातें बतलाई हैं उसमें मोक्ष की प्राप्ति का उपाय तो मार्ग है और उसका फल निर्वाण है संसारी जीव दो ही चीजों को विशेष सुखकारी मानते हैं—एक तो स्त्री को, दूसरे धन को । इसलिये यहां आचार्य ने बतलाया है कि कभी यह जीव स्त्री के सुख का अनुभव करता है तो कभी धन की रक्षा में लगा रहता है किन्तु जब वही जीव इन कनक कामिनी से अपने मन को हटाकर रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में लग जाता है तब नियम से उसके फल रूप निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

गाथा ३

अन्वयार्थ— [**नियमेन च यत्कार्यं**] जो नियम से करने योग्य है [**स नियमः**] वह 'नियम' कहलाता है [**ज्ञानदर्शनचारित्रं**] और वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र

अत्र नियमशब्दस्य सारत्वप्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् । यः सहजपरमपारिणामिकभावस्थितः स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः । नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्रम् । ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलंबत्वेन निःशेषतोन्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरमतत्त्वपरिज्ञानम् उपादेयं भवति । दर्शनमपि भगवत्परमात्मसुखाभिलाषिणो जीवस्य शुद्धान्तस्तत्त्वविलासजन्मभूमिस्थाननिजशुद्धजीवास्तिकायसमुपजनितपरमश्रद्धानमेव भवति । चारित्रमपि निश्चयज्ञानदर्शनात्मककारणपरमात्मनि अविचलस्थितिरेव । अस्य तु नियमशब्दस्य निर्वाणकारणस्य विपरीतपरिहारार्थत्वेन सारमिति भणितं भवति ।

है [**विपरीत परिहारार्थं**] विपरीत का परिहार करने के लिये [**खलु सारं इति वचनं भणितं**] वास्तव में 'सार' ऐसा वचन कहा गया है ।

टीका—यहां पर नियम शब्द में 'सार' इस शब्द के प्रतिपादन द्वारा स्वभाव रत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है ।

जो सहज परम पारिणामिक में स्थित, स्वाभाविक अनन्त चतुष्टयात्मक शुद्ध ज्ञान चेतना रूप परिणाम है वह 'नियम' है और नियम से अर्थात् निश्चय से जो करने योग्य अर्थात् प्रयोजन स्वरूप है—अवश्यकरणीय है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र है । उन तीनों में प्रथम ही ज्ञान शब्द में ऐसा अर्थ लेना कि जो ज्ञान पर द्रव्य के अवलम्बन के बिना ही संपूर्णतया अंतर्मुख योग शक्ति के निमित्त से निज परम तत्त्व को जानने रूप है वह ज्ञान उपादेय होता है अर्थात् परिपूर्णतया ज्ञानोपयोग के अंतर्मुख हो जाने से जो निज परम तत्त्व का ज्ञान होता है यहां वही ज्ञान उपादेय रूप है । दर्शन भी भगवान् परमात्मा के सुखाभिलाषी जीव को शुद्ध अंतस्तत्त्व के विलास के जन्मभूमि स्थान रूप—उत्पन्न होने के स्थान रूप जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न हुआ परम श्रद्धान रूप ही है । चारित्र भी निश्चय ज्ञान दर्शन स्वरूप कारण परमात्मा में अविचल स्थिति रूप ही है । निर्वाण के लिये कारणभूत इस 'नियम' शब्द में विपरीत के परिहार करने हेतु 'सार' यह शब्द कहा गया है ।

भावार्थ—यहां पर 'नियम' शब्द से रत्नत्रय को लिया है जो कि नियम से अर्थात् अवश्य ही करने योग्य हैं और ये आत्मा के स्वभाव हैं क्योंकि ये आत्मा को

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम् ।
अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनंगशं याभि ।।१०।।

णियमं मोक्खउवायो, तस्स फलं हवति परमणिव्वाणं ।
एदेसिं तिण्हं पि य, पत्तेयपरूवणा होइ ।।४।।

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम् ।
एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति ।।४।।

निर्वाण प्राप्ति का उपाय नियम कहाता ।
होता उसीका फल परम निर्वाण सुहाता ।
दर्शन व ज्ञान चरित तीन रत्न अनुपम ।
प्रत्येक का आचार्य यहाँ करते निरूपण ।।४।।

छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं । इसमें जो 'सार' शब्द लगाया है वह निर्वाण कारण से अतिरिक्त जो संसार के कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं उनका निराकरण करने के लिये है । व्यवहार रत्नत्रय के निराकरण के लिये नहीं है क्योंकि आगे स्वयं भगवान् कुन्दकुन्ददेव व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन कर रहे हैं । यदि व्यवहार रत्नत्रय के निराकरण के लिये 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ते तो वे स्वयं व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का कारण नहीं मान सकते थे । इसलिये यहां 'विपरीत' शब्द का अर्थ व्यवहार रत्नत्रय न करके मिथ्यादर्शनादि करना चाहिये ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निश्चय रत्नत्रय और उसके फल की कामना करते हुये श्लोक कहते हैं–]

(१०) **श्लोकार्थ**—इस प्रकार से मैं विपरीत स्वरूप से रहित, अनुपम सर्वश्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करके मुक्ति रूपी स्त्री में उत्पन्न जो अशरीरी (अतीन्द्रिय-आत्मिक) सुख को प्राप्त करता हूं ।

गाथा ४

अन्वयार्थ— [**नियमः मोक्षोपायः**] पूर्वोक्त रत्नत्रय स्वरूप नियम मोक्ष का उपाय है [**तस्य फलं परम निर्वाणं भवति**] उसका फल परम निर्वाण है [**अपि**

रत्नत्रयस्य भेदकरणलक्षणकथनमिदम् । मोक्षः साक्षादखिलकर्मप्रध्वंसनेनासादितमहानन्दलाभः । पूर्वोक्तनिरुपचाररत्नत्रयपरिणतिस्तस्य महानन्दस्योपायः । अपि चैषां ज्ञानदर्शनचारित्राणां त्रयाणां प्रत्येकप्ररूपणा भवति । कथम्, इदं ज्ञानमिदं दर्शनमिदं चारित्रमित्यनेन विकल्पेन । दर्शनज्ञानचारित्राणां लक्षणं वक्ष्यमाणसूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति ।

(मंदाक्रांता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव ।
शीलं सावन्न भवति परं मोक्षुभिः [भोक्तृभिः] प्रोक्तमेतद्
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स भव्यः ॥११॥

च एतेषां त्रयाणां प्रत्येक प्ररूपणा भवति] पुनश्च इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा होती है ।

टीका—रत्नत्रय में भेद करने वाला और उनके लक्षण को कहने वाला यह प्रकरण है ।

साक्षात् अखिल कर्मों के प्रध्वंस से प्राप्त होने वाला जो महान् आनंद का लाभ है वह मोक्ष है । पूर्वोक्त उपचार रहित रत्नत्रय की परिणति उस महान् आनंद स्वरूप मोक्ष का उपाय है इसलिये पुनः ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों में से प्रत्येक का प्ररूपण किया जाता है । कैसे किया जाता है ? यह ज्ञान है, यह दर्शन है और यह चारित्र है इस प्रकार से भेद करके वर्णन किया जाता है । इन दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लक्षण आगे कहे हुये सूत्रों से—गाथाओं से जानने योग्य है ।

भावार्थ—'नियमसार' शब्द से 'रत्नत्रय' को ग्रहण करके अब आचार्यवर्य सबसे पहले भेद रत्नत्रय अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन करते हुये प्रत्येक का पृथक्-पृथक् लक्षण बतायेंगे ।

[अब टीकाकार मुनिराज रत्नत्रय का महत्व प्रगट करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(११) श्लोकार्थ—शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप से परिणत अपनी आत्मा मुनियों के लिये मोक्ष प्राप्ति का उपाय है क्योंकि आत्मा ही ज्ञान है, किन्तु उससे भिन्न अन्य

अत्तागमतच्चाणं, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम् ।
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः ॥५॥

सत्यार्थ आप्त आगम औ तत्त्व बताये ।
बस इनके हि श्रद्धान से सम्यक्त्व कहाये ।।
संपूर्ण दोष रहित सकल गुण से युक्त जो ।
जो आत्मा है आप्त वीतराग द्वेष जो ॥५॥

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । आप्तः शंकारहितः । शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः । आगमः तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षः चतुर-

---

कुछ ज्ञान नहीं है, आत्मा ही दर्शन है भिन्न दर्शन भी कुछ नहीं है एवं शील भी अन्य कुछ नहीं है अर्थात् आत्मा ही शील है । ऐसा मुक्ति इच्छुक—मोक्ष को प्राप्त होने वाले श्री अरिहंत देव ने कहा है ऐसा जानकर वह भव्य जीव पुनः माता के गर्भ में नहीं आता है ।

भावार्थ—आत्मा को छोड़कर रत्नत्रय नहीं पाया जाता है इसलिये आत्मा ही रत्नत्रय स्वरूप है । इस आत्मा से भिन्न अन्य कुछ दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं है ऐसा समझ कर जो मुनिराज भेद रत्नत्रय के अनन्तर अभेद रत्नत्रय की उपासना करते हैं वे भव्य जीव पुनः जन्म मरण के दुःखों से छूट जाते हैं । इस कलश की गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने रत्नत्रय का वर्णन करके मैं प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन करूंगा ऐसा कहा है ।

गाथा ५

अन्वयार्थ—[**आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानात्**] आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से [**सम्यक्त्वं भवति**] सम्यक्त्व होता है [**व्यपगताशेषदोषः**] समस्त दोषों से रहित [**सकलगुणात्मा आप्तः भवेत्**] और सकल गुणों से सहित आत्मा आप्त होता है ।

टीका—यह व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है ।

वचनसंदर्भः । तत्त्वानि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति । तेषां सम्यक्श्रद्धानं व्यवहारसम्यक्त्वमिति ।

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति ।
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

शंका रहित को आप्त कहते हैं, यहां शंका में सकल मोह, राग, द्वेष आदि को लिया है । उन आप्त के मुख कमल से विनिर्गत समस्त पदार्थों के विस्तार के समर्थन में कुशल चतुर वचनों की रचना को आगम कहते हैं । बहिस्तत्त्व, अंतस्तत्त्व और परमात्मतत्त्व के भेद से तत्त्वों के तीन भेद हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के भेद से तत्त्वों के सात भेद होते हैं । उन आप्त, आगम और तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है ।

विशेषार्थ--यहां तत्त्वों के भेद में बहिस्तत्त्व में अचेतन तत्त्व को लिया है और अंतस्तत्त्व में चेतन तत्त्व को लिया है तथा परमात्मतत्त्व को अलग कहा है किन्तु अंतस्तत्त्वरूप चेतन तत्त्व में परमात्मतत्त्व शामिल हो जाता है अतः मुख्य तत्त्व दो ही हैं । [यहां बहिस्तत्त्व और अंतस्तत्त्वस्वरूप परमात्म तत्त्व ऐसे दो भेद भी कोई करते हैं किन्तु अंतस्तत्त्व को परमात्मतत्त्व का विशेषण कर देने पर तो संसारी जीवों का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाता है । अतः तत्त्वों के तीन भेद है ऐसा अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है ।] अथवा बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से भी तत्त्वों के तीन भेद हो सकते हैं ।

[[अब टीकाकार मुनिराज सम्यक्त्व के प्रकरण में भक्ति के महत्व को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं-]

(१२) श्लोकार्थ--भव के भय को भेदन करने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान में क्या आपकी सुखदायक भक्ति यहां नहीं है ? तब तो आप भव समुद्र के मध्य में रहने वाले मगर के मुख के अंतर्गत ही हैं ऐसा समझें अर्थात् यदि आप जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति नहीं करते हैं तो आप संसार समुद्र में ही डूब जावेंगे, पार नहीं हो

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजामिच्चू[1] ।
सेदं[2] खेद मदो रइ, विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः ।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ ॥६॥

क्षुध् प्यास भीति रोष राग मोह व चिंता ।
मद खेद पसीना जरा व रोग व निद्रा ॥
विस्मय रति उद्वेग जन्म मरण कहाये ।
ये दोष अठारह सभी के पास बताये ॥६॥

अष्टादशदोषस्वरूपाख्यानमेतत् । असातावेदनीयतीव्रमंदक्लेशकरी क्षुधा । असातावेदनीयतीव्रतीव्रतरमंदमंदतरपीडया समुपजाता तृषा । इहलोकपरलोकात्राणा-

---

सकेंगे । इसकी गाथा में आचार्य श्री ने आप्त, आगम और तत्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और आप्त का लक्षण किया है अतएव उनकी भक्ति की प्रेरणा दी गई है ।

गाथा ६

अन्वयार्थ—[**क्षुधातृष्णाभयंरोषो रागो मोहः चिंता जरा रुजा मृत्युः**] क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिंता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु [**स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ**] पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति (ये अठारह दोष) हैं ।

टीका—यह अठारह दोषों के स्वरूप का वर्णन है ।

असातावेदनीय कर्म के निमित्त से तीव्र अथवा मंद क्लेश को करने वाली क्षुधा है । असातावेदनीय कर्म की तीव्र, तीव्रतर अथवा मंद, मंदतर पीड़ा से तृषा उत्पन्न होती है । इहलोक भय, परलोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय,

---

१. द्वितीय पाद में चार मात्राएं अधिक हैं ।

२. खेदं खेद (क) पाठान्तर ।

मार्गदर्श

भुक्तिमरणदेहाकस्मिकक्लेशात् तत्रश्च भवति भयम् । क्रोधनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः । रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, दानशीलोपवासगुरुजनवैयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचौरभक्तविकथालापाकर्णनकौतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः । चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव । चिन्तनं धर्मशुक्लरूपं प्रशस्तमितरदप्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा । वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यसंजातकलेवरविपीडैव रुजा । सादिसनिधनमूर्तेन्द्रियविजातीयनरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभकर्मविपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगंधसम्बन्धवासनावासितवारिबिन्दुसंदोहः स्वेदः । अनिष्टलाभः खेदः । सहजचतुर-

---

वेदना भय और आकस्मिक भय के भेद से भय सात प्रकार का है । क्रोध स्वभावी जीव के तीव्र परिणाम को रोष कहते हैं । राग के प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो भेद हैं, दान, शील, उपवास, गुरुजनों की वैयावृत्ति आदि में उत्पन्न होने वाला राग प्रशस्त राग है और स्त्री कथा, राजकथा, चौर कथा, भोजन कथा रूप विकथा के करने तथा सुनने का जो कौतूहल रूप परिणाम है वह अप्रशस्त राग है। चार प्रकार के श्रमण संघ में वात्सल्य से होने वाला मोह प्रशस्त मोह है और इससे भिन्न-गृह कुटुम्ब संबंधी मोह अप्रशस्त ही है । धर्म शुक्लरूप चिंतवन करना प्रशस्त चिंता है और इससे भिन्न आर्तरौद्रध्यान संबंधी चिंतवन अप्रशस्त चिंता ही है ।

तिर्यंच और मनुष्यों के उम्र के निमित्त से होने वाले शरीर में विकार ही बुढ़ापा है । वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न हुई शरीर में पीड़ा ही रोग है, आदि और अंतसहित मूर्तिक इंद्रियां तथा विजातीय नर-नारकादि विभाव व्यंजन पर्याय का विनाश ही मृत्यु कहा गया है । अशुभ कर्म के उदय से होने वाला जो शरीर में श्रम है उससे उत्पन्न होने वाली दुर्गंध से संबंधित वासना से वासित जल बिन्दुओं के समूह को पसीना कहते हैं । अनिष्ट के लाभ से होने वाला खेद है। अखिल जनता के कान में अमृत को झराते हुये के समान सहज चतुर कविता से सहज सुन्दर शरीर, कुल, बल और ऐश्वर्य के निमित्त से आत्मा में अहंकार को उत्पन्न कराने वाला मद कहलाता है । रुचिकर वस्तुओं में परमप्रीति होना ही रति है । परम समरसीभाव की भावना से रहित जीवों को कहीं पर पूर्व काल में नहीं देखा हुआ ऐसा कुछ अपूर्व देख लेने से विस्मय होता है । केवल शुभ कर्म से देव पर्याय

कवित्वनिखिलजनताकर्णामृतस्यंदिसहजशरीर कुलबलैश्वर्यैरात्माहंकारजननो मदः । मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः । परमसमरसीभावभावनापरित्यक्तानां क्वचिदपूर्ववर्शनाद्विस्मयः । केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभकर्मणा, मायया, शुभाशुभमिश्रेण

में उत्पत्ति का होना, केवल अशुभकर्म से नरक पर्याय में उत्पत्ति का होना, माया से तिर्यंच पर्याय एवं शुभाशुभ के मिश्र से देवपर्याय में उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान ज्योति का अस्त हो जाना ही निद्रा है। इष्ट वियोग के होने पर घबराहट का होना उद्वेग है। इन महादोषों से तीनों लोक व्याप्त हो रहे हैं, इन दोषों से रहित वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ही हैं।

कहा भी है--"धर्म वही है जहां दया है, तप भी वही है जहां विषयों का निग्रह है, देव वही है जो अठारह दोषों से रहित है इसमें संदेह नहीं है।"

विशेषार्थ--तेरहवें गुणस्थान में साता-असातावेदनीय में से किसी एक की उदय व्युच्छित्ति होती है और चौदहवें गुणस्थान में शेष बची एक वेदनीय की व्युच्छित्ति होती है इसलिये प्रश्न यह होता है कि अन्य गुणस्थानों में जैसे साता-असाता के उदय से इन्द्रिय जन्य सुख तथा दुःख होता है वैसे केवली भगवान् के भी होना चाहिये और तब तो असातावेदनीय के निमित्त से होने वाली ग्यारह परीषह भी अरिहंत भगवान् के मानना चाहिये कहा भी है--'एकादशजिने'[1] जिनेन्द्र भगवान में ग्यारह परीषह हैं ऐसा सूत्रकार का वचन है। "वेदनीय के उदय का सद्भाव होने से उनके क्षुधा तृषा आदि का प्रसंग है। ऐसा नहीं कहना क्योंकि घातिकर्म के उदय की सहायता का अभाव हो गया है इसलिये इस वेदनीय में क्षुधा आदि बाधा को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रही है।" जैसे विष द्रव्य की मंत्र औषधि आदि के बल से मारण शक्ति नष्ट कर देने के बाद वह मरण के लिये कारण नहीं होता है उसी प्रकार से ध्यान अग्नि से घातिकर्म रूपी ईंधन को भस्म कर देने के बाद अनंत दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख के प्रगट हो जाने पर निरन्तर शुभ पुद्गल वर्गणायें आ रही हैं जिससे अरिहंत भगवान् के परमौदारिक शरीर की स्थिति कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक बनी रहती है। इसलिये वेदनीय कर्म यद्यपि विद्यमान है तो

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६१३, अध्याय ९।

देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपर्यायेषूत्पत्तिर्जन्म । दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा । इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेगः । एभिर्महादोषैर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः । एतैर्विनिर्मुक्तो वीतरागसर्वज्ञ इति ।

तथा चोक्तम्—

"सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो ॥"

भी मोहनीय कर्म की सहायता बिना सामर्थ्य रहित हो गया है अतः वह अपने योग्य क्षुधा, तृषा आदि परीषहों को उत्पन्न करने में असमर्थ है ।

इसी बात को गोम्मटसार कर्मकांड में भी कहा है—

"केवली' भगवान् के घातिया कर्म के अभाव में मोहनीय के भेद जो राग-द्वेष हैं वे नष्ट हो चुके हैं । ज्ञानावरण के नष्ट हो जाने से इंद्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान भी नष्ट हो चुका है इसलिये केवली भगवान के साता-असाता जन्य इंद्रिय विषय सुख-दुःख भी लेश मात्र नहीं होते है जिस कारण केवली भगवान् के एक सातावेदनीय का बंध सो भी एक समय की स्थिति वाला ही है, इस कारण वह उदय रूप ही है और इसी कारण असाता का उदय भी साता स्वरूप से ही परिणमन कर जाता है क्योंकि असातावेदनीय सहाय रहित होने से तथा बहुत हीन होने से मिष्ट जल में खारे जल की एक बून्द की तरह कुछ कार्य नहीं कर सकता । इस कारण से केवली के हमेशा सातावेदनीय का ही उदय रहता है इसीलिये असाता के निमित्त से होने वाली क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण, स्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह हैं वे जिनेन्द्र भगवान् के कार्य रूप नहीं होती हैं ।" यही कारण है कि अर्हंत भगवान् कवलाहारी नहीं हैं, वे क्षुधादि अठारह महादोषों से सर्वथा रहित हैं और अनंत चतुष्टय से सहित पूर्णतया सुखी हैं ।

---

१. णट्ठा य रागदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो । तेण दु सादा सादज सुहं दुक्खं णत्थि इन्दिय जं ॥२७३॥
समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स । तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥
एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ । तेणासाद णिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥२७५॥
[कर्मकांड]

तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दिस्वामिभिः—

(मालिनी)

"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै-
र्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति ।।"

तथाहि —

(मालिनी)

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरगिरिसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः ।।१३।।

उसी प्रकार श्री विद्यानंद स्वामि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—"अभिमत फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिये उनके प्रसाद से ही इष्ट–मोक्ष की सिद्धि होने से वे आप्त प्रबुद्ध–ज्ञानी जनों के द्वारा पूज्य होते हैं क्योंकि साधुजन किये हुये उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।"

(१३) **श्लोकार्थ**– जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं जिन्होंने उत्कृष्ट सद्बोध के राज्य–केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है जो काम रूपी पर्वत को नष्ट करने के लिये इन्द्र तुल्य हैं, दुष्ट अष्ट कर्म के समूह को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, श्रीकृष्ण जिनके चरणों में नत हैं और जो भव्य जीव रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, आनंद की भूमि–स्थान स्वरूप ऐसे नेमिनाथ भगवान हम सभी को सदैव सुख प्रदान करें ।

इस कलश की गाथा में १८ दोष रहित अरिहंत भगवान् का वर्णन किया गया है अतएव उनके गुणों से ओत प्रोत होकर टीकाकार ने नेमिनाथ भगवान् की स्तुति की है ।

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ।।७।।

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः ।
स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ।।७।।

जो इन सभी दोषों से रहित देव वही है ।
कैवल्य ज्ञान आदि परम विभवमयी है ।।
परमात्मा वो ही कहा जाता है भुवन में ।
जो इनसे भिन्न वो नहीं परमात्मा जग में ।।७।।

तीर्थंकरपरमदेवस्वरूपाख्यानमेतत् । आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयकर्माणि, तेषां निरवशेषेण प्रध्वंसान्निःशेषदोषरहितः अथवा पूर्वसूत्रोपात्ताष्टादशमहादोषनिर्मूलनान्निःशेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः । यस्त्वेवंविधः त्रिकालनिराव-

---

गाथा ७

अन्वयार्थ—[**निःशेषदोषरहितः**] जो उपर्युक्त संपूर्ण दोषों से रहित और [**केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः**] केवलज्ञान आदि परम वैभव से सहित हैं [**सः**] वह [**परमात्मा उच्यते**] परमात्मा कहलाते हैं । [**तद्विपरीतः**] उससे विपरीत [**परमात्मा न**] परमात्मा नहीं है ।

टीका—यह तीर्थंकर परमदेव के स्वरूप का आख्यान है—

जो आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं वे घातिकर्म कहलाते हैं, वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार हैं । जो इन घातिया कर्मों का परिपूर्णतया प्रध्वंस कर देने से निःशेष दोष से रहित होते हैं अथवा पूर्व गाथा सूत्र में कहे हुये अठारह महादोषों के जड़मूल से नष्ट हो जाने से अर्हन्त भगवान निःशेष दोष से रहित कहलाते हैं और सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, परम वीतरागस्वरूप आनन्द आदि अनेकों वैभव से समृद्ध होते हैं । जो इस प्रकार त्रिकाल निरावरण नित्य हो है एक आनंद स्वरूप जिसका ऐसे निजकारण परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा हो चुके हैं वे ही भगवान अर्हंत परमेश्वर हैं । इन

रणनित्यानंदैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः । अस्य भगवतः परमेश्वरस्य विपरीतगुणात्मकाः सर्वे देवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः :—

भगवान् परमेश्वर के विपरीत गुण वाले सभी देव के अभिमान से दग्ध हुये भी देव संसारी ही हैं यह अर्थ हुआ ।

विशेषार्थ—यहां यह बात स्पष्ट की है कि घाति कर्म के नाश से अष्टादश दोष समाप्त होते हैं और केवलज्ञानादि अनन्त गुण प्रगट होते हैं । इससे यह बात सिद्ध होती है कि संसार पूर्वक ही मोक्ष होती है । अनादिकाल से कर्ममल रहित–अस्पर्शित 'सदाशिव' नाम का कोई परमेश्वर नहीं है । आगे परमात्मा के लक्षण में टीकाकार ने कारण परमात्मा की भावना से कार्य परमात्मा होते हैं, शुद्ध निश्चयनय से प्रत्येक जीव की आत्मा त्रिकाल में आवरण रहित है, नित्य ही आनन्द रूप है वही कारण परमात्मा है ऐसा समझकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जब निश्चय नय के अवलम्बन से अपनी ऐसी आत्मा की भावना करते हुये अपने आप में तन्मय हो जाते हैं तब उनकी आत्मा ही परमात्मा बन जाती है । इसीलिये शुद्ध निश्चयनय के अवलम्बन स्वरूप आत्मा को कारण परमात्मा कहा है । यद्यपि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" के अनुसार सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं । चाहे वे सूक्ष्म निगोदिया एकेन्द्रिय हों अथवा वे अभव्य हों, चाहे मिथ्यादृष्टि–मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती हों या १४ वें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में हों उन सभी की आत्मा परमात्म स्वरूप है, किन्तु इतने मात्र से अभव्य या एकेन्द्रिय जीव आदि की आत्मा को क्या लाभ है, कुछ भी नहीं है निश्चयनय से सभी में कार्य परमात्मा ही है किन्तु उससे उन्हें कुछ आनन्द नहीं है अतएव सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा ही कारण परमात्मा बनकर कार्य परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं । ऐसी कारण परमात्मत्व से परिणत आत्मावस्था वीतराग निर्विकल्प ध्यानावस्था के समान होती है, यहां यह निष्कर्ष समझना चाहिये ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने भी अरिहन्त का लक्षण करते हुये कहा है—

"तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ।।"

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(शार्दूलविक्रीडित)

"कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।

गाथार्थ—"[1]तेज—भामण्डल, दर्शन, ज्ञान, ऋद्धि—समवशरणादि विभूति, सौख्य, ऐश्वर्य और त्रिभुवन में प्रधान वल्लभपना ऐसा माहात्म्य जिनके है वे अरिहन्त भगवान् हैं ।

भावार्थ—भामण्डल, तीनों जगत् और तीनों कालों की समस्त वस्तु को एक साथ देखने और जानने में समर्थ केवलदर्शन और केवलज्ञान, समवशरण का वैभव, अनन्तसुख इन्द्रादि भी जिनकी सेवा करें ऐसा ऐश्वर्य और त्रिभुवनाधीश का भी आधिपत्य ऐसा माहात्म्य जिनका है वे ही अर्हंत भगवान हैं ।

उसी प्रकार से अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

अर्थ—[2]जो अपनी कांति से ही दशों दिशाओं को स्नान करा रहे हैं, जो अत्यन्त उत्कट तेज को धारण करने वाले सूर्य के तेज को अपने तेज से रोक देते हैं, जो अपने रूप से सभी जनों के मन को चुराने वाले हैं, जो अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भव्यों के कानों में साक्षात् अमृत को झराते हुये सदृश सुख उत्पन्न करते हैं वे एक सहस्र आठ लक्षण को धारण करने वाले तीर्थेश्वर सूरि वंद्य हैं ।

भावार्थ— अरिहन्त भगवान के शरीर की कांति से सम्पूर्ण दिशायें स्वच्छ हो जाती हैं, तेज से करोड़ों सूर्यों का तेज छिप जाता है, रूप से सभी जन के मन

---

१. प्रवचनसार गाथा ८८/१ पृ० १६२ । इस गाथा को श्री जयसेनाचार्य ने भी कुन्दकुन्द देव कृत मानकर टीका की है और यहां श्री पद्मप्रभमलधारी देव भी कुन्दकुन्ददेव कृत कह रहे हैं ।

२. समयसार कलश—४० ।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ।।"

तथाहि—

(मालिनी)

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त-
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम् ।
तमपि किल यजेहं नेमितीर्थंकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥१४॥

मुग्ध हो जाते हैं और वाणी से सभी के कानों में अमृत झरने जैसा सुख उत्पन्न होता है और उनके शरीर में १००८ लक्षण शोभायमान हैं ऐसे तीर्थंकर परम देव जगत में सभी के लिये वंदना करने योग्य हैं, पूज्य एवं महान हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज ऐसे अरिहंत भगवान् की स्तुति में अपने को असमर्थ कहते हुये श्लोक द्वारा श्री नेमिनाथ की स्तुति करते हैं ।]

(१४) श्लोकार्थ—जिन भगवान के ज्ञान रूपी कमल के अन्तर्गत भ्रमर के समान यह सम्पूर्ण लोक और अलोक नित्य ही स्पष्टरूप से प्रतिभासित हो रहा है निश्चित ही मैं भी उन श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की पूजा करता हूं तो मैं अपनी दोनों भुजाओं से ऊंची-ऊंची उठती हुई लहरों वाले समुद्र को भी तैरना चाहता हूं ।

भावार्थ—जिस प्रकार भ्रमर कमल पुष्प के भीतर बैठकर छोटा सा प्रतीत होता है उसी प्रकार भगवान् के ज्ञान रूपी कमल में यह सारा लोक और अलोक छोटा सा प्रतीत होता है क्योंकि भगवान् के ज्ञान में यदि अनन्त भी ऐसे लोकालोक आ जावें तो भी समा सकते हैं । यदि ऐसे महान् नेमिनाथ की मैं स्तुति या भक्ति करना चाहता हूं तो मैं वास्तव में लहरों से व्याप्त ऐसे विशाल समुद्र को मात्र भुजाओं से तैरना चाहता हूं । अर्थात् मैं ऐसे नेमिनाथ की स्तुति करने में समर्थ नहीं हूं, असमर्थ ही हूं । इस गाथा में ग्रन्थकार ने आप्त को दोषरहित और केवलज्ञानादि अनन्तगुणों के वैभव से सहित बताया है और इसीलिये केवलज्ञान की महिमा गायी है ।

तस्स [1]मुहग्गदवयणं, [2]पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥

तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥८॥

इनके मुखारविंद से निकले हुए वचन ।
जो पूर्व अपर दोष रहित शुद्ध हैं वरण ॥
आगम ये नाम उसका ऋषियों ने बताया ।
उसमें कहे गये को तत्त्वार्थ है गाया ॥८॥

परमागमस्वरूपाख्यानमेतत् । तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजविनिर्गतचतुर-वचनरचनाप्रपंचः पूर्वापरदोषविरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्धिंसादि-पापक्रियाभावाच्छुद्धः परमागम इति परिकथितः । तेन परमागमामृतेन भव्यै श्रवणां-

---

गाथा ८

अन्वयार्थ—[**तस्य मुखोद्गतवचनं**] उन आप्त के मुख से निकले हुये जो वचन हैं [**पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धं**] जो पूर्वापर दोषों से रहित हैं, शुद्ध हैं [**आगमं इति परिकथितं**] उसे ही 'आगम' इस प्रकार कहा है [**तेन तु कथिताः तत्त्वार्थाः**] और उस आगम के द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वार्थ कहलाते हैं ।

टीका—यह परमागम के स्वरूप का कथन है—

उन आप्त परमेश्वर के मुखारविंद से निकले हुये कुशल वचन की रचना का विस्तार है वह पूर्वापर दोष से रहित है, उन भगवान् के राग का अभाव होने से पापसूत्र के समान हिंसादि पाप क्रियाओं का अभाव होने से जो शुद्ध है वह 'परमागम' इस नाम से कहा जाता है । वह परमागम भव्यों के द्वारा कर्ण रूपी अञ्जुलिपुट से पीने योग्य अमृत है, मुक्ति सुन्दरी के मुख को देखने के लिये दर्पण है, संसार रूपी महासमुद्र के महाभंवर में फंसे हुये सम्पूर्ण भव्य जीवों को हाथ का अवलम्बन देने

---

१. मुहग्गह (क) पाठान्तर ।
२. पुव्वापर (क) पाठान्तर ।

अलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरीमुखदर्पणेन संसरणवारिनिधिमहावर्तनिमग्नसमस्तभव्यजनतादत्तहस्तावलम्बनेन सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना अक्षुण्णमोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्मरभोगसमुद्भूताप्रशस्तरागांगारैःपच्यमानसमस्तदीनजनतामहाक्लेशनिर्णाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः खलु सप्ततत्त्वानि नव पदार्थाश्चेति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

वाला है, सहज–स्वाभाविक वैराग्य रूपी महल के शिखर का चूड़ामणि रत्न है, अक्षुण्ण–जो कभी नष्ट नहीं होगा ऐसा मोक्ष रूपी उत्तम भवन में पहुंचने के लिये पहली सीढ़ी है और कामभोग से उत्पन्न हुये जो अप्रशस्त राग रूपी अंगारे उनसे झुलसते हुये दीन प्राणियों के महान् क्लेश को जड़मूल से नष्ट करने में समर्थ ऐसा सजल मेघ है । इन विशेषणों से विशिष्ट ऐसे इस परमागम के द्वारा निश्चित रूप से सात तत्त्व और नव पदार्थ कहे गये हैं ।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से निकली हुई वाणी को परम आगम कहा है और उस परमागम को अमृत कहा है क्योंकि अमृत के समान यह भव्य जीवों को सन्तुष्ट करने वाला है । इसे दर्पण कहा है क्योंकि इस आगम रूपी दर्पण में मुक्ति का भी अवलोकन हो जाता है । इसे हस्तावलम्बन कहा है क्योंकि संसार समुद्र में डूबे हुये प्राणियों को सहारा देकर मोक्ष में पहुंचाता है । इसे शिखामणि कहा है क्योंकि वैराग्य महल के शिखर का शेखर है, इसे प्रथम सीढ़ी कहा है क्योंकि इसके बिना मोक्ष महल पर चढ़ नहीं सकते हैं और इसे सजल मेघ कहा है क्योंकि कामभोग या इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि अनेकों मानसिक, शारीरिक और आगंतुक दुःखों से उत्पन्न हुये संताप को क्षणमात्र में शमन करने में समर्थ है ऐसे माहात्म्य से युक्त इस परमागम से सप्त तत्त्व, नव पदार्थ का वर्णन किया जाता है वही 'तत्त्वार्थ' है । इस प्रकार आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

आगम के लक्षण में श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है—

(आर्या)

"अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।"

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः ।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः ।।१५।।

जीवा पोग्गलकाया, धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा, णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ।।९।।

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ च काल आकाशम् ।
तत्त्वार्था इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः ।।९।।

श्लोकार्थ—जो न्यूनता रहित, अधिकता रहित, और विपरीतता रहित जैसे का तैसा वस्तु के स्वरूप को संदेह रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाताओं ने सम्यग्ज्ञान कहा है। अर्थात् संशय विपर्यय और अनध्यवसाय, इन दोषों से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यहां न्यूनता और अधिकता से रहित का तात्पर्य अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों से रहित होना भी है।

[अब टीकाकार मुनिराज जिनवचन की प्रशंसा करते हुये उसकी वंदना करते हैं-]

(१५) **श्लोकार्थ**—जो जिनवचन ललित में ललित-मनोहर में भी मनोहर हैं, शुद्ध-पूर्वा पर बाधा से रहित हैं, निर्वाण का कारण जो भेदाभेद रत्नत्रय उसके लिये कारण हैं, समस्त भव्य जीवों के कानों के लिये अमृत स्वरूप हैं, भव रूपी वन में प्रज्वलित हुई दावानल की ज्वाला को शांत करने के लिये जल के समान हैं और जिनयोगियों के द्वारा सदा ही वन्दनीय हैं ऐसे जिन वचनों की मैं प्रतिदिन वन्दना करता हूं।

जो जीव पुद्गलकाय, धर्म औ अधर्म जो ।
आकाश और काल ये तत्त्वार्थ कहें जो ।।
नानागुणों व पर्ययों से युक्त ये रहें ।
इन ही सभी को द्रव्य नाम से मुनी कहें ।।९।।

अत्र षण्णां द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तम् । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनोवाक्कायायुरुच्छ्वासनिःश्वासाभिधानैर्दशभिः प्राणैः जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः संग्रहनयोऽयमुक्तः । निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीवः । व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणाज्जीवः ।

गाथा ९

अन्वयार्थ—[**जीवाः पुद्गलकायाः**] जीव, पुद्गलकाय [**धर्माधर्मौ**] धर्म, अधर्म [**कालः च आकाशं**] काल और आकाश ये छहों ही [**नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः**] विविध गुण पर्यायों से संयुक्त [**तत्त्वार्थाः इति भणिताः**] "तत्त्वार्थ" इस प्रकार से कहे गये हैं ।

टीका—यहां छहों द्रव्य के पृथक्–पृथक् नाम का कथन है—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र–कर्ण, मन–वचन–काय, आयु और श्वासोच्छ्वास इन नाम वाले दश प्राणों से जो जीता है, जीवेगा और पूर्व में जीवित था वह जीव है, यह संग्रह नय का कथन है । निश्चय से भाव प्राणों को धारण करने से जीव है और व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों को धारण करने से जीव है । शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधारभूत होने से 'कार्य शुद्ध जीव' है । असद्भूत व्यवहारनय से मति ज्ञान आदि विभावगुणों का आधारभूत होने से 'अशुद्ध जीव है' । शुद्ध निश्चयनय से सहजज्ञानादि परम स्वाभाविक गुणों का आधारभूत होने से 'कारण शुद्ध जीव है' । यह जीव चेतन है, इसके गुण भी चेतन हैं, यह अमूर्त है, इसके गुण भी अमूर्त हैं, यह शुद्ध है इसके गुण भी शुद्ध हैं, यह अशुद्ध है और इसके गुण भी अशुद्ध हैं, पर्यायें भी इसी प्रकार हैं ।

जो गलन और पूरण स्वभाव से सहित है वह पुद्गल है, यह श्वेत, पीत आदि वर्णों का आधार है अतः मूर्तिक है, इसके गुण भी मूर्तिक हैं, यह अचेतन है इसके गुण भी अचेतन हैं ।

शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः। अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वादशुद्धजीवः। शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः। अयं चेतनः। अस्य चेतनगुणाः। अयममूर्तः। अस्यामूर्तगुणाः। अयं शुद्धः। अस्य शुद्धगुणाः। अयमशुद्धः। अस्याशुद्धगुणाः। पर्यायश्च। तथा गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः। श्वेतादिवर्णाधारो मूर्तः। अस्य हि मूर्तगुणाः। अयमचेतनः। अस्याचेतनगुणाः। स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां स्वभावविभावगतिहेतुः धर्मः। स्वभावविभावस्थितिक्रियापरिणतानां तेषां

स्वभाव और विभावरूप गति की क्रिया में परिणत हुये जीव और पुद्गलों को स्वभाव-विभावरूप गति क्रिया में जो हेतु है वह धर्म द्रव्य है।

स्वभाव और विभावरूप स्थिति क्रिया में परिणत हुये उन्हीं जीव और पुद्गलों की स्थिति में जो हेतु है वह अधर्म द्रव्य है।

पांचों द्रव्यों को अवकाश दान स्वरूपवाला आकाश द्रव्य है।

पांचों द्रव्यों में जो वर्तना का हेतु है वह काल द्रव्य है।

धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन चारों अमूर्तिक द्रव्यों के गुण शुद्ध हैं और इनकी पर्यायें भी उसीप्रकार शुद्ध हैं।

विशेषार्थ—यहां पर छहों द्रव्यों का स्वरूप बताया है। उसमें टीकाकार ने सर्वप्रथम जीव द्रव्य का निरुक्ति पूर्वक अर्थ करते हुये कहा है कि जो निश्चयनय से चैतन्यरूप भावों से तथा व्यवहारनय से इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों से त्रिकाल में जीता है वह जीव है। अनन्तर इसके 'कार्यशुद्ध जीव, अशुद्ध जीव और कारणशुद्ध जीव' ऐसे तीन भेद किये हैं। इनमें से पूर्णतया व्यक्तरूप से शुद्ध ऐसे सिद्ध जीवों को 'कार्यशुद्ध जीव' कहा है। संसारी जीवों को 'अशुद्ध जीव' एवं शुद्ध निश्चयनय से संसारी जीवों में सहजज्ञानादि गुण शक्तिरूप से विद्यमान हैं इस दृष्टि से उनको 'कारण शुद्ध जीव' कहा है। आगे यह बताया है कि जीव चेतन, अमूर्तिक, शुद्ध अथवा अशुद्ध है, उसके गुण भी वैसे ही चैतन्य स्वरूप, अमूर्तिक, शुद्ध अथवा अशुद्ध हैं तथा पर्यायें भी उसी

स्थितिहेतुरधर्मः । पंचानामवकाशदानलक्षणमाकाशम् । पंचानां वर्तनाहेतुः कालः । चतुर्णाममूर्तानां शुद्धगुणाः, पर्यायाश्चैतेषां तथाविधाश्च ।

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाम्भोधिमध्यस्थरत्नं
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम् ।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६॥

प्रकार शुद्ध जीव को शुद्ध हैं और अशुद्ध जीव को अशुद्ध हैं । ऐसा नहीं हो सकता है कि जीव तो शुद्ध रहे और पर्यायें मात्र अशुद्ध रहें । यदि जीव द्रव्य शुद्ध है तो उसके गुण और उसकी पर्यायें भी शुद्ध ही रहेंगी और यदि पर्यायें अशुद्ध होंगी तो द्रव्य और उसके गुण अशुद्ध ही रहेंगे । हाँ ! शुद्ध निश्चयनय से संसार अवस्था में भी जीव द्रव्य शुद्ध है और उसके गुण तथा उसकी पर्यायें भी उसी नयविवक्षा से शुद्ध हैं ।

जिसमें परमाणु मिलते है और पृथक् होते रहते हैं वह पुद्गल है, यह मूर्तिक ही है । जीव द्रव्य कथंचित् शुद्ध निश्चयनय से अथवा व्यक्तरूप शुद्ध अवस्था में अमूर्तिक है और कर्मबंध से सहित होने से कथंचित् मूर्तिक भी है । शेष चारों द्रव्य अमूर्तिक ही हैं तथा शुद्ध गुण पर्यायों से सहित ही हैं उनमें अशुद्ध गुण पर्यायें नहीं होती हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज छहों द्रव्यों को रत्न की उपमा देकर उससे विभूषित होने का संकेत करते हुये श्लोक कहते हैं । —]

(१६) श्लोकार्थ — इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के मार्ग रूपी समुद्र के मध्य में स्थित रत्न के समान द्युति-किरणों के समूह से देदीप्यमान जो यह छह द्रव्यों का समूह है, जो भव्य तीक्ष्ण बुद्धि वाले भव्य जीव, भूषण के लिये अपने हृदय में धारण करता है वह मुक्ति श्री रूपी कामिनी का इच्छितवर हो जाता है ।

भावार्थ—यहां सम्यग्दर्शन के विषयभूत छह द्रव्यों का वर्णन है । आचार्य ने उन्हें ही 'तत्त्वार्थ' शब्द से कहा है । जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग तो रत्नत्रय है, उस

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होइ ।
णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणं ति ॥१०॥

जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति ।
ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥१०॥

उपयोगमय लक्षण सहित है जीव जगत में ।
उपयोग कहा ज्ञान व दर्शन द्विभेद में ॥
ज्ञानोपयोग दो प्रकार से हैं बताये ।
स्वभावज्ञान औ विभावज्ञान हैं गाये ॥१०॥

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम् । आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः । अयं धर्मः । जीवो धर्मी । अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत् । ज्ञानदर्शनविकल्पेनासौ द्विविधः । अत्र ज्ञानोपयोगोऽपि स्वभावविभावभेदाद् द्विविधो भवति । इह हि स्वभावज्ञानम् अमूर्तम् अव्याबाधम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम्, तच्च कार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति ।

रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन भी एक रत्न है जो कि प्रधान है और आप्त आगम तथा तत्त्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है इसलिये सम्यग्दर्शन के विषयभूत इन छह द्रव्यों को भी यहां रत्न कह दिया है । जो इन छह द्रव्यरूपी रत्नों का हार बनाकर गले में पहन लेते हैं उनको रत्नों के भूषण से भूषित देखकर मुक्ति लक्ष्मी वरण कर लेती है अर्थात् जो इन द्रव्यों के अर्थ को समझकर अपनी श्रद्धा का विषय बनाते हैं वे मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

गाथा १०

अन्वयार्थ—**[जीवः उपयोगमयः]** जीव उपयोगमय है । **[उपयोगः ज्ञानदर्शनं भवति]** उपयोग ज्ञान और दर्शनरूप है **[ज्ञानोपयोगः]** ज्ञानोपयोग **[स्वभावज्ञानं विभावज्ञानं इति द्विविधः]** स्वभावज्ञान और विभावज्ञान इसप्रकार से दो प्रकार का है।

टीका—यहां गाथा में उपयोग का लक्षण कहा गया है—

आत्मा के चैतन्य का अनुवर्तन करने वाला परिणाम उपयोग है । यह उपयोग धर्म है और जीव धर्मी है । इन धर्म और धर्मी का सम्बन्ध प्रदीप और प्रकाश के समान है । ज्ञान और दर्शन के भेद से यह उपयोग दो प्रकार का है । यहां पर ज्ञानोपयोग भी

कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम् । तस्य कारणं परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकाल-निरुपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात् । केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमतिकुश्रुतविभङ्ग-[नाम] धाञ्जि भवंति । एतेषाम् उपयोगभेदानां ज्ञानानां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्य इति ।

(मालिनी)

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा [प्रबुध्य]
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७॥

स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है । इनमें स्वभावज्ञान अमूर्तिक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनश्वर है और वह कार्य तथा कारण के भेद से दो प्रकार का होता है । सकल विमल केवलज्ञान कार्य स्वभावज्ञान है, उसका कारण परम पारिणामिकभाव में स्थित त्रिकाल निरुपाधिरूप सहजज्ञान है अर्थात् यह सहजज्ञान कारण स्वभावज्ञान है । केवल विभावरूप ज्ञान तीन हैं, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये उनके नाम हैं । इन उपयोग के भेदरूप ज्ञानों के भेद आगे कही गई दो सूत्र गाथाओं से जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—टीकाकार श्री मुनिराज ने स्वभावज्ञान को केवलज्ञान कहा है पुनः उसके कार्य और कारणरूप से दो भेद कर दिये हैं । व्यक्तरूप केवलज्ञान तो कार्य-ज्ञान है तथा शक्तिरूप केवलज्ञान कारणज्ञान है । अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से परमपारिणामिक भाव के अवलम्बन से अपनी आत्मा के ज्ञान को तीनों कालों में उपाधिरहित, शुद्ध समझना यह सहजज्ञान है यही केवलज्ञान के लिये बीजभूत कारण होने से कारण-ज्ञान कहा गया है यहां ऐसा समझना चाहिये ।

[अब टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ज्ञान के फल को बताते हुये श्लोक कहते हैं—]

(१७) श्लोकार्थ—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथितज्ञान के भेदों को जान करके परभावों का परिहार कर चुके हैं जो पुरुष परभावों से रहित हुये अपने स्वरूप में

केवलमिंदियरहिदं, असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे, विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं, मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं, मदियाई भेददो चेव ॥१२॥

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति ।
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधम् ॥११॥
संज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधयस्तथैव मनःपर्ययम् ।
अज्ञानं त्रिविकल्पं मत्यादिभेदतश्चैव ॥१२॥

इन्द्रिय रहित—अनीन्द्रिय असहाय है पर से ।
केवल सुनाम है स्वभावज्ञान स्वयं से ॥
जो है विभावज्ञान उसके भेद दो कहें ।
संज्ञान औ अज्ञान से सब जानते रहें ॥११॥

स्थित होते हुये चिच्चमत्कार मात्र आत्मा में शीघ्र ही प्रवेश करते हैं वे मुक्ति लक्ष्मी के पति हो जाते हैं ।

भावार्थ—पहले गाथा में आचार्य श्री ने छह द्रव्यों का वर्णन करने को कहा था सो यहां जीव द्रव्य के वर्णन में जीव का लक्षण उपयोग है इसके ज्ञान और दर्शन ये दो भेद हैं इत्यादि रूप से ज्ञान का वर्णन किया है । टीकाकार ने कलश में इसी आशय से यह कहा कि जो ज्ञान के भेदों को जानकर परभावों से रहित होते हुये अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में ही लीन हो जाते हैं वे मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

गाथा ११-१२

अन्वयार्थ—[**केवलम्**] जो ज्ञान केवल [**इंद्रियरहितं**] इन्द्रियों की सहायता से रहित [**असहायं**] असहाय है [**तत्स्वभावज्ञानं इति**] वह स्वभावज्ञान है । [**विभावज्ञानं**] विभावज्ञान [**संज्ञानेतरविकल्पे**] सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान के भेदरूप से [**द्विविधंभवेत्**] दो प्रकार का है ।

संज्ञान के हैं चार भेद सूरि बतायें।
मति श्रुत अवधि व मनःपर्ययों से कहाये ।।
अज्ञान के भी तीन भेद जान लीजिये।
मति श्रुत अवधि हि तीन को विपरीत कीजिये ।।१२।।

अत्र च ज्ञानभेदलक्षणमुक्तम्। निरुपाधिस्वरूपत्वात् केवलम्, निरावरणस्वरूपत्वात् क्रमकरणव्यवधानापोढम्, अप्रतिवस्तुव्यापकत्वात् असहायम्, तत्कार्यस्वभावज्ञानं भवति। कारणज्ञानमपि तादृशं भवति। कुतः, निजपरमात्मस्थितसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखसहजपरमचिच्छक्तिनिजकारणसमयसारस्वरूपाणि च युगपत् परिच्छेत्तुं समर्थत्वात् तथाविधमेव। इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुक्तम्।

टीका—यहां पर ज्ञान के भेद और लक्षण को कहा है।

उपाधिरहित स्वरूप वाला होने से जो केवल है, आवरण रहित स्वरूप वाला होने से क्रम और इन्द्रियों के व्यवधान-अंतर से रहित, अतीन्द्रिय है, एक-एक वस्तु में व्यापक नहीं होने से असहाय है अर्थात् समस्त वस्तुओं को एक साथ व्याप्त करके जान लेता है इसलिये असहाय है, वह कार्य स्वभावज्ञान होता है। कारण स्वभावज्ञान भी वैसा ही होता है। कैसे ? निजपरमात्मा में स्थित सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख, सहजपरमचैतन्य शक्तिरूप जो निजकारण समयसार के स्वरूप हैं उनको एक साथ जानने में समर्थ होने से वह कारण स्वभावज्ञान, कार्यस्वभावज्ञान के समान ही है इस प्रकार से शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा है।

अब ये शुद्ध-अशुद्ध ज्ञान के स्वरूप और भेद कहे जाते हैं। मतिज्ञान उपलब्धि भावना और उपयोग से तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से अथवा बहु, बहुविध आदि के भेद से अनेकों भेदों से सहित है। श्रुतज्ञान लब्धि और भावना के भेद से दो प्रकार का है। अवधिज्ञान देशावधि, सर्वावधि और परमावधि के भेद से तीन प्रकार का है और मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति तथा विपुलमति के विकल्प से दो प्रकार का है। परमभाव में स्थित सम्यग्दृष्टि के ये चार संज्ञान-सम्यग्ज्ञान होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्यादृष्टि को प्राप्त करके कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान इन भिन्न नामों को प्राप्त हो गये हैं।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्यते । अनेकविकल्पसनाथं मतिज्ञानम् उपलब्धिभावनोपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादिभेदाद्वा । लब्धिभावनाभेदाच्छ्रुतज्ञानं द्विविधम् । देशसर्वपरमभेदादवधिज्ञानं त्रिविधम् । ऋजुविपुलमतिविकल्पान्मनःपर्ययज्ञानं च द्विविधम् परमभावस्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतत्संज्ञानचतुष्कं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टि परिप्राप्य कुमतिकुश्रुतविभङ्गज्ञानानीति नामान्तराणि प्रपेदिरे । अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्वपरमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम् । केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम् । 'रूपिष्ववधेः' इति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम् । तदनन्तभागव-

---

इनमें सहजज्ञान शुद्ध अंतस्तत्त्व-शुद्ध चैतन्यतत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूप प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है "रूपिष्ववधेः" अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को विषय करता है, इस वचन से अवधिज्ञान विकल प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान के अनन्तवें भाग स्वरूप वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला होने से मनःपर्ययज्ञान भी विकल प्रत्यक्ष है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों भी परमार्थ से परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं ।

विशेष बात यह है कि इन उपर्युक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष के लिये मूलभूत, एक निजपरमतत्त्व में स्थित सहजज्ञान ही है । तथा च पारिणामिक भाव स्वभाव से भव्यजीवका परम स्वभाव होने से इस सहजज्ञान से भिन्न अन्य कुछ उपादेय नहीं है ।

यह सहजज्ञान कैसा है ?

(१) यह सहज चैतन्य का विलास रूप है (२) सहज परम वीतराग सुखामृत स्वरूप है (३) अप्रतिहत–विघ्नबाधा रहित निरावरण परम चैतन्य शक्तिरूप है । (४) सदा अन्तर्मुख होने से अपने स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज परम चारित्ररूप है (५) तीनों कालों में अविच्छिन्न रूप होने से सदा सन्निहित परम चैतन्यरूप के श्रद्धानरूप है ऐसे (निश्चयरत्नत्रय रूप से परिणत) सहजज्ञान के द्वारा स्वाभाविक अनन्त चतुष्टय से सनाथ और अनाथ जो मुक्ति सुन्दरी उसके नाथ ऐसी अपनी आत्मा की भावना करना चाहिये–अनुभव करना चाहिये ।

स्वभंशग्राहकत्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकलप्रत्यक्षम् । मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थतः परोक्षं व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति । किं च उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव । अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति । अनेन सहजचिद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्म्मामृतेन क्षप्रतिहतनिरावरणपरमचिच्छक्तिरूपेण सदान्तर्मुखे स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्वव्युच्छिन्नतया सदा सन्निहितपरमचिद्रूप-

---

'इसप्रकार संसाररूपी बेल के मूल को काटने के लिये 'हंसियारूप' इस कथन के द्वारा ब्रह्मस्वरूप आत्मा का उपदेश किया है ।

विशेषार्थ—श्री भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने गाथा में केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा है किन्तु टीकाकार ने उसके दो भेद कर दिये हैं कार्यस्वभावज्ञान, कारणस्वभावज्ञान । कार्यस्वभावज्ञान तो सकल पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला केवलज्ञान है और कारणस्वभावज्ञान शक्तिरूप केवलज्ञान है यह अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाला है अर्थात् वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से वीतरागी मुनि अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं यह वही कारणज्ञान है । यहां पर उसे ही सहजज्ञान कहा है उस सहजज्ञान के जो पांच विशेषण दिये गये हैं वे सभी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से हैं, इसीलिये वह केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान के समान कहा गया है । यह कारण स्वभावज्ञान शुद्धोपयोगी मुनियों के ही होना है और बारहवें गुणस्थान में अपने पूर्णस्वरूप से प्रगट होता हुआ तेरहवें गुणस्थान के कार्य स्वभावज्ञानरूप केवलज्ञान को प्रगट करके कारण शब्द के अर्थ को सार्थक कर देता है । चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में यह श्रद्धा का विषयमात्र है ।

आगे विभावज्ञान अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान के सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो भेद हैं । सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार भेद हैं और मिथ्याज्ञान के कुमति, कुश्रुत और विभंग की अपेक्षा तीन भेद हैं । अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि जीवों के मिथ्यात्व के निमित्त से ये ज्ञान कुज्ञान रूप परिणत हो रहे हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सिद्धान्त की अपेक्षा परोक्षज्ञान हैं और न्याय ग्रन्थों की अपेक्षा

श्रद्धानेन अनेन स्वभावानंतचतुष्टयेन सनाथम् अनाथमुक्तिसुन्दरीनाथम् आत्मानं भावयेत् । इत्यनेनाभ्यासेन संसारस्थितिमूललवित्रेण ब्रह्मोपदेशः कृत इति ।

(मालिनी)

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम् ।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति ॥१८॥

(अनुष्टुभ्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे ।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः ॥१९॥

व्यवहार में प्रत्यक्ष होने से इन्द्रियजन्य मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाता है अवधि और मनःपर्यय ये एक देश प्रत्यक्षज्ञान हैं ।

(१८) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार से कहे गये भेदज्ञान को प्राप्त करके भव्यजीव घोर संसार के मूलकारण पुण्य या पाप अथवा सुख और दुःख को अत्यन्त रूप से परिहार करें—छोड़ें, पुनः उसके बाद परिपूर्ण शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेंगे ।

(१९) **श्लोकार्थ**—बुद्धिमान् पुरुष परिग्रह के आग्रह को छोड़कर और अपने शरीरमात्र परिग्रह में उपेक्षा करके निराकुल चिन्मात्र शरीर वाली अपनी आत्मा की भावना करें ।

भावार्थ—पूर्व में सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके शरीरमात्र परिग्रह को ग्रहण करें पुनः वे मुनि शरीर से भी निर्मम होकर निराकुलता स्वरूप चिच्चैतन्य मात्र ही जिसका शरीर है ऐसी अपनी आत्मा की भावना करें—ध्यान करें । यहां यह अभिप्राय स्पष्ट है कि परिग्रह से लिप्त हुये श्रावक शरीर से उपेक्षित होकर अशरीरी आत्मा का ध्यान नहीं कर सकते हैं ।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्
द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात्पावनम् ।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम् ॥२०॥

(मंदाक्रांता)

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतानं
निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च ।
लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥२१॥

---

(२०) श्लोकार्थ—प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त राग का विलय हो जाने से, मोह का जड़ मूल से नाश हो जाने से तथा द्वेष रूपी जल से परिपूर्ण–भरे हुये मन रूपी घट के प्रध्वंस हो जाने से–फूट जाने से पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, उपाधिरहित, नित्य उदयरूप ऐसी ज्ञान ज्योति प्रगट होती है जो कि भेदज्ञान रूपी वृक्ष का उत्तम फल है, जगत् में मंगलरूप है और वंद्य है–सभी से वंदनीय है ।

भावार्थ—मोह, राग और द्वेष के निर्मूल विनाश हो जाने से केवलज्ञानरूपी परम ज्योति प्रगट होती है यह कर्मों की उपाधि से रहित जगत् में सर्वोत्तम है, सदैव ही उदयरूप है, कर्मरूपी बादल अब कभी इसे ढक नहीं सकते हैं इस केवलज्ञान का मूल भेद विज्ञान है इस भेद विज्ञान रूप वृक्ष से यह केवलज्ञान रूप फल उत्पन्न होता है । यह केवलज्ञान जगत् में सभी प्राणियों के लिये मंगल है और पूज्य है अतः सर्व-प्रयत्न करके सम्यक्त्व रूपी बीज को संयम रूपी भूमि में बो कर तपरूपी जल से सिंचित करते हुये भेदज्ञान रूपी वृक्ष को बढ़ाना चाहिये तब इस वृक्ष से केवलज्ञान रूप फल को प्राप्त कर सकेंगे यहां यह अभिप्राय हुआ ।

(२१) श्लोकार्थ—आनन्द से तन्मय–आनन्दस्वरूप, अव्याबाध–बाधाओं से रहित ऐसा सहज–स्वाभाविकज्ञान मोक्षे–मोक्ष में जयशील हो रहा है जिसकी सहज

(अनुष्टुभ्)

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम् ।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ।।२२।।

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहावमिदि भणिद ।।१३।।

तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः ।
केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः ।।१३।।

उसही तरह यह दर्शनोपयोग द्विविध है ।
स्वभाव दरश औ विभावदर्श कथित है ।।

इन्द्रिय रहित—अतीन्द्रिय असहाय जो रहे ।
उस ही स्वभावदर्श को केवलदरस कहें ।।१३।।

दर्शनोपयोगस्वरूपाख्यानमेतत् । यथा ज्ञानोपयोगो बहुविधविकल्पसनाथः तथा दर्शनोपयोगश्च । स्वभावदर्शनोपयोगो विभावदर्शनोपयोगश्च । स्वभावोऽपि

स्वाभाविक अवस्था प्रगट हो गई है जो अंतर्मुख—आत्मा के अंतरंग में प्रगट है, सहज विलास रूप चिच्चमत्कार मात्र अपनी आत्मा में लीन है—तन्मय है, जिसने अपनी ज्योति से सम्पूर्ण अंधकार अवस्था को नष्ट कर दिया है और जो नित्य-ही सुन्दर है ऐसा स्वाभाविक ज्ञान सम्पूर्ण मोक्ष में-कर्म रहित अवस्था में जयशील हो रहा है ।

(२२) **श्लोकार्थ**—सहज-स्वाभाविक ज्ञानरूपी साम्राज्य ही जिसका सर्वस्व है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय अपने आत्मा को जानकर मैं निर्विकल्प होऊँ ।

गाथा—१३

अन्वयार्थ—[**तथा**] उसीप्रकार [**दर्शनोपयोगः**] दर्शनोपयोग [**स्वस्वभावेतरविकल्पतः**] अपने स्वभाव और विभाव के भेद से [**द्विविधः**] दो प्रकार का है । [**केवलं**] जो केवल [**इन्द्रियरहितं**] इन्द्रियों से रहित और [**असहायं**] असहाय है [**तत्स्वभावः इति भणितः**] वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है ।

टीका—यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन है ।

द्विविधः, कारणस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति । तत्र कारणदृष्टिः सदा पावनरूपस्य औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावानामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य निरावरणस्वभावस्य स्वस्वभावसत्तामात्रस्य परमचैतन्यसामान्यस्वरूपस्य अकृत्रिमपरमस्वस्वरूपाविचलस्थितिसनाथशुद्धचारित्रस्य नित्यशुद्धनिरंजनबोधस्य

जैसे ज्ञानोपयोग बहुत प्रकार के भेदों से सहित है वैसे ही दर्शनोपयोग भी बहुत प्रकार के भेदों से सहित है। सबसे पहले उसके स्वभाव दर्शनोपयोग और विभाव-दर्शनोपयोग ऐसे दो भेद हैं। स्वभाव के भी कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव ऐसे दो भेद हैं। उसमें कारणदर्शनोपयोग शुद्ध आत्मा के स्वरूप का श्रद्धानमात्र ही है। शुद्ध आत्मा का स्वरूप कैसा है? (१) सदा पावनरूप (२) औदयिक आदि चारों जो कि विभाव स्वभाव रूप परभाव हैं उनके अगोचर (३) सहज परमपारिणामिक भाव स्वरूप (४) कारण समयसार स्वरूप (५) निरावरण स्वभावरूप (६) अपने स्वभाव-की सत्तामात्र (७) परम चैतन्य का सामान्य स्वरूप (८) अकृत्रिम परम अपने स्वरूप में अविचल स्थिति से सहित शुद्ध चारित्ररूप (९) नित्यशुद्धनिरञ्जन ज्ञानरूप और (१०) अखिल दुष्ट पाप रूप वीर वैरी की सेना की ध्वजा को विध्वंस करने में कारण स्वरूप ऐसा है। ऐसी आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान मात्र ही निश्चित रूप से कारण-स्वभाव दर्शनोपयोग है।

दूसरा कार्यदर्शनोपयोग, दर्शनावरण और ज्ञानावरण प्रमुख घाति कर्मों के क्षय से ही उत्पन्न होता है। यह कार्यदर्शनोपयोग किसके होता है? जो निश्चित ही क्षायिक जीव हैं, सकलविमलकेवलज्ञान के द्वारा तीनों भुवनों को जानने वाले हैं, अपनी आत्मा से उत्पन्न परम वीतराग सुखरूपी अमृत के समुद्र हैं, यथाख्यात नामक कार्यरूप शुद्धचारित्र स्वरूप हैं, सादि सान्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय स्वरूप हैं, त्रैलोक्य के भव्य जीवों के द्वारा प्रत्यक्ष वंदना के योग्य हैं इन विशेषणों से विशिष्ट जो तीर्थंकर परमदेव हैं उनके केवलज्ञान के समान युगपत् लोकालोक को व्याप्त करने वाला यह दर्शनोपयोग—केवलदर्शन भी होता है। इस प्रकार कार्य और कारण रूप से स्वभाव दर्शनोपयोग को कहा है। विभाव दर्शनो-पयोग भी उत्तर सूत्र में वर्णित है उसे वहीं पर दिखायेंगे।

निखिलदुरघवीरवैरिसेनाबैजयन्तीविध्वंसकारणस्य तस्य खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव। अन्या कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातैव। अस्य खलु क्षायिकजीवस्य

विशेषार्थ—यहां श्री गाथा में आचार्यवर्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने स्वभावदर्शन से केवलदर्शनको ग्रहण किया है किन्तु टीकाकार ने स्वभावदर्शनोपयोग को स्वभावदृष्टि शब्द से कहा है और उसके कार्यदृष्टि तथा कारणदृष्टि ऐसे दो भेद कर दिये हैं। उसमें कार्यदृष्टि तो व्यक्त हुआ केवलदर्शन ही है और कारणदृष्टि से अपने आत्मा के श्रद्धानरूप परिणाम को विवक्षित किया है। तथा इसे निश्चय सम्यक्त्व रूप से घटित किया है। शुद्धनिश्चयनय से जो आत्मा का शुद्धस्वरूप है जो कि सम्पूर्ण कर्मोपाधि से रहित सिद्धों के स्वरूप के समान है उस शुद्ध स्वरूप का श्रद्धानमात्र ही कारण दृष्टि है ऐसा स्पष्ट किया है यह कारण स्वभाव दृष्टि भी शुद्धोपयोगी महामुनियों के ही हो सकेगी। इसी प्रकार से दर्शनोपयोग को सम्यक्त्व रूप से घटित करने का प्रकरण परमात्मप्रकाश में भी देखा जाता है। तद्यथा—

"सयलपयत्थहँ जं गहणु जीवहँ अग्गिमु होइ।
वत्थुविसेस विवज्जियउ तं णियदंसणु जोइ ॥३४॥"[1]

अर्थ—जो जीवों के ज्ञान के पहले सकल पदार्थों का वस्तु विशेष से रहित ग्रहण होता है उसे तुम निजदर्शन जानो।

टीकाकार श्री ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं—

जो सम्पूर्ण पदार्थ ग्रहण—अवलोकन जीवों के होता है, जो कि सविकल्प ज्ञान के पूर्व होता है वह अवलोकन 'यह शुक्ल है' इत्यादि विकल्प से रहित उसे ही तुम निज आत्मा का दर्शन—अवलोकन जानो। यहां पर प्रभाकर भट्ट मुनिराज प्रश्न करते हैं कि "आपने निज आत्मा के अवलोकन को दर्शन कहा और यह सत्तावलोकन दर्शन तो मिथ्यादृष्टि जीवों में भी है उन्हें भी मोक्ष हो जावेगी।" इसका परिहार करते हैं कि चक्षु—अचक्षु—अवधि और केवल के भेद से दर्शन के चार भेद हैं। इन

---

१. परमात्म प्रकाश पृ. १५४ से १५६।

सकलविमलकेवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य स्वात्मोत्थपरमवीतरागसुखसुधासमुद्रस्य यथाख्याताभिधानकार्यशुद्धचारित्रस्य साद्यनिधानामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकस्य त्रैलोक्यभव्यजनताप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य केवलज्ञानवदियमपि-

---

चारों में से जो मानस अचक्षु दर्शन है वह आत्मा को ग्रहण करने वाला है और वह दर्शन मिथ्यात्वादि सप्त प्रकृतियों के उपशम-क्षयोपशम अथवा क्षय से जनित तत्त्वार्थ-श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व के अभाव से 'शुद्धात्म तत्त्व ही उपादेय है' इसप्रकार के श्रद्धान के अभाव में उन मिथ्यादृष्टि जीवों के नहीं होता है ऐसा भावार्थ है। आगे और भी कहते हैं—

"दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहँ विण्णाणु।
वत्थुविसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥३५॥"

अर्थ—जो जीवों का ज्ञान है वह निश्चित ही दर्शन पूर्वक होता है, वह ज्ञान वस्तु के विशेष को जानने वाला है, हे जीव ! उस ज्ञान को तुम अविचल जानो।

टीका— जीवों के सामान्यग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकन दर्शन पूर्वक विज्ञान होता है और वह ज्ञान वस्तु के विशेष को-वर्ण, संस्थान आदि विकल्प पूर्वक वस्तु को जानना है। हे जीव ! तुम उस ज्ञान को अविचल-संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानो। यहां पर दर्शन पूर्वक ज्ञान का व्याख्यान किया है। यद्यपि शुद्धात्मभावना के व्याख्यान में वह प्रस्तुत नहीं है फिर भी भगवान् श्री योगिन्द्रदेव ने कहा है। क्यों कहा है ? चक्षु-अचक्षु अवधि और केवल के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है। इन चारों में दूसरा जो मानसरूप निर्विकल्प अचक्षुदर्शन है वह जिसप्रकार भव्य जीव के दर्शनमोह और चारित्रमोह के उपशम-क्षयोपशम या क्षय का लाभ होने पर शुद्धात्मा की रुचि रूप वीतराग सम्यक्त्व होता है और इसी प्रकार से शुद्धात्मानुभूति की स्थिरता लक्षण वीतराग चारित्र होता है उस काल में वह पूर्वोक्त सत्तावलोकन लक्षण मानस निर्विकल्प दर्शन पूर्वोक्त निश्चय सम्यक्त्व और निश्चयचारित्र के बल से निर्विकल्प निजशुद्धात्मानुभूति ध्यान का सहकारी कारण होता है और वह पूर्वोक्त भव्य जीव के ही, न कि अभव्य जीव के। क्यों ? क्योंकि अभव्य के निश्चय सम्यक्त्व और चारित्र का अभाव है ऐसा भावार्थ हुआ।

युगपल्लोकालोकव्यापिनो । इति कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः । विभाव-दर्शनोपयोगोप्युत्तरसूत्रस्थितत्वात् तत्रैव द्रष्टव्य इति ।

(इंद्रवज्रा)

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव
चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम् ।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चै-
रेतेन मार्गेण विना न मोक्षः ॥२३॥

निष्कर्ष यह निकला कि यहां पर भी दो दोहक सूत्र की टीका में आचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि दर्शनोपयोग का जो एक भेद मानस अचक्षुदर्शन है वह आत्म स्वरूप को ग्रहण करने वाला है निजशुद्धात्मानुभूति के ध्यान में वह सहायक कारण होता है । उसीप्रकार यहां पर भी नियमसार की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने 'दर्शनोपयोग के लक्षण में स्वरूप के श्रद्धानमात्र को ही कारणदृष्टि शब्द से कहा है अर्थात् कारणस्वभाव दर्शन रूप कहा है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज श्लोक कहते हैं—]

(२३) **श्लोकार्थ**— सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वरूप एक ही चैतन्य-सामान्य अपना आत्म तत्त्व है । मुक्ति की इच्छा करने वालों के लिये अतिशय रूप से वह मार्ग है क्योंकि इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है । अभेद रत्नत्रय में भी इन तीनों की ऐकाग्र्य परिणति होती है वही चैतन्यसामान्य निजात्म तत्त्व है उस अद्वैत रूप तत्त्व को प्राप्त किये बिना मोक्ष नहीं हो सकती है ।

१—कुछ लोग दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व के लेने से चौंक उठते हैं और ग्रन्थकार को असत्यभाषी एवं अप्रमाणिक कहने का भी अतिसाहस कर बैठते हैं किन्तु उन्हें इन अन्य ग्रंथों का तद्वत् अर्थ देखकर ग्रन्थकारों के प्रति अश्रद्धा नहीं करना चाहिये । ये सिद्धान्तग्रन्थ नहीं हैं आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं । इनकी अपेक्षाओं को समझना चाहिये ।

चक्खु अचक्खू ओही, तिण्णि वि भणिदं विभावदिट्ठित्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो, सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

चक्षूरचक्षूरवधयस्तिस्रोपि भणिता विभावदृष्टय इति ।
पर्यायो द्विविकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः ॥१४॥

चक्षु अचक्षु अवधीदर्शन ये तीन हैं ।
ये ही विभावदर्शन के भेद तीन हैं ।
पर्याय के दो भेद हैं इस ग्रन्थ में गाये ।
वे तो स्वपर सापेक्ष औ निरपेक्ष कहाये ॥१४॥

अशुद्धदृष्टिशुद्धाशुद्धपर्यायसूचनेयम् । मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन यथा मूर्तं वस्तु जानाति तथा चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्तं वस्तु पश्यति च । यथा श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रव्यश्रुतनिगदितमूर्तामूर्तसमस्तं वस्तुजातं

गाथा १४

अन्वयार्थ [**चक्षुरचक्षुरवधयः**] चक्षु दर्शन–अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन [**तिस्रः अपि**] ये तीनों भी [**विभावदृष्टयः**] विभाव दर्शन [**इति भणिताः**] कहे गये हैं । [**स्वपरापेक्षः च निरपेक्षाः**] स्व–पर की अपेक्षा से सहित और स्वपर की अपेक्षा से रहित–निरपेक्ष [**पर्यायः द्विविधः**] ऐसी पर्यायें दो प्रकार की हैं ।

टीका— इस गाथा में अशुद्ध दर्शनोपयोग को तथा शुद्ध और अशुद्ध पर्याय की सूचना है ।

जैसे मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से (जीव) मूर्तिक वस्तु को जानता है उसीप्रकार चक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव मूर्तिक वस्तु को देखता है । जिस प्रकार से श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से श्रुत के द्वारा द्रव्यश्रुत में कथित मूर्तिक–अमूर्तिक समस्त वस्तु समूह को जीव परोक्षरूप से जानता है उसी प्रकार से अचक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों के द्वारा उन–उन इन्द्रिय के योग्य विषयों को देखता है । जिसप्रकार अवधि-

परोक्षवृत्त्या जानाति तथैवाचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रद्वारेण तत्तद्योग्यविषयान् पश्यति च । यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन शुद्धपुद्गलपर्यंतं मूर्तद्रव्यं जानाति तथावधिदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तमूर्तपदार्थं पश्यति च । अत्रोपयोगव्याख्यानानन्तरं पर्यायस्वरूपमुच्यते । परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः । अत्र स्वभावपर्यायः षड्द्रव्यसाधारणः अर्थपर्यायः अवाङ्मनसगोचरः अतिसूक्ष्मः आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योऽपि च षड्ढानिवृद्धिविकल्पयुतः अनंतभागवृद्धिः

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से शुद्ध (परमाणु रूप) पुद्गल पर्यंत मूर्त द्रव्य को जीव जानता है उसीप्रकार अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव समस्त मूर्तिक पदार्थों को देखता है ।

अब यहां पर उपयोग के व्याख्यान के अनन्तर पर्याय के स्वरूप को कहते हैं—

जो 'परि–समंतात्' अर्थात् सब ओर से भेदं एति–गच्छति अर्थात् भेद को प्राप्त होती है सो पर्याय है । इसप्रकार से यहां पर्याय का व्युत्पत्ति से सिद्ध अर्थ कहा है । उसमें षट्द्रव्यों में साधारण रूप रहने वाली जो अर्थपर्याय है उसे स्वभावपर्याय कहते हैं वह वचन और मन के अगोचर है, अतिसूक्ष्म है फिर भी आगमप्रमाण से जानने योग्य है और छह प्रकार की हानि तथा छह प्रकार की वृद्धि के भेदों से सहित है । छह वृद्धि के नाम—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये वृद्धि के भेद हैं ऐसे ही हानि के भी छह भेद समझना चाहिये । अर्थात् अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि ।

नर-नारक आदि व्यंजन पर्याय को अशुद्ध–विभाव पर्याय कहते हैं ।

विशेषार्थ—यहां गाथा में भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव ने तीन प्रकार के क्षयोपशम दर्शन को विभाव दर्शन कहा है । टीकाकार ने मति–श्रुत और अवधिज्ञान से तुलना करते हुये इन तीनों के लक्षण को स्पष्ट कर दिया है । पुनः गाथा में पर्याय का वर्णन करते हुये उसके दो भेद करके संक्षेप में उन दोनों के लक्षण को भी सूचित कर दिया है । प्रथम पर्याय तो स्वपर सापेक्ष है और पर्याय का दूसरा भेद स्वपर

असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यात गुणवृद्धिः अनन्त-गुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते। अशुद्धपर्यायो नरनारकादिव्यंजनपर्य्याय इति।

(मालिनी)

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेकं
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम्।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२४॥

(मालिनी)

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूत्तमानां
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूलसत्वम् ॥२५॥

निरपेक्ष है। आगे स्वयं ग्रन्थकार पर्याय के स्वभाव और विभाव ऐसे भेद करके उनके उदाहरण बताकर उनका लक्षण स्पष्ट करते हैं।

[अब टीकाकार विभाव पर्यायों से सहित जीवों को शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना की प्रेरणा देते हुये तीन श्लोक कहते हैं—]

(२४) **श्लोकार्थ**— जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि पुरुष परभावों के होने पर भी सहज गुणरूपी मणियों की खान स्वरूप तथा पूर्ण ज्ञान रूप ऐसी अपनी शुद्धात्मा को भजता है (आश्रय लेता है) वह मुक्ति श्री रूपी कामिनी का वल्लभ होता है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने गाथा में विभाव दर्शनोपयोग के तीन भेद और उनके लक्षण बतलाये हैं पुनः पर्याय का कथन करते हुये अर्थ और व्यञ्जन के भेद से पर्याय के दो भेद किये हैं। इनमें अर्थपर्याय को शुद्ध पर्याय एवं व्यञ्जन पर्याय को अशुद्ध-पर्याय कहा है।

(२५) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार पर गुण और पर पर्यायों के होने पर भी उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में कारण आत्मा विराजमान है। हे भव्योत्तम! अपने

(पृथ्वी)

क्वचिन्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्धपर्य्यायकैः ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं ।
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयै सदा ॥२६॥

से ही उत्पन्न परमब्रह्म रूप उस समयसार को तू शीघ्र भज, जिसे कि तू भज रहा है ।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा में मतिज्ञान आदि विभावगुण और नर नारकादि विभाव पर्यायें विद्यमान हैं फिर भी आचार्य कहते हैं कि इन विभाव गुण पर्यायों के विद्यमान रहने पर भी उत्तम पुरुषों–अंतरात्मा भव्य जीवों के द्वारा हृदय कमल में कारण आत्मा–बीजरूप परमात्मा विराजमान है । आचार्य सम्बोधन करते हुये प्रेरणा देते हैं कि भव्य सिंह ! अपने से ही उत्पन्न परमब्रह्म स्वरूप और समयसार स्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा को भजो–अपनी आत्मा का ही ध्यान करो । वास्तव में 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इस कथन के अनुसार सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं ऐसा समझकर अपनी आत्मा को शुद्ध समझ उसी का ध्यान करो । संसारी जीवों की आत्मा है वही परमात्मा के लिये कारणस्वरूप कारण आत्मा कहलाती है और जब परमात्म अवस्था प्रगट हो जाती है तब वही आत्मा कार्य आत्मा कहलाती है । इसलिये देह रूपी देवालय में भगवान् आत्मा विराजमान है तुम उसी का ध्यान करो ऐसा यहां अभिप्राय है ।

(२६) **श्लोकार्थ**—यह जीव तत्त्व कहीं पर अपने सद्गुणों से शोभायमान हो रहा है और कहीं अशुद्ध गुणों से दिख रहा है । कहीं पर स्वभाव पर्यायों से शोभित हो रहा है और कहीं पर अशुद्ध पर्यायों से शोभ रहा है । इन सभी से सहित होने पर भी इन सबसे रहित है ऐसे इस जीव तत्त्व को मैं सदा सकल अर्थ की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूं और उसी तत्त्व की ही भावना करता हूं ।

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ।।१५।।

नरनारकतिर्यक्सुराः पर्य्यायास्ते विभावा इति भणिताः ।
कर्मोपाधिविवर्जितपर्य्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः ।।१५।।

नर, नारकी तिर्यंच देव के जनम धरें।
इनका विभाव पर्ययों से सब कथन करें।।
कर्मों की उपाधि से रहित जो हैं दशायें।
उनको स्वभाव पर्ययों से साधु बतायें।।१५।।

स्वभावविभावपर्यायसंक्षेपोक्तिरियम्। तत्र स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति। इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानंतचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपंचम-

---

गाथा १५

अन्वयार्थ—[**नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायाः**] नर, नारक, तिर्यंच और देवरूप जो पर्यायें हैं [**ते विभावाः**] वे विभावपर्याय [**इति भणिताः**] इसप्रकार कही गई हैं। [**कर्मोपाधिविवर्जित पर्यायाः**] कर्मों की उपाधि से रहित जो पर्यायें हैं [**ते स्वभावाः**] वे स्वभाव पर्यायें [**इति भणिताः**] इस प्रकार कही गई हैं।

टीका—यह स्वभाव और विभाव पर्यायों का संक्षेप कथन है।

उन स्वभाव और विभाव पर्यायों में से सर्वप्रथम स्वभाव पर्याय को दो प्रकार से कहते हैं—(१) कारण शुद्ध पर्याय (२) कार्य शुद्ध पर्याय। यहां पर सहज शुद्ध निश्चयनय से अनादि अनन्त, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय स्वभावरूप, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तस्तत्त्व–शुद्ध चैतन्य तत्त्वरूप जो स्वाभाविक अनन्त चतुष्टय स्वरूप है उसके साथ सुशोभित पंचमभाव–पारिणामिक भाव की परिणति ही कारण शुद्ध पर्याय है यह अर्थ हुआ।

सादि सांत, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति–वीर्य से युक्त फल रूप जो अनन्त

भावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । साद्यनिधनामूर्तातींद्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तिपुक्तफलरूपानंतचतुष्टयेन सार्द्धं परमोत्कृष्टक्षायिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । अथवा पूर्वसूत्रोपात्तसूक्ष्मऋजुसूत्रनयाभिप्रायेण षड्द्रव्यसाधारणाः सूक्ष्मास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः । उक्तः समासतः शुद्धपर्यायविकल्पः ।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते । व्यंज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः । कुतः, लोचनगोचरत्वात् पटादिवत् । अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात् ।

चतुष्टय हैं उनके साथ रहने वाली परमोत्कृष्ट क्षायिक भाव की शुद्ध परिणति ही कार्य शुद्ध पर्याय है । अथवा पूर्वसूत्र में ग्रहण किये गये सूक्ष्म ऋजु सूत्र नय के अभिप्राय से षट् द्रव्यों में साधारण रूप से रहने वाली जो सूक्ष्म अर्थ पर्यायें हैं वे ही शुद्ध पर्यायें हैं ऐसा समझना चाहिये । इसप्रकार से यहां पर संक्षेप में शुद्ध पर्यायों को कहा है ।

अब व्यञ्जन पर्याय को कहते हैं, 'व्यंज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यंजनपर्यायः'—जिसके द्वारा व्यक्त होता है—प्रकट किया जाता है वह व्यंजन पर्याय है । क्यों ? क्योंकि वह नेत्र के गोचर होती है, वस्त्रादि के समान । अथवा वे पर्यायें सादि-सान्त, मूर्तिक विजातीय विभाव रूप हैं तथा दिखने योग्य हैं और विनाश स्वरूप हैं ।

अब उन व्यञ्जन पर्याय के उदाहरण दिखाते हैं—

पर्याय धारण करने वाली ऐसी जो पर्यायी आत्मा है उस आत्मा के (आत्म स्वरूप के) ज्ञान बिना पर्याय स्वभाव होने वाला होने से यह जीव शुभ-अशुभ और मिश्र परिणाम के द्वारा व्यवहारनय से मनुष्य हो गया उसके जो मनुष्य का आकार है वही मनुष्य पर्याय है । केवल अशुभ कर्म के द्वारा व्यवहारनय से आत्मा नरकगति में उत्पन्न होकर नारकी हो गया उसके वह नारक का आकार ही नारक पर्याय है । किंचित् शुभ मिश्रित माया परिणाम से व्यवहारनय की अपेक्षा तिर्यंच के शरीर में उत्पन्न आत्मा का जो आकार है वह तिर्यंच पर्याय है । केवल शुभ कर्म के द्वारा

व्यंजनपर्यायश्च—पर्यायषट्कात्मबोधमन्तरेण पर्यायस्वभावाच्छुभाशुभमिश्रपरिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः तस्य नराकारो नरपर्यायः। केवलेनाशुभकर्मणा व्यवहारेणात्मा नारको जातः तस्य नारकाकारो नारकपर्यायः। किंचिच्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्कायजो व्यवहारेणात्मा तस्याकारस्तिर्यक्पर्यायः। केवलेन शुभकर्मणा व्यवहारेण आत्मा देवस्तस्याकारो देवपर्यायश्चेति। अस्य पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यागमान्तरे द्रष्टव्य इति।

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसाराच्चान्यदस्तीति मत्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२७॥

व्यवहारनय से आत्मा देव हो जाता है उस देव के आकार को देव पर्याय कहते हैं। इन पर्यायों का विस्तार अन्य आगम ग्रन्थों में देखना चाहिये।

विशेषार्थ– ग्रन्थकार ने गाथा में कर्मोपाधि सहित पर्याय को विभाव पर्याय एवं कर्मोपाधि रहित पर्याय को स्वभाव पर्याय कहा है। टीकाकार ने स्वभाव पर्याय के भी कारण शुद्ध पर्याय और कार्यशुद्धिपर्याय ऐसे दो भेद किये हैं। उसमें सिद्धपर्याय को कार्यशुद्धपर्याय और स्वाभाविक शुद्ध निश्चयनय से सिद्ध के सदृश आत्मा का जो शुद्धस्वरूप है उसमें तन्मय रूप जो शुद्धोपयोग की अवस्था है उस समय बाह्य संकल्प विकल्प से रहित जीव की परम पारिणामिक भाव रूप से जो परिणति होती है जहां पर ध्यान–ध्याता और ध्येय का विकल्प ही नहीं रह जाता है उस समय कारण शुद्ध पर्याय कहलाता है। यह पर्याय भी पूर्णतया बारहवें गुणस्थान में ही घटित होवेगी और बुद्धि पूर्वक संकल्प विकल्प के न होने से सातवें गुणस्थान की निर्विकल्प अवस्था से भी अंशात्मक रूप से मानी जा सकती है।

[अब टीकाकार विभाव पर्यायों के विद्यमान रहने पर सम्यग्दृष्टि के परमतत्त्व के अभ्यास–ध्यान की महिमा को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं–]

(२७) श्लोकार्थ—सहज परमतत्त्व के अभ्यास में प्रवीण है बुद्धि जिसकी ऐसा भेद विज्ञानी यह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव बहुत प्रकार के विभावों के होने पर भी

माणुस्सा दुवियप्पा, कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया, णादव्वा पुढविभेदेण ॥१६॥
चउदहभेदा भणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वम् ॥१७॥

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः ।
सप्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ॥१६॥
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यंचः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ॥१७॥

जो कर्मभूमिया व भोगभूमिया कहें ।
मनुजों के ये दो भेद इनमें मुक्ति इक लहें ॥
नीचे की सात भूमियों में नारकी रहें ।
इन भूमि भेद से ये सात भेद को लहें ॥१६॥
तिर्यंच के चौदह कहे हैं भेद आर्ष में ।
सुरगण के चार भेद भी माने हैं आप्त ने ॥
जीवों का ये विस्तार तो बहुविध से है कहा ।
लोकानुयोग ग्रन्थ में है देखिये वहाँ ॥१७॥

समयसार से भिन्न यह कुछ नहीं है इसप्रकार मान कर वह शीघ्र ही मुक्ति लक्ष्मी का वर हो जाता है ।

गाथा १६-१७

अन्वयार्थ—[कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः] कर्मभूमि में उत्पन्न हुये और भोग भूमि में उत्पन्न हुये **[मानुषाः द्विविकल्पाः]** मनुष्य दो प्रकार के होते हैं **[पृथिवी भेदेन]** पृथ्वी के भेद से **[नारकाः]** नारकी **[सप्तविधाः ज्ञातव्याः]** सात प्रकार के जानने चाहिये **[तिर्यंचः चतुर्दशभेदाः भणिताः]** तिर्यंच जीव चौदह भेद सहित कहे गये हैं **[सुरगणाः चतुर्भेदाः]** देवगण चार भेद वाले हैं । **[एतेषां विस्तारः]** इन चारों गतियों के जीवों का विस्तृत वर्णन **[लोकविभागेषु ज्ञातव्यः]** लोकविभाग आदि लोकानुयोग के ग्रन्थों से जान लेना चाहिये ।

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेतत् । मनोरपत्यानि मनुष्याः । ते द्विविधाः कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्चेति । तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः आर्याः म्लेच्छाश्चेति । आर्याः पुण्यक्षेत्रवर्तिनः । म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः एकद्वित्रिपल्योपमायुषः । रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमो-महातमःप्रभाभिधानसप्तपृथ्वीनां भेदान्नारकजीवाः सप्तधा भवन्ति । प्रथमनरकस्य

टीका—यह चतुर्गति के स्वरूप निरूपण का कथन है ।

मनु की संतान को मनुष्य कहते हैं । वे कर्मभूमिज और भोगभूमिज के भेद से दो प्रकार के हैं । उनमें भी कर्मभूमिज मनुष्यों के दो भेद हैं—(१) आर्य (२) म्लेच्छ । पुण्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले आर्य कहलाते हैं और पाप क्षेत्र में जन्म लेने वाले म्लेच्छ कहलाते हैं । भोगभूमिज मनुष्य 'आर्य' इस नाम को धारण करने वाले होते हैं; ये जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि रूप क्षेत्र में जन्म लेने वाले क्रमशः एक पल्योपम, दो पल्योपम और तीन पल्योपम की आयु वाले होते हैं ।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा इन नाम वाली सप्त पृथिवियों के भेद से नारकी जीव सात प्रकार के होते हैं । प्रथम नरक के नारकी एक सागरोपम की आयु वाले हैं, द्वितीय नरक के नारकी तीन सागर की आयु वाले हैं, तृतीय नरक के नारकी सप्त सागर की आयु वाले, चतुर्थ नरक के नारकी दश सागर की, पंचम नरक के नारकी सत्रह सागर की, षष्ठम नरक के नारकी बाईस सागरोपम की एवं सप्तम नरक के नारकी तेतीस सागरोपम की आयु को धारण करने वाले होते हैं ।

अब विस्तार के भय से यहां संक्षेप से कहने में सूक्ष्म एकेन्द्रिय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रिय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, द्वीन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, संज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक इन भेदों से तिर्यंच जीव १४ प्रकार के होते हैं ।

भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिर्वासी, कल्पवासी के भेद से देवों के चार निकाय-भेद होते हैं । अर्थात् यहां पर देवों के निकाय का अर्थ यह है कि इन चार

नारका अेकसागरोपमायुषः । द्वितीयनरकस्य नारकाः त्रिसागरोपमायुषः । तृतीयस्य सप्त । चतुर्थस्य दश । पञ्चमस्य सप्तदश । षष्ठस्य द्वाविंशतिः । सप्तमस्य त्रयस्त्रिंशत् । अथ विस्तारभयात् संक्षेपेणोच्यते, तिर्यञ्चः सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तकापर्याप्तकद्वीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकत्रीन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकचतुरिन्द्रियपर्याप्तका-

---

भेद वाले देवों में भी अनेकों प्रभेद होते हैं, यह निकाय शब्द समूह अर्थ का वाचक है।

इन चार गति वाले जीवों के भेदों के और भी भेद "लोकविभाग' नामक परमागम में देखना चाहिये। यहां पर आत्मस्वरूप के प्ररूपण में अंतराय का हेतु है इसलिये पूर्वाचार्य सूत्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव ने नहीं कहा है।

विशेष— जो जिस विषय के प्रतिपादक ग्रन्थ होते हैं उनमें उसी विषय की प्रधानता रहती है अतः उनमें अन्य अनुयोग के विषय गौण हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अध्यात्म ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का पठन-पाठन, मनन-चिंतन ही नहीं करना चाहिये। स्वयं भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने ही जब यह स्पष्ट कहा है कि इनके विषय प्रभेदों को 'लोक विभाग' ग्रन्थों से जानना चाहिये। यहां यह नहीं कहा कि इनके विशेष भेद-प्रभेदों को जानने की आवश्यकता ही नहीं है अथवा ये अप्रयोजनीभूत विषय हैं, किन्तु अन्य ग्रन्थों से जान लेने को ही कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्वादशांग वाणी रूप अथवा चतुरनुयोग रूप सभी ग्रन्थ पढ़ने चाहिये किसी अनुयोग को भी अप्रयोजनीभूत कहकर उपेक्षा नहीं करना चाहिये, अन्यथा श्रुत की आसादना का दोष लगता है। वास्तव में सभी भगवान् की वाणी रूप द्वादशांग के अंशरूप वर्तमान में सभी ग्रन्थ आत्म हित के लिये ही हैं न कि अहित के लिये ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये।

आत्मानुशासन में सम्यक्त्व के १० भेद कहे हैं—[2]आज्ञा समुद्भव, मार्ग-समुद्भव, उपदेश समुद्भव, सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, संक्षेप समुद्भव, विस्तार

---

१. 'लोकविभाग' नामक यह ग्रन्थ श्री सिंह सूरर्षि कृत जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से मुद्रित हो चुका है। इसके पूर्व कोई प्राकृत भाषा में 'लोक विभाग' नामक ग्रंथ भगवान् कुन्दकुन्ददेव के समय में होगा ऐसा अनुमान है। २. आत्मानुशासन श्लोक ११ से १४।

पर्याप्तकासंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्दशभेदा भवन्ति । भावनव्यंतरज्योतिःकल्पवासिकभेदाद्देवाश्चतुर्णिकायाः । एतेषां चतुर्गतिजीव-भेदानां भेदो लोकविभागाभिधानपरमागमे द्रष्टव्यः । इहात्मस्वरूपप्ररूपणान्तराय-हेतुरिति पूर्वसूरिभिः सूत्रकृद्भिरुक्त इति ।

समुद्भव, अर्थ समुद्भव अवगाढ़ और परमावगाढ़ । दर्शनमोह की उपशांति से, ग्रन्थ श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से हो जो तत्त्व श्रद्धान होता है वह 'आज्ञासम्यक्त्व' है । दर्शनमोह के उपशम से ग्रन्थ श्रवण के बिना ही कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान करना 'मार्ग सम्यक्त्व' है । त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह 'उपदेश' सम्यग्दर्शन है । मुनि के चारित्र के आचार सूचक सूत्रों को सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है वह 'सूत्र' सम्यग्दर्शन है । जिन जीवादि पदार्थों का या गणित आदि विषयों का पंचसंग्रह, तिलोयपण्णत्ति, धवलादि करणानुयोगी ग्रन्थों के किन्हीं बीज पदों से ज्ञान प्राप्त करके जो दर्शन मोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है वह 'बीज' सम्यग्दर्शन है । जो भव्यजीव तत्त्वार्थ सिद्धान्त सूत्र लक्षण द्रव्यानुयोग के द्वारा जीवादि पदार्थों को संक्षेप से जानकर जो श्रद्धान उत्पन्न होता है 'संक्षेप' सम्यग्दर्शन है ।

जो भव्यजीव बारह अंगों को सुनकर विशेष तत्त्व श्रद्धानी होता है उसके सम्यक्त्व को 'विस्तार' सम्यग्दर्शन कहते हैं । अंगबाह्य आगम के पढ़े बिना उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है वह 'अर्थ' सम्यग्दर्शन है । अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यक्त्व होता है वह 'अवगाढ़' सम्यग्दर्शन कहलाता है । अर्थात् यह सम्यक्त्व द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली के ही होता है । केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है वह यहां 'परमावगाढ़' सम्यग्दर्शन कहलाता है । अर्थात् केवली भगवान का सम्यग्दर्शन परमावगाढ़ नाम से कहा जाता है ।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये सभी ग्रन्थ सम्यक्त्व के लिये कारण बन सकते हैं । कहीं-कहीं पर करणानुयोग के गणित सूत्रों के मनन से भी सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है अर्थात् इन बाह्य निमित्तों से दर्शनमोहनीय का उपशम-क्षयोपशमादि हो जाता है ।

सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता, उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् ।

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥३०॥

उपचार रूप से प्रवृत्त होता है वह उपचरित है जैसे कोयी बालक में अग्नि का उपचार करके कहना कि यह बालक अग्नि है, यहाँ कोयी बालक में मुख्य रूप अग्नि का अभाव है। जो उपचरित नहीं हो किन्तु वास्तविक हो उसे अनुपचरित कहते हैं। जीव निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का कर्ता है। दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से शरीर और पर्याप्ति रूप नो कर्मों का कर्ता है और उपचरित से घट पट आदि सर्वथा अपने पृथक् वस्तुओं का कर्ता है। तथा निश्चयनय से यहां अशुद्ध निश्चयनय विवक्षित है उसकी अपेक्षा से यह जीव कर्मों के उदय से होने वाले राग द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्ता है वैसे ही उन सभी के फलों का भोक्ता भी है। एवं शुद्ध निश्चय नय से यह जीव अपने शुद्ध-ज्ञान दर्शन आदि भावों का ही कर्ता है और शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख आदि भावों का ही भोक्ता है ऐसा अभिप्राय है।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज रागादि से सहित जीव को भी पंचपरम गुरु की भक्ति के प्रसाद से उत्तम फल की प्राप्ति का संकेत करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(३०) **श्लोकार्थ**—सम्पूर्ण मोह राग द्वेष से सहित है तो भी जो पुरुष परम-गुरु के चरणकमल युगल की सेवा के प्रसाद से निश्चित हो निर्विकल्प रूप सहज समयसार को जान करके (स्थिर होता है) वह मुक्ति श्री रूपी स्त्री का स्वामी हो जाता है।

(अनुष्टुभ्)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ।।३१।।

(वसंततिलका)

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवांछितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति सांके ।।३२।।

(वसंततिलका)

यः कर्मशर्म्मनिकरं परिहृत्य सर्वं
निःकर्मशर्म्मनिकरामृतवारिपूरे ।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ।।३३।।

---

(३१) **श्लोकार्थ**— भाव कर्म के निरोध से द्रव्य कर्म का निरोध होता है और द्रव्य के निरोध से संसार का निरोध होता है ।

(३२) **श्लोकार्थ**—जो सम्यग्ज्ञान से रहित मूढ़ जीव हैं वह अनेक प्रकार के शुभ अशुभ कर्मों को करता हुआ मुक्ति के मार्ग को अणुमात्र भी वांछना नहीं जानता है उसको इस संसार में शरण नहीं है ।

(३३) **श्लोकार्थ**—जो सम्पूर्ण कर्म से जनित सुख समूह को छोड़ देता है वह भव्यजीव निष्कर्म—कर्म से रहित, सुख समूह रूपी अमृत के सरोवर में मग्न हुये ऐसे अतिशय चैतन्य स्वरूप एक रूप अपने इस अद्वैत भाव को प्राप्त कर लेता है ।

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चिन्ताऽस्ति को नः
सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम् ।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥३४॥

(मालिनी)

भवनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यं
निजपरमगुणाः स्युः सिद्धसिद्धाः समस्ताः ।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥३५॥

दव्वत्थिएण जीवा, वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणयेण जीवा, संजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥१९॥

---

(३४) **श्लोकार्थ**—विभावभाव हों चाहे न हों हमें उसकी चिंता नहीं है । हम तो हृदय कमल में विराजमान, सम्पूर्ण कर्मों से रहित, शुद्ध ऐसी एक आत्मा का ही सतत अनुभव करते हैं क्योंकि इससे भिन्न अन्य प्रकार से निश्चित ही मुक्ति नहीं है, नहीं है ।

(३५) **श्लोकार्थ**—संसारी जीव में सांसारिक गुण होते हैं और सिद्ध जीव में भी नित्य ही समस्त सिद्धि में सिद्ध हुये (परिपूर्ण) निज स्वाभाविक परमगुण होते हैं । यह व्यवहार नय है—व्यवहार नय का कथन है किन्तु निश्चय नय से न तो सिद्धि—मुक्ति ही है और न संसार ही है यह बुद्धिमान् पुरुषों का निर्णय है ।

गाथा १९

अन्वयार्थ—[**द्रव्यार्थिक नयेन**] द्रव्यार्थिक नय से [**जीवाः**] जीव [**पूर्वभणित पर्यायात्**] पूर्वकथित पर्यायों से रहित हैं [**पर्यायनयेन**] पर्याय नय से [**जीवाः द्वाभ्यां संयुक्ताः भवंति**] जीव उन स्वभाव और विभावरूप दोनों प्रकार की पर्यायों से संयुक्त होते हैं ।

द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ता पूर्वभणितपर्यायात् ।
पर्यायनयेन जीवाः संयुक्ता भवंति द्वाभ्याम् ॥१९॥

इन पूर्व में कही सभी पर्याय से पृथक् ।
द्रव्यार्थिक नय से हैं जीव मानिये सम्यक् ॥
पर्यायनय से किंतु सभी जीव को जानो ।
दोनों प्रकार पर्यायों से युक्त ही मानो ॥१९॥

इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम् । द्वौ हि नयौ भगवद्भिर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः

भावार्थ—टीकाकार ने द्वाभ्यां का अर्थ ऐसा किया है कि इस तरह जीव द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों से सहित होते हैं । द्रव्यार्थिक नय से जीव सभी पर्यायों से रहित हैं इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही विषय करता है पर्याय को देखता ही नहीं है जैसे इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं अन्य के विषय को नहीं ग्रहण कर सकती हैं, चक्षु सूंघने का काम नहीं करती हैं उसी प्रकार से द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही देखता है इसलिये इस नय की अपेक्षा से द्रव्य में पर्यायें विद्यमान होते हुये भी गौण हो जाती हैं और पर्यायार्थिक नय पर्यायों को ही देखता है द्रव्य को नहीं देखता है । ये दोनों परस्पर सापेक्ष रहते हैं तभी वस्तु का सही बोध होता है और निरपेक्ष हो जाते हैं तभी सही बोध नहीं होने से मिथ्यात्व हो जाता है ।

टीका—यहां पर निश्चित रूप से दोनों नयों की सफलता को कहा है ।

भगवान अर्हंन्त परमेश्वर ने निश्चित रूप से दो नय कहे हैं (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक । द्रव्य ही अर्थ-प्रयोजन है इसका इसलिये यह द्रव्यार्थिक है और पर्याय ही है अर्थ-प्रयोजन इसका अतः यह पर्यायार्थिक है । निश्चित ही एक नय को आश्रय करने वाला उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है, किन्तु दोनों नयों के आश्रित हुआ उपदेश ही ग्राह्य है ।

सत्ताग्राहक-द्रव्य के अस्तित्व को ग्रहण करने वाले ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के बल से मुक्त-सिद्ध और अमुक्त-संसारी सभी जीव समूह पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से

प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः, किन्तु तदुभयायत्तोपदेशः। सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यंजनपर्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्तजीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव। कुतः, "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति वचनात्। विभावव्यंजनपर्यायार्थिकनयबलेन ते सर्वे जीवास्संयुक्ता भवन्ति। किं च सिद्धानामर्थपर्यायैः सह परिणतिः, न पुनर्व्यंजनपर्यायैः सहपरिणतिरिति। कुतः, सदा निरंजनत्वात्। सिद्धानां सदा निरंजनत्वेसति तर्हिद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां द्वाभ्यां

सर्वथा भिन्न ही हैं। कैसे भिन्न हैं? [1]सभी जीव शुद्ध नय से शुद्ध ही हैं ऐसा वचन है। विभाव व्यंजन पर्यायार्थिक नय के बल से वे सभी जीव पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से संयुक्त होते हैं। विशेष बात यह है कि सिद्धों की अर्थ पर्यायों के साथ परिणति है, किन्तु व्यंजन पर्यायों के साथ नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि वे सदा निरंजन रूप हैं।

प्रश्न—सिद्धों के सदा निरंजनरूप होने पर तो सभी जीव द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों से संयुक्त है इसप्रकार का सूत्रार्थ व्यर्थ है।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना। निगम-विकल्प, उस निगम में जो होता है वह नैगम है और वह नैगम नय तीन प्रकार का है—भूतनैगमनय, वर्तमान नैगमनय और भावी नैगमनय। यहां भूत नैगमनय की अपेक्षा से भगवान् सिद्धों में भी व्यंजन पर्याय और अशुद्धपना सम्भव है। पूर्वकाल में वे भगवान् संसारी थे इस प्रकार का व्यवहार होता है। अधिक कहने से क्या? सभी जीव दोनों नयों के बल से शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं यहां ऐसा अर्थ हुआ है।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने भूत नैगमनय की अपेक्षा से सिद्धों में व्यंजन पर्याय मानी हैं किन्तु अन्यत्र-आलाप पद्धति ग्रन्थ में सिद्धों की सिद्धत्व पर्याय को ही व्यंजन पर्याय कहा है। यथा-'स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय चरम शरीर से किंचित् न्यून सिद्ध पर्याय है।

यहां पर स्वभाव और विभाव पर्यायों का किंचित् स्पष्टीकरण करते हैं—

[2]गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं। वे पर्यायें दो प्रकार की हैं (१) अर्थ

---

१. "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" द्रव्यसं. गाथा १३॥

२. आलाप पद्धति पृ. ५॥

संयुक्ताः सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो व्यक्तः। निगमो विकल्पः, तत्र भवो नैगमः। स च नैगमनयस्तावत् त्रिविधः, भूतनैगमः वर्तमाननैगमः भाविनैगमश्चेति। अत्र भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यंजनपर्यायत्वमशुद्धत्वं च संभवति। पूर्वकाले ते भगवन्तः संसारिण इति व्यवहारात्। किं बहुना, सर्वे जीवा नयद्वयबलेन शुद्धाशुद्धा इत्यर्थः।

पर्याय (२) व्यंजन पर्याय। अर्थ पर्याय दो प्रकार की है—स्वभाव अर्थ पर्याय और विभाव अर्थ पर्याय। स्वभाव अर्थ पर्याय सभी द्रव्यों में होती है किन्तु विभाव अर्थ पर्याय जीव और पुद्गल इन दो में ही होती है। अगुरुलघु गुण का परिणमन स्वभाव अर्थ पर्यायें हैं। इनके बारह भेद हैं, छह वृद्धिरूप और छह हानि रूप जो कि अनन्त भाग वृद्धि आदि हैं।

विभाव अर्थ पर्याय के भी ६ भेद हैं—'मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य और पापरूप जो अध्यवसाय-परिणाम हैं वे विभावरूप हैं। पुद्गल में भी स्वभाव अर्थपर्याय वही षट्गुण हानि वृद्धि रूप हैं एवं [1]द्वयणुकादि स्कंधों में वर्णांतरादि परिणमन रूप है।

व्यंजन पर्याय के दो भेद हैं-स्वभाव व्यंजन पर्याय और विभाव व्यंजन पर्याय। स्वभाव और विभाव के भी द्रव्य और गुण की अपेक्षा दो-दो भेद हैं। जैसे-स्वभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय। विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय और विभाव गुण व्यंजन पर्याय। जीव में घटाते हैं-विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय के चार भेद हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवपर्याय रूप। अथवा चौरासी लाख योनि के भेद रूप भी विभावपर्याय हैं। विभावगुण व्यंजन पर्याय जीव के मति ज्ञानादि है।

स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय चरम शरीर से किंचित् न्यून सिद्ध पर्याय है। स्वभाव गुण व्यंजन पर्यायें जीव के अनन्त चतुष्टयादि रूप हैं।

यहां पर टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने भूत नैगमनय की अपेक्षा सिद्धों को अशुद्ध, संसारी एवं शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा संसारी जीवों को भी शुद्ध कहा

---

१. पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका—।।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥"

है । इस प्रकार से सभी जीवों को भी शुद्ध-अशुद्ध उभयरूप सिद्ध कर दिया है । सो अपेक्षाकृत कथन में कोई बाधा नहीं आती है ।

उसी प्रकार से अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—[1]"स्वयं वांतमोह-जिन्होंने दर्शनमोहनीय का वमन कर दिया है ऐसे जो जीव उभयनय के विरोध को ध्वंस करने वाले और स्यात्पद से चिन्हित ऐसे जिनवचन में प्रीति करते हैं वे जीव शीघ्र ही अनव-नवीनता रहित अनादि स्वरूप और कुनयों के पक्ष से खंडित नहीं होने वाले ऐसे समयसार स्वरूप परं ज्योति को अतिशय रूप से देख ही लेते हैं-प्राप्त ही कर लेते हैं ।"

भावार्थ—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों का विषय परस्पर विरोधी ही रहता है, किन्तु जो नय परस्पर सापेक्ष रहते हैं वे ही सुनय कहलाते हैं वे ही नय स्यात्पद से चिन्हित रहते हैं और जिनेन्द्र भगवान् के वचन स्वरूप माने जाते हैं । तथा जब वे परस्पर निरपेक्ष रहते हैं तब कुनय कहलाते हैं । यहां यह भी अर्थ है कि जो स्वयं दर्शन मोहनीय से रहित सम्यग्दृष्टि जीव जिनवचन में रत होते हैं वे शीघ्र ही चारित्र मोहनीय से रहते हुये पूर्वोक्त विशेषणों से सहित समयसार स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारीदेव उभयनय के अवलम्बन की सफलता को बतलाते हुये तथा भव्य जीवों को परमत से निवृत्त करते हुये श्लोक कहते हैं ।]

---

१. समयसार कलश ४ ॥

तथाहि—

(मालिनी)

अथ नययुगयुक्तिं लंघयन्तो न संतः
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफाः ।
लघु समयसारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति
क्षितिषु परमतोक्तैः किं फलं सज्जनानाम् ॥३६॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल-

---

(३६) **श्लोकार्थ**—जो सत्पुरुष दोनों नयों की युक्ति का उल्लंघन न करके परम जिन भगवान् के चरण कमल युगल के मत्त भ्रमर हैं वे शीघ्र ही समयसार को निश्चित प्राप्त कर लेते हैं। इस पृथ्वी तल पर परमत के कथन से सज्जनों को क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है।

विशेषार्थ—प्रारम्भ में मंगलाचरण के बाद गाथा २ में भगवान् श्री कुन्द-कुन्ददेव ने यह कहा था कि मार्ग और मार्गफल ये दो बातें ही जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाई हैं। यहां पर मोक्ष की प्राप्ति का उपाय तो मार्ग है और उसका फल निर्वाण प्राप्त कर लेना है। इसीलिये 'नियम' शब्द से अवश्य करने योग्य कार्य को लिया है और जो अवश्य करने योग्य है वह रत्नत्रय ही है। इस ग्रन्थ में भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मार्ग का ही कथन प्रधान और उसमें भी भेद रत्नत्रय में निष्णात जो मुनिराज हैं उनके लिये ही अभेद रत्नत्रय का उपदेश होता है। इस ग्रन्थ में भेद रत्नत्रय का वर्णन संक्षिप्त है और अभेद रत्नत्रय का वर्णन विशेष रूप से वर्णित है क्योंकि स्वयं श्री कुन्दकुन्ददेव ने 'मूलाचार' में मुनियों के २८ मूलगुण आदि रूप भेद रत्नत्रय का विस्तार से वर्णन किया हुआ है।

इस प्रथम अधिकार में सर्वप्रथम भेद रत्नत्रय को वर्णित किया है। उसमें भी व्यवहार सम्यग्दर्शन के विषयभूत सच्चे आप्त, आगम और तत्त्वों का वर्णन किया है। आप्त और आगम का स्वरूप बताकर तत्त्वों के स्वरूप को बतलाते हुये छह द्रव्यों

पारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवाधिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥

को कहा है। उसमें भी सर्व प्रथम जीव द्रव्य का वर्णन करते हुये जीव के उपयोग लक्षण के १२ भेदों का वर्णन है। पुनः जीवद्रव्य की स्वभाव और विभाव पर्यायों का वर्णन है। इसप्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों से जीव का वर्णन किया है। अगले द्वितीय अधिकार में अजीव द्रव्यों का वर्णन करेंगे।

*

इसप्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिये सूर्य समान और पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित ऐसे गात्र—शरीर मात्र परिग्रह के धारी—दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्या में जीवाधिकार नामका प्रथम श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

[२]

अजीव अधिकार

अथेदानीमजीवाधिकार उच्यते ।

अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू[1] चेव दुवियप्पो ॥२०॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥२०॥

पुद्गल दरब के दो विकल्प जान लीजिये ।
अणु भेद औ स्कंध भेद नाम दीजिये ॥
स्कंध के भी छह प्रकार विश्वरूप हैं ।
परमाणु के भी दो प्रकार सूक्ष्मरूप हैं ॥२०॥

अब अजीवाधिकार को कहते हैं—

गाथा–२०

अन्वयार्थ—[**अणुस्कंध विकल्पेन तु**] अणु और स्कंध के भेद से [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**द्विविधं भवति**] दो प्रकार का होता है [**स्कंधाः खलु षट्प्रकाराः**] स्कंध निश्चितरूप से छह प्रकार का है [**परमाणुः च एव द्विविकल्पः**] और परमाणु दो प्रकार का ही है ।

---

१. परमाणु (क) पाठान्तर ।

पुद्गलद्रव्यविकल्पोपन्यासोऽयम् । पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्, स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति । तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारणपरमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति । स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वीजलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः । तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रेषूच्यते विस्तरेणेति ।

(अनुष्टुभ्)

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ॥३७॥

टीका—यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है ।

सर्व प्रथम पुद्गल द्रव्य दो भेद से सहित है, स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल । उसमें परमाणु स्वभाव पुद्गल और स्कंध विभाव पुद्गल कहलाता है । स्वभाव पुद्गल के भी दो भेद हैं—कार्य परमाणु और कारण परमाणु । स्कंध छह प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्म के योग्य स्कंध और कर्म के अयोग्य स्कंध ऐसे छह भेद हैं । इन स्कंधों के भेद आगे कहे जाने वाले सूत्रों में विस्तार से कहते हैं ।

[टीकाकार श्री मुनिराज इस पुद्गल के कार्य को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं—]

(३७) **श्लोकार्थ**—स्कंधों के गलन–भेद से अणु कहलाता है और पूरण से परमाणु या स्कंधों के मिलने से स्कंध नाम पाता है । इस पुद्गल पदार्थ के बिना लोक यात्रा नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—इस पुद्गल पदार्थ के बिना यदि आप संसार यात्रा करना चाहें तो नहीं कर सकते हैं । यह पुद्गल द्रव्य आपको संसार की यात्रा कराने के लिये मोटर, रेल आदि वाहन के समान है इसी में बैठकर अर्थात् इसी का सम्बन्ध करके आप पंच परिवर्तन रूप लोकयात्रा कर रहे हैं । कहा भी है—"अजंगमं जंगमनेययंत्रं

अइथूलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया, भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा, पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च ।
सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥२१॥
भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः ।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्पिर्जलतैलाद्याः ॥२२॥
छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि ।
सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥२३॥
सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।
तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥२४॥

अतिस्थूलस्थूल और स्थूल जानिये ।
स्थूलसूक्ष्म और सूक्ष्मस्थूल मानिये ॥
सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म इस प्रकार से कहें ।
ये पृथ्वी आदि रूप से छह भेद को लहें ॥२१॥

यथा तथा जीवधृतं शरीरं" जैसे जंगम—चेतन जीव से चलाने योग्य यंत्र अजंगम अचेतन होता है वैसे ही जीव चेतन शरीर रूप अचेतन यंत्र को चलाता है ।

गाथा—२१ से २४

अन्वयार्थ—[अतिस्थूलस्थूलाः] अतिस्थूल स्थूल [स्थूलाः] स्थूल [स्थूलसूक्ष्माः च] स्थूलसूक्ष्म [सूक्ष्मस्थूलाः च] सूक्ष्म स्थूल [सूक्ष्माः] सूक्ष्म

भू-पर्वतादि वस्तु अतिस्थूल-स्थूल हैं।
स्कंध में सबसे प्रथम के भेदरूप हैं॥
घी तेल व जल आदि जो भि तरल वस्तु हैं।
स्कंध वे स्थूल नाम जड़ स्वरूप हैं॥२२॥

छाया व आतपादि जो दिखते हैं जगत में।
स्थूलसूक्ष्म नाम से स्कंध हैं सच में॥
स्पर्श रसन घ्राण श्रोत्र के विषय जितने।
स्कंध वे सूक्ष्मस्थूल हैं कहा जिनने॥२३॥

जो कर्म वर्गणा के योग्य दिख नहीं सकते।
वे सूक्ष्म हैं स्कंध सतत बँधते ही रहते॥
इनसे जो हैं विपरीत वे अतिसूक्ष्म कहाये।
छह भेद भी ये जड़मयी चितशून्य बताये॥२४॥

और [**अतिसूक्ष्माः**] अतिसूक्ष्म [**इति धरादयः षड्भेदाः भवंति**] इस प्रकार से पृथ्वी आदि के छह भेद होते हैं।

[**भूपर्वताद्याः**] भूमि, पर्वत आदि [**अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कंधाः भणिताः**] अतिस्थूल-स्थूल स्कंध कहे गये हैं [**सर्पिर्जलतैलाद्याः**] घी, जल, तेल आदि को [**स्थूलाः इति विज्ञेयाः**] स्थूल स्कंध जानना चाहिये।

[**छायातपाद्याः**] छाया, आतप आदि [**स्थूलेतरस्कंधाः इति**] स्थूलसूक्ष्म स्कंध हैं ऐसा तुम जानो [**च चतुरक्ष विषयाः स्कंधाः**] और चक्षु इन्द्रिय के बिना चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंध [**सूक्ष्मस्थूलाः इति भणिताः**] सूक्ष्मस्थूल इसप्रकार से कहे गये हैं।

[**कर्मवर्गणस्य प्रायोग्याः**] कर्मवर्गणा के योग्य [**स्कंधाः सूक्ष्माः भवंति**] स्कंध सूक्ष्म होते हैं, [**पुनः तद्विपरीताः स्कंधाः**] पुनः उससे विपरीत स्कंध [**अति सूक्ष्माः इति प्ररूपयन्ति**] अतिसूक्ष्म इस प्रकार से प्ररूपित किये जाते हैं।

विभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् । अतिस्थूलस्थूला हि ते खलु पुद्गलाः सुमेरुकुम्भिनीप्रभृतयः । घृततैलतक्रक्षीरजलप्रभृतिसमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातपतमःप्रभृतयः स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः शब्दस्पर्शरसगन्धाः । शुभाशुभपरिणामद्वारेणागच्छतां शुभाशुभकर्मणां योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रायोग्या इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

"पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा ।
कम्मातीदा एवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥"

टीका—यह विभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है ।

वे सुमेरु, पृथ्वी आदि (घन पदार्थ) निश्चित रूप से अति स्थूल स्थूल पुद्गल हैं । घी तेल, मट्ठा, दूध, जल आदि समस्त द्रव्य (द्रव पदार्थ) स्थूल पुद्गल हैं । छाया, आतप, अंधकार आदि स्थूल सूक्ष्म पुद्गल हैं । स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों के जो विषय स्पर्श, रस, गंध और शब्द हैं वे सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं । शुभ–अशुभ परिणाम के द्वारा आते हुये शुभ–अशुभ कर्मों के योग्य सूक्ष्म पुद्गल हैं और इनसे विपरीत कर्मों के अयोग्य पुद्गल सूक्ष्म सूक्ष्म पुद्गल हैं यह अर्थ हुआ । यह विभाव पुद्गल का क्रम है ।

उसी प्रकार से पंचास्तिकाय आगम में कहा है—

गाथार्थ—"पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्म के योग्य और कर्मातीत इस प्रकार से पुद्गलों के छह भेद होते हैं"

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ—"स्थूल स्थूल उसके अनन्तर स्थूल, स्थूल सूक्ष्म इसके अनन्तर सूक्ष्म स्थूल उसके बाद सूक्ष्म और उससे परे सूक्ष्म सूक्ष्म ऐसे छह प्रकार के पुद्गल होते हैं ।"

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

(अनुष्टुभ्)

"स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।
सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे ॥"

विशेषार्थ—दो अणु, तीन अणु आदि से लेकर अनन्तानन्त पर्यंत परमाणुओं के मिलने पर सघनरूप बनने को स्कंध कहते हैं। ये स्कंध, भेद और संघात से दोनों तरह से बनते हैं, जैसे घड़े आदि को फोड़ने से भी जो टुकड़े होते है वे स्कंध रूप ही हैं तथा संघात अर्थात् मिलने से तो बनते ही हैं। ऐसे स्कंध के छह भेद माने हैं—जिसको अन्य जगह ले जा सकते हैं जिसका छेदन, भेदन हो सकता है वे स्कंध अति-स्थूल स्थूल हैं जैसे पृथ्वी आदि जिसको अन्यत्र तो ले जा सकते हैं, किन्तु छेदन भेदन नहीं हो सकता है ऐसे द्रव पदार्थ स्थूल कहलाते हैं जैसे—घी, तेल, जल आदि। जिनका छेदन-भेदन और अन्यत्र ले जाना आदि कुछ भी नहीं हो सकता है किन्तु आंखों से दिख रहे हैं ऐसे पुद्गल स्थूल सूक्ष्म हैं जैसे छाया, धूप आदि। जिनको ग्रहण कर सकते परन्तु जिनको देख नहीं सकते हैं ऐसे पुद्गल सूक्ष्म स्थूल हैं। वे नेत्र के अतिरिक्त स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों के विषय हैं जैसे घ्राण में सुगंध आ रही है, किन्तु दिखाई नहीं देती है। जिनको देख भी नहीं सके और ग्रहण करने का भी अनुभव न हो सके वे सूक्ष्म हैं जैसे कर्म के योग्य पुद्गल—ये अतिक्षण आत्मा में आ रहे हैं किन्तु इनका कुछ भी अनुभव आदि नहीं होता है। मूर्तिक होकर भी जो अत्यंत परोक्ष हों वे अति-सूक्ष्म सूक्ष्म हैं जैसे कर्म योग्य पुद्गल से विपरीत सूक्ष्म पुद्गल हैं।

गोम्मटसार जीवकांड में पुद्गल के अंतिम भेद अतिसूक्ष्म सूक्ष्म के उदाहरण में अन्तर है—

पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय विसय कम्म परमाणु।
छव्विह भेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥६०२॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव ने पुद्गल द्रव्य के छह भेद कहे हैं—जैसे पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्म और परमाणु।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्र सूरिभिः

(वसंततिलका)

"अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।।"

इन छह भेदों के क्या नाम हैं—

बादर बादर बादर बादसुहुमं च सूक्ष्मस्थूलं च ।
सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं ॥६०३॥

अर्थ— बादर बादर, बादर, बादर सूक्ष्म, सूक्ष्म बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म सूक्ष्म इसप्रकार पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं। जिनके उदाहरण उपर्युक्त पृथ्वी आदि हैं।

विशेष बात यह है कि यहां नियमसार ग्रन्थ में अंतिम जो भेद सूक्ष्म सूक्ष्म है उसके उदाहरण में कर्म के अयोग्य पुद्गल स्कंधों को लिया है और गोमटसार जीवकांड में परमाणु को लिया है। इसका कारण यह है कि प्रकृत ग्रन्थ नियमसार में स्कंध के छह भेद किये हैं इस कारण उसमें परमाणु को ले नहीं सकते हैं क्योंकि यहां परमाणु को अलग लेकर उसके भी दो भेद किये हैं और यहां पर सामान्यतया पुद्गल के ही छह भेद हैं परमाणु को अलग नहीं किया है अतएव वहां पर जीवकांड में उन्हीं छह भेदों के उदाहरण में परमाणु को भी ले लिया ऐसा समझना चाहिये।

उसी प्रकार से (पुद्गल को जानकर उससे अपने आपको पृथक् करने के लिये) श्रीमान् अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं —

श्लोकार्थ—[1]"इस अनादिकालीन अविवेकरूपी नाट्यशाला में वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है अन्य–जीव नहीं नाच रहा है क्योंकि यह जीव रागादिरूप पौद्गलिक विकारों से विरुद्ध–विलक्षण, शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति स्वरूप है।"

---

१. समयसार कलश ४४।

तथा हि—

(मालिनी)

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ।
कुरु रतिमतुलां स्वं चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३८॥

धाउचउक्कस्स पुणो, जं हेऊ कारणंति तं णेयो ।
खंधाणं अवसाणं, णादव्वो कज्जपरमाणु ॥२५॥

धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः ।
स्कन्धानामवसानो ज्ञातव्यः कार्यपरमाणुः ॥२५॥

भू जल व अग्नि वायु धातु चार के लिये ।
जो हेतु उसको कारण परमाणु जानिये ॥

[उसीप्रकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव पुद्गल से प्रीति हटाकर आत्मा में प्रीति करने के लिये उपदेश देते हुये कहते हैं]

(३८) श्लोकार्थ—इसप्रकार दिखाई देने वाले नाना प्रकार के पुद्गलों में हे भव्योत्तम ! तू रतिभाव मतकर । तू चिच्चमत्कार मात्र आत्मा में अतुल रति-प्रीतिकर जिससे तू परम श्री-मुक्ति श्री रूपी स्त्री का वल्लभ होगा । अर्थात् इन दिखने वाले पौद्गलिक पदार्थों से प्रीति हटाकर तू अपनी शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में प्रीति कर जिससे संसार भ्रमण से तू छूट जावेगा ।

गाथा-२५

अन्वयार्थ—[**यः पुनः धातुचतुष्कस्य हेतुः**] जो पुनः धातु चतुष्क-पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का हेतु-कारण है [**स कारणं इति ज्ञेयः**] वह कारण परमाणु

---

१. परमाणु (क) पाठान्तर ।

सम्पूर्ण स्कंधों का जो भी अन्त्य अंश है।
वो कार्य अणु नाम से अति सूक्ष्म अंश है ॥२५॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाख्यानमेतत्। पृथिव्यप्तेजोवायवो धातवश्चत्वारः तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः। स एव जघन्यपरमाणुः स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबंधयोरयोग्य इत्यर्थः। स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्याम्

है ऐसा जानना चाहिये [**स्कंधानां अवसानः**] स्कंधों का अवसान–अंत को [**कार्यपरमाणुः**] कार्यपरमाणु [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीका—यह कारण परमाणु और कार्य परमाणु रूप द्रव्य के स्वरूप का कथन है––

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार 'धातु' शब्द से कहे जाते हैं इनका जो हेतु है वह कारण परमाणु है वही जघन्य परमाणु स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अनन्त का अभाव होने से अर्थात् स्निग्ध–रूक्ष गुणों का अंत हो जाने से–एक स्निग्ध गुण और एक रूक्ष गुण वाला होने से सम और विषम बंध के अयोग्य है यह अर्थ हुआ। अर्थात् जिस परमाणु में एक ही गुण रहता है वह जघन्य कहलाता है वह बंध के अयोग्य है, "न जघन्य गुणानां" जघन्य गुणों वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है ऐसा वचन है। स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अनन्त के ऊपर दो गुण वाले का चार गुण वाले के साथ जो बंध है वह सम्बन्ध है और तीन गुण वाले परमाणु का पांच गुण वाले के साथ जो बंध है वह विषम बंध है यह उत्कृष्ट परमाणु है।

गलित होते हुये पुद्गलों का जो अन्त है–अंतिम अवस्था है उसमें जो स्थित है–जो अंतिम अवस्था को प्राप्त हुआ पुद्गल का हिस्सा है वह कार्य परमाणु है। यहां पर कार्य, कारण तथा जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से अणु के चार भेद हो गये हैं। वह परमाणु द्रव्य अपने स्वरूप में स्थित है और उसमें विभाव का अभाव होने से वह परमस्वभाव वाला है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५।

चतुर्भिः समबन्धः त्रिभिः पंचभिर्विषमबन्धः । अयमुत्कृष्टपरमाणुः । गलतां पुद्गलद्रव्याणाम् अन्तोऽवसानस्तस्मिन् स्थितो यः स कार्यपरमाणुः । अणवश्चतुर्भेदाः कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदैः । तस्य परमाणुद्रव्यस्य स्वरूपस्थितत्वात् विभावाभावात् परमस्वभाव इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

"णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ।।
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ।।"

तथा हि—

उसी प्रकार प्रवचनसार में भी कहा गया है—

गाथार्थ—"[1]परमाणु के परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंश वाले हों या विषम अंश वाले जघन्य अर्थात् एक अंश वाले को छोड़कर यदि समान से दो अधिक अंश वाले हों तो बंधते हैं ।

स्निग्ध रूप से दो अंश वाला परमाणु चार अंश वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बंध का अनुभव करता है—अर्थात् बंध जाता है अथवा रूक्ष रूप से तीन अंश वाला परमाणु पांच अंश वाले परमाणु के साथ संयुक्त होता हुआ बंधता है ।"

विशेषार्थ—स्निग्ध या रूक्ष परमाणु यदि जघन्य अंश वाला है अर्थात् एक अंश वाला है तो उसमें बंध नहीं हो सकता है । इसलिये दो अंश से प्रारम्भ करना चाहिये । इधर दो अंश वाला स्निग्ध परमाणु हो और दूसरा चार अंश वाला चाहे स्निग्ध हो चाहे रूक्ष ही बंध जावेगा और अधिक गुण वाला है वह कम गुण वाले को अपने रूप परिणमा लेगा "[2]बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च' ऐसे ही तीन गुणवाला परमाणु यदि स्निग्ध है और दूसरा पांच गुण वाला चाहे स्निग्ध हो चाहे रूक्ष, उनमें बंध हो जावेगा ।

---

१. प्रवचनसार गाथा १६५–१६६ ।। २. तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ ।

(अनुष्टुभ्)

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम ।
आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः ॥३९॥

अत्तादि अत्तमज्झं, अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं, परमाणू तं वियाणाहि[1] ॥२६॥

आत्माद्यात्ममध्यमात्मान्तं नेवेन्द्रियैर्ग्राह्यम् ।
अविभागि यद्द्रव्यं परमाणुं तद् विजानीहि ॥२६॥

स्वयमेव जो है आदि व स्वयमेव मध्य है ।
स्वयमेव अंत आप ही इन्द्रिय अग्राह्य है ॥
जिसका विभाग हो न सके उसी द्रव्य को ।
परमाणु मान से तुम शास्त्र से समझो ॥२६॥

[अब टीकाकार श्री मुनिराज इन पुद्गलों को जानकर क्या करना चाहिये इस बात को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं—]

श्लोकार्थ—उन छह प्रकार के स्कंधों से और चार प्रकार के अणुओं से मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं तो अक्षय और शुद्ध आत्मा की पुनः पुनः भावना करता हूं ।

गाथा—२६

अन्वयार्थ—[**आत्मादि**] स्वयं जिसका स्वरूप ही आदि रूप है [**आत्म-मध्यं**] स्वयं जिसका स्वरूप ही मध्य रूप है [**आत्मान्तं**] स्वयं जिसका स्वरूप ही अंतरूप है [**इंद्रियैः ग्राह्यं न एव**] जो इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है [**यद् द्रव्यं**] ऐसा जो द्रव्य [**अविभागि**] विभाग रहित है [**तत् परमाणुं विजानीहि**] तुम उसको परमाणु जानो ।

भावार्थ—जो स्वयं ही आदि, मध्य और अंतरूप है अर्थात् जिसमें आदि, मध्य और अंत की व्यवस्था नहीं हो सकती है ऐसा जो इन्द्रियों के अगोचर पुद्गल

१. वियाणीहि (क) पाठान्तर ।

परमाणुविशेषोक्तिरियम् । यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्त स्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावविवक्षासमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपाद-प्रच्यवनत्वमुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मै-वादिः, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव, अंतोपि स्वस्यात्मैव परमाणुः । अतः न चेन्द्रिय-ज्ञानगोचरत्वाद् अनिलानलादिभिरविनश्वरत्वादविभागी हे शिष्य स परमाणुरिति त्वं तं जानीहि ।

का कोई एक सबसे छोटा टुकड़ा है कि जिसका अब दूसरा विभाग हो ही नहीं सकता है वह परमाणु कहलाता है ।

टीका—यह परमाणु का विशेष कथन है ।

जैसे सहज परम पारिणामिक भाव की विवक्षा का आश्रय लेने वाले ऐसे सहज निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य निगोद और इतर निगोद से लेकर सिद्ध क्षेत्र तक रहने वाले जीवों का अपने स्वरूप से प्रच्युत न होना कहा गया है उसी प्रकार से पंचम भाव रूप पारिणामिक भाव की अपेक्षा परमाणु द्रव्यों का परम स्वभाव रूप होने से आत्म परिणति की आत्मा ही आदि आत्म परिणति की आत्मा ही मध्य है और अपनी आत्मा ही अंत भी है ऐसा परमाणु होता है इसलिये इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं होने से वायु, अग्नि आदि से नष्ट न होने से अविभागी है, हे शिष्य ! वह परमाणु है इस प्रकार से तुम जानो ।

भावार्थ— नित्य निगोद से लेकर सिद्ध जीव पर्यंत सभी जीव सहज शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं, प्रत्येक जीव में स्वाभाविक अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख रूप अनंत चतुष्टय आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं । ये जीव संसारी हैं, इनकी आत्मा के गुणों को कर्मों ने घात रखा है । ये सिद्ध जीव हैं, इन्होंने कर्मों का नाश करके अपने अनंत गुणों को प्रगट कर लिया है । संसारी जीव दुःखी हैं और सिद्ध जीव सुखी हैं यह सब भेद भाव करने वाला व्यवहारनय ही है । यहां पुद्गल के परमाणु की शुद्ध अवस्था को बतलाने के लिये उपर्युक्त कथन को दृष्टांत रूप से लिया है । एक परमाणु का अपने स्वरूप से जो परिणमन हो रहा है वही उसका आदि मध्य और अंत है अन्य कुछ आदि मध्य अंत का विभाग उस

(अनुष्टुभ्)

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः ।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठंति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥४०॥

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं ।
विहावगुणमिदि भणिदं, जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः ।
विभावगुण इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्वम् ॥२७॥

जो एक रस व एक रूप एक गंध हैं ।
स्पर्श दो हैं अणु में स्वभावगुण वे हैं ॥
जिनदेव के शासन में कहे सर्वप्रगट जो ।
स्कन्ध में गुण जो रहें विभावगुण हैं वो ॥२७॥

परमाणु में नहीं है इसलिये वह अविभागी है तथा पवन अग्नि आदि से वह नष्ट भी नहीं किया जा सकता है ऐसा परमाणु होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज परमाणु रूप पुद्गल के और सिद्ध के स्वभाव का बोध कराते हुये श्लोक कहते हैं—]

(४०) **श्लोकार्थ**—जड़ात्मक पुद्गल की स्थिति को उसके स्वरूप में ही जानकर वे सिद्ध भगवान् चिदात्मक अपने स्वरूप में ही क्यों नहीं रहेंगे ? अर्थात् रहेंगे ही रहेंगे ।

भावार्थ—जड़ स्वरूप पुद्गल अपने जड़ स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं प्रत्युत अपने जड़ स्वभाव में ही रहते हैं उसी प्रकार से सिद्ध परमेष्ठी भी अपने चैतन्य स्वभाव में ही स्थिर रहते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

गाथा—२७

अन्वयार्थ—[**एकरसरूपगंधः**] जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध वाला है और [**द्विस्पर्शः**] दो स्पर्श गुण वाला है [**सः**] वह [**स्वभाव गुणः**] स्वभाव गुण वाला है [**सर्व प्रकटत्वं**] जिसमें सब गुण प्रकट हैं वह [**विभाव गुणः**] विभाव गुण वाला है [**इति जिनसमये भणितं**] इस प्रकार जिन शासन में कहा गया है ।

स्वभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् । तिक्तकटुककषायाम्लमधुराभिधानेषु पंचसु रसेष्वेकरसः, श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः, सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगंधः, कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुःस्पर्शाविरोधस्पर्शनद्वयम्, एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिनानां मते । विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः । अस्य द्व्यणुकादिस्कन्धरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राह्या इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

"एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ।।"

टीका —यह स्वभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है ।

चरपरा, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पांच रसों में से एक रस, सफेद, पीला, हरा, काला और लाल इन पांच वर्णों में से कोई एक वर्ण, सुगंध और दुर्गंध में से कोई एक गंध, कठोर, कोमल, भारी, हलका, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा इन आठ स्पर्शों में अंतिम चार में से अविरोधी दो स्पर्श जिनेन्द्र भगवान के मत में इन्हें परमाणु के स्वभाव गुण कहा है । विभाव गुण वाला विभाव पुद्गल है । इस द्व्यणुक आदि स्कन्ध रूप विभाव पुद्गल के जो विभाव गुण हैं वे सभी इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य होते हैं ऐसा अर्थ है ।

पंचास्तिकाय आगम में भी कहा है—

गाथार्थ—'जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध वाला है, दो स्पर्श वाला है, शब्द का कारण है और स्वयं अशब्द है ऐसा स्कंध से अंतरित जो द्रव्य है, उसे तुम परमाणु जानो । अर्थात् परमाणु शब्द का कारण तो है किन्तु स्वयं शब्दरूप नहीं है क्योंकि 'शब्द' यह पुद्गल की विभाव पर्याय है । "[२]शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता,

---

१. पंचास्तिकाय गाथा ८१ । २. तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सूत्र २४ ।

उक्तं च मार्गप्रकाशे —

(अनुष्टुभ्)

"वसुधान्त्यचतुःस्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम् ।
वर्णो गन्धो रसश्चैकः परमाणोः न चेतरे ।।"

तथा हि—

(मालिनी)

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः ।
इति निजहृदि मत्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः ।।४१।।

संस्थान, भेद, तम छाया आतप और उद्योत ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं ऐसा कहा है।

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ—"आठ प्रकार के स्पर्शों में अंतिम चार स्पर्शों के दो स्पर्श अर्थात् शीत-उष्ण में से कोई एक और स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक ऐसे दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गंध और एक रस परमाणु में ये पांच गुण समझना चाहिये शेष अन्य गुण नहीं होते हैं।"

[अब टीकाकार श्री मुनिराज परमाणु के स्वरूप को समझकर क्या करना चाहिये, इस बात को बताते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(४१) श्लोकार्थ—परमाणु में एक वर्णादि रूप भासमान अपने गुणों का समुदाय होने पर भी उसमें मेरे कार्य की सिद्धि नहीं है। इस प्रकार से अपने हृदय में समझकर परम सुखपद मोक्ष की इच्छुक भव्य जीव अपनी शुद्ध एक आत्मा की भावना करें।

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जाओ[1] ।
खंधसरूवेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥२८॥

अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः ।
स्कंधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्यायः ॥२८॥

जो अन्य से निरपेक्ष है परिणाम अणु का ।
वह है स्वभाव नाम से पर्याय अणु का ॥
स्कन्धरूप से पुनः जो परिणमन हुआ ।
वह तो विभाव पर्यायों से भेद युत हुआ ॥२८॥

पुद्गलपर्यायस्वरूपाख्यानमेतत् । परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः । अथवा हि

गाथा—२८

अन्वयार्थ—[**अन्यनिरपेक्षः**] अन्य की अपेक्षा से रहित [**यः**] जो [**परिणामः**] परिणाम है [**सः**] वह [**स्वभाव पर्यायः**] स्वभाव पर्याय है [**पुनः**] और [**स्कंध स्वरूपेण**] स्कंध रूप से [**परिणामः**] जो परिणमन है [**सः**] वह [**विभावपर्यायः**] विभाव पर्याय है ।

टीका—यह पुद्गल की पर्याय के स्वरूप का कथन है ।

परमाणु पर्याय पुद्गल द्रव्य की शुद्ध पर्याय है जो कि परम पारिणामिक भाव लक्षण वाली है, वस्तु में होने वाली छह प्रकार की हानि वृद्धि रूप है, अति सूक्ष्म है, अर्थ पर्याय स्वरूप है और सादि-सांत होते हुये भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने से शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय स्वरूप है । अथवा निश्चित रूप से एक समय में भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक होने से सूक्ष्म ऋजु सूत्र नयात्मक है । स्कन्ध पर्याय स्वजातीय बंध के लक्षण से सहित होने से अशुद्ध है ।

---

१. पज्जाओ (क) पाठान्तर ।

एकस्मिन् समयेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात् सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः । स्कन्धपर्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वादशुद्ध इति ।

(मालिनी)

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः ।
भगवति जिननाथे पंचबाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव ।।४२।।

विशेषार्थ—"'भेदादणुः' इस सूत्र की टीका में भट्टाकलंकदेव ने कहा है कि इस सूत्र के पृथक् करने का अभिप्राय यही है कि 'अणु' भेद से ही बनता है। अनादि-काल से शुद्ध अणु कभी भी नहीं था। जैसे कि सिद्ध जीव संसार पूर्वक ही मुक्त हुए हैं अनादिकाल से मुक्त रूप कभी भी नहीं थे।

[अब टीकाकार परमाणु को पर परिणति से रहित बताते हुए उदाहरण देकर स्पष्ट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(४२) **श्लोकार्थ**—परमाणु में पर परिणति से दूर शुद्ध पर्याय रूप होने पर उसमें स्कन्ध की पर्यायरूप शब्द नहीं है। जैसे कि जिनेन्द्र भगवान् में कामदेव की वार्ता नहीं है उसी प्रकार से परमाणु भी नित्य है उसमें शब्द रूप पर्याय नहीं है।

भावार्थ—यहां टीकाकार अपने कलश में कहते हैं कि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान में कामदेव की बात भी नहीं है उसी प्रकार से परमाणु में शब्द पर्याय नहीं है चूंकि शब्दपर्याय पुद्गल स्कन्ध की ही है। परमाणु नित्य द्रव्य है पर—दूसरे अणु अथवा जीव आदि के सम्पर्क से रहित है शुद्धपर्याय वाला है उसमें स्कन्ध की पर्यायें असम्भव हैं।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक भाग २ पृ० ४-६-४ अ. ५ सूत्र २७ ।।

पोग्गलदव्वं उच्चइ, परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो ति पुणो, ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुर्निश्चयेन इतरेण ।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य ॥२९॥

निश्चय से तो परमाणु ही पुद्गल दरब कहा ।
स्कन्ध तो पुद्गल दरब व्यवहार से रहा ॥
स्कन्ध हैं अशुद्ध द्रव्य अणु शुद्ध हैं ।
जो कुछ भी दिख रहा सभी स्कन्ध रूप हैं ॥२९॥

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम् । स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गलद्रव्यव्यपदेशः शुद्धनिश्चयेन । इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मनां स्कन्ध-पुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारतः सिद्धं भवति ।

गाथा २९

अन्वयार्थ--[निश्चयेन] निश्चयनय से [परमाणुः] परमाणु को [पुद्गल द्रव्यं उच्यते] पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और [इतरेण] व्यवहारनय से [पुनः स्कन्धस्य] पुनः स्कंध को [पुद्गलद्रव्यं इति व्यपदेशः इतिः] 'पुद्गल द्रव्य' ऐसा नाम होता है ।

टीका--यह पुद्गल द्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार है ।

शुद्ध निश्चयनय से स्वभाव से शुद्ध पर्यायस्वरूप परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य यह नाम होता है और इतर--व्यवहारनय की अपेक्षा से विभाव पर्याय स्वरूप स्कन्धरूप पुद्गलों में पुद्गलपना उपचार से सिद्ध होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज जीव और पुद्गल के विकल्पों से परे निर्विकल्प अवस्थारूप ध्यान की सिद्धि के हेतु प्रेरणा देते हुए तीन श्लोक कहते हैं ।]

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च ।
भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ ॥४३॥

(अनुष्टुभ्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना ।
सापि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ॥४४॥

---

(४३) **श्लोकार्थ**—इस प्रकार से जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग (आगम) से जान लिया है तत्त्वार्थ के समूह को जिसने ऐसे भव्य जीव सम्पूर्ण चेतन और अचेतन रूप परद्रव्य को छोड़ो तथा अन्तरंग निर्विकल्प समाधि में पर से विरहित चिच्चमत्कार मात्र परम तत्त्व का आश्रय लेवो ।

भावार्थ—ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट किया है कि निश्चयनय से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है और व्यवहारनय से स्कन्ध को भी पुद्गल द्रव्य कहा जाता है । यहां टीकाकार का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान् के आगम से जीव-अजीव आदि तत्त्वों को समझकर अपने से भिन्न सभी चेतन अचेतन द्रव्यों का सम्पर्क छोड़ो और वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर चिच्चैतन्य स्वरूप अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करो ।

(४४) **श्लोकार्थ**—पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है इसप्रकार की जो कल्पना है वह प्राथमिक शिष्यों को होती है किन्तु निष्पन्न योगियों को यह कल्पना नहीं होती है ।

भावार्थ—चौथे से छठे गुणस्थान तक जीव प्राथमिक शिष्य कहलाते हैं क्योंकि ये सविकल्प अवस्था में हैं और यहीं तक जीव चेतन है, पुद्गल अचेतन है ऐसी कल्पनायें होती हैं आगे निर्विकल्प ध्यान में यह विकल्प हो नहीं उठता है अतएव निर्विकल्प ध्यानी योगी निष्पन्न योगी कहलाते हैं क्योंकि वे योग ध्यान के अभ्यास में निष्पन्न (कुशल) हो चुके है अतः उनके ध्यान में ये कल्पनायें कैसे हो सकती हैं ?

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्
सचेतने वा परमात्मतत्त्वे ।
न रोषभावो न च रागभावो
भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥४५॥

---

(४५) **श्लोकार्थ**--पुद्गलकाय रूप इस अचेतन में अथवा परमात्म तत्त्व रूप सचेतन में न द्वेषभाव है न रागभाव है। यह शुद्ध दशा यतियों की होती है।

विशेषार्थ--पुद्गलकाय रूप अचेतन में द्वेष नहीं होवे और परमात्म तत्त्व रूप चेतन द्रव्य में राग नहीं होवे यह वीतराग शुद्ध दशा यतियों के ही हो सकती है। असंयत सम्यग्दृष्टि या देशव्रती श्रावकों में तो असम्भव ही है, किन्तु छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों को भी परमात्म तत्त्व स्वरूप अरिहंत सिद्ध परमेष्ठियों में अनुराग पाया जाता है। छठे गुणस्थान के योग्य वंदना, स्तुति आदि क्रियाओं में वे मुनि प्रवृत्त होते हैं। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी स्वयं प्रवचनसार में मुनियों की सराग चर्या का विधान किया है। यथा—

"[1]साधु अवस्था में यदि अर्हंतादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभोपयोगी चर्या है। साधु श्रमणों के प्रति वंदन, नमस्कार पूर्वक खड़े होना, पीछे चलना, विनय सहित प्रवृत्ति करना, उनको थकान दूर करना आदि करते हैं तो वह सराग चर्या में निषिद्ध नहीं है, प्रत्युत सम्यग्दर्शन ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का संग्रह, उनका पोषण और जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का उपदेश ये सब सरागी मुनियों की चर्या है।

---

१. अरिहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु। विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥
वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमण पडिवत्ती। समणेसु समणावणओण णिंदिदा राय चरियम्हि ॥२४७॥
दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। चरियम्हि सरागाणं जिणिंद पूजोवदेसो य ॥२४८॥
—प्रवचनसार

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च ।
अवगहणं आयासं, जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३०॥

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मःस्थितेः जीवपुद्गलानां च ।
अवगाहनस्याकाशं जीवादिसर्वद्रव्याणाम् ॥३०॥

जो जीव और पुद्गलों के चलने में कारण ।
वो धर्म द्रव्य औ अधर्म रुकने में कारण ॥
जीवादि सर्वद्रव्य को अवकाश जो देता ।
आकाश द्रव्य है वही सबको समा लेता ॥३०॥

धर्म्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम् । अयं धर्मास्तिकायः स्वयं गतिक्रियारहितः दीर्घिकोदकवत् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्यायोगिनः पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवतः सिद्धनामधेययोग्यस्य षट्कापक्रमविमुक्तस्य मुक्तिवामलोचनालोचनगोचरस्य

[अब सूत्रकार धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का वर्णन करते हुए कहते हैं :—]

गाथा ३०

अन्वयार्थ— [**जीवपुद्गलानां गमननिमित्तः**] जीव और पुद्गलों के गमन का निमित्त है [**धर्मः**] धर्मद्रव्य [**च**] और [**स्थितेः अधर्मः**] स्थिति का निमित्त अधर्मद्रव्य है, [**जीवादिसर्वद्रव्याणां**] जीवादि सभी द्रव्यों के [**अवगाहनस्य आकाशं**] अवकाश दान देने का निमित्त आकाश द्रव्य है ।

टीका—यह धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों का संक्षिप्त कथन है ।

यह धर्मास्तिकाय बावड़ी के जल सदृश स्वयं गतिक्रिया से रहित है । स्वाभाविक गतिक्रिया रूप से परिणत जो अयोग केवली भगवान् हैं यह धर्म द्रव्य उनकी स्वाभाविक गतिक्रिया में हेतु है । वे अयोग केवली भगवान् कैसे हैं? पांच ह्रस्व अक्षर अ इ उ ऋ लृ इनके उच्चारण मात्र काल की जिनकी स्थिति है जो 'सिद्ध' इस नाम के योग्य हैं छह प्रकार के अपक्रम से रहित हैं अर्थात् पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः ये छह गतियां संसारी

त्रिलोकशिखरिशेखरस्य अपहस्तितसमस्तक्लेशावासपञ्चविधसंसारस्य पंचमगतिप्राप्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतुः धर्मः । अपि च षट्कापक्रमयुक्तानां संसारिणां विभावगतिक्रिया-हेतुश्च । यथोदकं पाठीनानां गमन कारणं तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारणं स धर्मः । सोऽयममूर्तः अष्टस्पर्शनविनिर्मुक्तः वर्णरसपंचकगंधद्वितयविनिर्मुक्तश्च अगुरुक-लघुत्वादिगुणाधारः लोकमात्राकारः अखण्डैकपदार्थः । सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाश्चेति वचनादस्य गतिहेतोर्धर्मद्रव्यस्य शुद्धगुणाः शुद्धपर्याया भवन्ति । अधर्मद्रव्यस्य

जीवों की होती हैं इन्हें ही छह अपक्रम कहते हैं वे अयोग केवली इन गतियों से रहित हैं, जो मुक्ति सुन्दरी के लोचन के गोचर हैं—जिन्हें मुक्ति सुन्दरी देख रही है, जो तीन लोक के शिखरी के उत्तुंग-पर्वत के शेखर स्वरूप हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण क्लेश के निवास गृह स्वरूप पांच प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप संसार को समाप्त कर दिया है और जो पंचमगति—मोक्षगति के किनारे पहुंच चुके हैं ऐसे अयोगकेवली भगवान् की स्वाभाविक गति में वह धर्म द्रव्य कारण होता है और छह अपक्रम से सहित संसारी जीवों की विभावगतिरूप क्रिया में भी यह हेतु होता है ।

जिस प्रकार मछलियों के गमन का कारण जल है उसी प्रकार उन जीव और पुद्गलों के गमन का कारण यह धर्मद्रव्य है । सो यह द्रव्य अमूर्तिक आठ स्पर्शों से रहित, पांच वर्ण, पांच रस और दो गन्ध से रहित अगुरुलघु आदि गुणों का आधारभूत, लोकमात्र आकार वाला, अखण्ड एक पदार्थ है । 'सहभावी गुण होते हैं और क्रमवर्ती पर्यायें होती हैं' इस कथन से इस गति हेतुक धर्मद्रव्य के शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें होती हैं ।

अधर्म द्रव्य का स्थिति में हेतु होना यह विशेष गुण है । इस अधर्म द्रव्य के भी धर्मास्तिकाय के ही सभी गुण और पर्यायें होती हैं । अर्थात् धर्म द्रव्य का गति हेतु-त्व और अधर्म द्रव्य का स्थिति हेतुत्व दोनों द्रव्यों के ये गुण विशेष हैं जो कि दोनों में अन्तर कर देते हैं बाकी सारे गुण और पर्यायें भी समान ही हैं ।

आकाश द्रव्य का अवकाश देना लक्षण ही विशेष गुण है शेष जो धर्म और अधर्म के गुण हैं वे इस आकाश में भी सदृश ही हैं । लोकाकाश धर्म, अधर्म ये समान

स्थितिहेतुर्विशेषगुणः। अस्यैव तस्य धर्मास्तिकायस्य गुणपर्यायाः सर्वे भवन्ति। आकाशस्यावकाशदानलक्षणमेव विशेषगुणः। इतरे धर्माधर्मयोर्गुणाः स्वस्यापि सदृशा इत्यर्थः। लोकाकाशधर्माधर्मणां समानप्रमाणत्वे सति न ह्यलोकाकाशस्य ह्रस्वत्वमिति।

प्रमाण वाले होने पर भी अलोकाकाश को ह्रस्वपना—छोटापना नहीं होता है।

विशेषार्थ—यह धर्म द्रव्य स्वयं तो क्रिया हीन निष्क्रिय द्रव्य है 'निष्क्रियाणि च'[1]— धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं और निष्क्रिय हैं ऐसा वचन है फिर भी ये धर्म-अधर्म दोनों द्रव्य जीव और पुद्गलों को स्वभाव तथा विभावरूप दोनों प्रकार की ही गमन क्रियाओं में और दोनों प्रकार की ही स्थिति क्रियाओं में हेतु होते हैं। ये उदासीन हेतु मात्र से विवक्षित हैं प्रेरक हेतु नहीं है।

सबसे प्रथम टीकाकार ने अयोगकेवली की जो कर्मों से छूटकर लोक के अग्रभाग में जाने रूप गति होती है। उसे धर्मद्रव्य की गति में उदाहरण रूप से लिया है। सिद्धों की वह गति स्वाभाविक मानी गई है।

"[2]जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिणामो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ २॥"

गाथार्थ—यह जीव है, उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिणाम वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करनेवाला है। अर्थात् इस जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही है। तभी तो कर्मों से छूटते हुए ऊर्ध्वगमन कर जाता है और लोक के आगे धर्म द्रव्य के न होने से ही वहां पर अग्रभाग में ठहर जाता है। '[3]धर्मास्तिकायाभावात्' ऐसा सूत्र है।

अनन्तर टीकाकार ने इस धर्म द्रव्य के कतिपय प्रमुख-प्रमुख गुणों को भी बता दिया है। आगे अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के विशेष लक्षण को बताकर कह दिया है कि बाकी के सभी गुण तीनों द्रव्यों में समान ही हैं। ये धर्म अधर्म दो द्रव्य

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५ सूत्र ७। २. द्रव्यसंग्रह। ३. तत्त्वार्थसूत्र अ. १० सूत्र ८।

(मालिनी)

इह गमननिमित्तं यस्स्थितेः कारणं वा
यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम् ।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः ॥४६॥

समयावलिभेदेण दु, दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।
तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणप्पमाणं तु ॥३१॥

लोकाकाश प्रमाण हैं । "[1]धर्माधर्मयोः कृत्स्ने" ये द्रव्य लोकाकाश में तिल में तेल की तरह व्याप्त हैं ऐसा समझना चाहिये, इसलिए इन दोनों द्रव्यों का आकार भी लोकाकाश के समान है और प्रदेश भी लोकाकाश प्रमाण असंख्यात हैं । आकाश सभी द्रव्यों को जगह देता है । इसके लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद हैं—पुरुषाकार लोकाकाश से परे सब ओर अनन्तानन्त अलोकाकाश ही है । लोकाकाश के बाहर और कोई द्रव्य नहीं है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज इन द्रव्यों को जानकर आत्म द्रव्य में स्थिर होना चाहिए ऐसा कहते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(४६) **श्लोकार्थ**—यहां लोक में (जीव और पुद्गल को) गमन में निमित्त (धर्म द्रव्य) है और जो स्थिति में कारण है, जो अपर-अन्य द्रव्य अखिल द्रव्यों को स्थान देने में प्रवीण है इन सभी को द्रव्यरूप से सम्यक् प्रकार अवलोकन करके भव्यजीव सर्वदा अपने आत्म तत्त्व में प्रवेश करो ।

भावार्थ—टीकाकार कहते हैं कि इन द्रव्यों को द्रव्यरूप से जानकर अपने आत्म स्वरूप का अवलोकन करो ।

[अब सूत्रकार काल द्रव्य का लक्षण कहते हुए तीन गाथा सूत्र कहते हैं—]

---

१. तत्त्वार्थ. अ. ५ सूत्र १३ ।

समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः ।
अतीतः संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणस्तु ॥ ३१ ॥

व्यवहार काल के समय आवलि ये भेद दो ।
या भूत वर्तमान भावि तीन रूप वो ॥
संसार में अबतक के जो संस्थान धरे हैं ।
उनके सदृश अनंत समय भूतकाल है ॥३१॥

व्यवहारकालस्वरूपविविधविकल्पकथनमिदम् । एकस्मिन्नभःप्रदेशे यः परमाणुस्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनाल्लंघयति स समयो व्यवहारकालः । तादृशैरसंख्यातसमयैः निमिषः, अथवा नयनपुटघटनायत्नो निमेषः । निमेषाष्टकैः काष्ठा । षोढशभिः काष्ठाभिः कला । द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका । षष्टिनालिकमहोरात्रम् । त्रिंशदहोरात्रैर्मासः ।

गाथा ३१

अन्वयार्थ—[**समयावलि भेदेन तु द्विविकल्पः**] समय और आवलि के भेद से काल दो प्रकार का है [**अथवा त्रिविकल्पः भवति**] अथवा त्रिभेद वाला—भूत, भविष्यत्, वर्तमान भेद वाला होता है । [**अतीतः**] भूतकाल [**संख्यातावलिहतसंस्थानप्रमाणस्तु**] संख्यात आवलि से गुणित संस्थान प्रमाण है ।

टीका—यह व्यवहार के स्वरूप का और उसके अनेकों भेदों का कथन है ।

एक आकाश के प्रदेश पर जो परमाणु ठहरा हुआ है उसको मन्दगति से अन्य परमाणु उल्लंघन करता है उतना मात्र काल वह 'समय' नाम का व्यवहार काल है ऐसे असंख्यात समयों का एक 'निमिष' होता है अथवा नेत्र के पलक झपकने में जितना काल लगता है वह 'निमिष' है । आठ निमिषों की एक 'काष्ठा' होती है, सोलह काष्ठाओं की एक 'कला', बत्तीस कलाओं की एक 'घड़ी', साठ 'घड़ी' का एक दिन-रात, तीस दिन रात का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है । ऐसा आवली आदि रूप से व्यवहार काल का क्रम कहा । इसप्रकार से यह व्यवहार काल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का है अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है ।

द्वाभ्याम् मासाभ्याम् ऋतुः । ऋतुभिस्त्रिभिरयनम् । अयनद्वयेन संवत्सरः । इत्यावल्यादिव्यवहारकालक्रमः । इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति, अतीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा वा । अतीतकालप्रपञ्चोऽप्युच्यते —अतीतसिद्धानां सिद्धपर्यायप्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकालः स कालस्तेषां संसारावस्थायां यानि संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः । अनागतकालोऽप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः सदृश इत्यामुक्तेः सकाशादित्यर्थः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

"समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्तो ।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ।।"

अब अतीतकाल का विस्तार कहते हैं—अतीत कालीन सिद्धों के सिद्ध पर्याय के उत्पन्न होने के समय से पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल है वह इन सिद्धों के संसार अवस्था में जितने संस्थान-आकार-शरीर व्यतीत हो चुके हैं उनके सदृश होने से 'अनंत' प्रमाण हैं। अनागतकाल भी अनागत सिद्धों के जितने अनागत शरीर होवेंगे उनके सदृश होने से उन अनागत सिद्धों के मुक्त होने पर्यन्त जितना अर्थात् अनन्त है ।

पंचास्तिकाय सिद्धान्त में भी कहा है—

गाथार्थ—[1]'समय, निमिष, काष्ठा, कला, घड़ी, उससे आगे दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर इसप्रकार का काल पराश्रित काल कहलाता है। अर्थात् परमाणु के मन्दगति से गमन आदि और सूर्य के उदय अस्तमन आदि की अपेक्षा रखने से यह पराश्रित होता है और यह व्यवहार कहलाता है ।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्यदेव ने दो गाथाओं द्वारा व्यवहार के भूत, भविष्यत् और वर्तमान ऐसे तीन भेद बतलाकर उनमें कितने समय होते हैं इसका वर्णन किया है जो कि अस्पष्ट है । इसी संबंध में 'नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी कहा है—

---

१. गोमटसारजीवकांड ।

तथा हि—

(मालिनी)

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः ।

ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु ।
तीदो संखेज्जावलि हद सिद्धाणं पमाणं तु ॥५७८॥

गाथार्थ—व्यवहार काल के तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान, भविष्यत् । इनमें से सिद्धराशि का संख्यातावलि के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत अर्थात् भूतकाल का प्रमाण है ।

भावार्थ—छह महिना आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और सिद्ध राशि जीव राशि के अनन्तवें भाग है । यह सिद्ध राशि कितने काल में हुई इसके लिए त्रैराशिक फलराशि छह महीना ८ समय और इच्छाराशि सिद्धों के प्रमाण से गुणा करके प्रमाण राशि छह सौ आठ का भाग देने पर अतीत काल का प्रमाण संख्यातावलि गुणित सिद्धराशि लब्ध आता है । वर्तमान और भविष्यत् काल का प्रमाण बताते हैं—

समओ दु वट्टमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि ।
भावी अणंत गुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥५७९॥

अर्थ—वर्तमान काल का प्रमाण एकसमय है । सम्पूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गलराशि से भी अनन्तगुणा भविष्यत् काल का प्रमाण है । इसप्रकार व्यवहार काल के तीन भेद हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज कालद्रव्य को जानकर शुद्ध आत्म तत्त्व के अनुभव करने का उपदेश करते हुए श्लोक कहते हैं ।]

(४७) **श्लोकार्थ**—समय, निमिष, कला और नाड़ी को आदि लेकर दिवस और रात्रि के भेद से यह काल (व्यवहार काल) उत्पन्न होता है । मुझे निज निरूपम

न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचिद्
निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय ।।४७।।

जीवाणु पुग्गलाणोरणंतगुणा चावि[1] संपदा[2] समया ।
लोयायासे संति य, परमट्ठो सो हवे कालो ।।३२।।

जीवात् पुद्गलतोनंतगुणाश्चापि संप्रति समयाः ।
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः ।।३२।।

जो जीव व पुद्गल से भी अनन्त गुणें हैं ।
वे भाविकाल के समय संप्रति का एक है ।।
इस लोक गगन में असंख्य काल अणू हैं ।
उसने प्रमाण वे सभी परमार्थ काल हैं ।।३२।।

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत् । जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः । के ते ? समयाः । कालाणवः लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति, स कालः परमार्थः इति ।

तत्त्व रूप शुद्ध एक आत्मा को छोड़कर उस काल से किंचित् भी फल नहीं है ।

भावार्थ—टीकाकार का कहना है कि शुद्ध निज आत्मतत्त्व के सिवाय मुझे इन कालों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

गाथा ३२

अन्वयार्थ--[सम्प्रति] अब [जीवात् पुद्गलतः च अपि] जीव और पुद्गल से भी [अनन्तगुणाः समयाः] अनन्तगुणे समय होते हैं [लोकाकाशे च संति] और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो विद्यमान हैं [सः परमार्थः कालः भवेत्] वह परमार्थ काल होता है ।

टीका—मुख्य काल के स्वरूप का यह कथन है ।

जीव राशि और पुद्गल राशि से अनन्तगुणे समय है और कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर पृथक्-पृथक् ठहरे हुए हैं वह काल ही परमार्थ काल है ।

---

१. भाविं (क) पाठान्तर २. सपदी (क) पाठान्तर ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे--

"समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ।।"

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणुस्वरूपमुक्तम् ।

अन्यच्च--

"लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि ।।"

उक्तं च मार्गप्रकाशे--

विशेषार्थ—कालाणु असंख्यात हैं वे आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित हैं। इसलिए काल द्रव्य तो असंख्यात हैं किन्तु काल द्रव्य के त्रैकालिक समय 'अनन्त' माने गये हैं। "[1]सोऽनन्तसमयः' ऐसा सूत्रकार श्री उमास्वामि आचार्य का वचन है। यहां पर यह अनन्त भी सम्पूर्ण अनन्तानन्त जीवराशि और उससे अनंत-गुणी पुद्गलराशि से भी अनन्तगुणे प्रमाण जो काल है उतने प्रमाण वाला है। जो कालाणु हैं वे ही परमार्थ काल हैं अर्थात् उन्हें ही निश्चयकाल द्रव्य कहा गया है।

उसीप्रकार से प्रवचनसार में कहा गया है—

गाथार्थ—[2]"समय–काल तो अप्रदेशी–एक प्रदेशी है, प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु आकाश द्रव्य के प्रदेश को मंदगति से उल्लंघन कर रहा हो तब वह काल वर्तता है अर्थात् निमित्त रूप से परिणमित होता है।"

यहां पर भी 'समय' शब्द से मुख्य कालाणु के स्वरूप को कहा है। अन्यत्र भी कहा है—

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. ५ सूत्र ४। २. प्रवचनसार गाथा १३८।

(अनुष्टुभ्)

"कालाभावे न भावानां परिणामस्सदंतरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्यायःसर्वाभावः प्रसज्यते ॥"

तथा हि--

(अनुष्टुभ्)

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत् ।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत् ॥४८॥

गाथार्थ--[1]"लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान पृथक् पृथक् रूप से स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ।

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है--

श्लोकार्थ--"कालद्रव्य के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं हो सकता है और परिणमन के बिना न तो द्रव्य ही रह सकता है और न पर्याय ही रह सकती है, इसप्रकार से तो सभी के अभाव का प्रसंग आ जाता है।" अर्थात् काल द्रव्य के अस्तित्व को माने बिना किसी भी वस्तु का परिणमन सम्भव नहीं होगा, पुनः परिणमन के बिना द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व भी समाप्त हो जावेगा तब तो सर्व शून्य हो जाने से शून्यवाद का सिद्धान्त ही पुष्ट हो जावेगा यह अभिप्राय है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार श्री मुनिराज काल के अस्तित्व को पुष्ट करते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(४८) श्लोकार्थ--यह काल द्रव्य कुम्भकार के चक्र के समान पांचों अस्तिकायों में वर्तना का हेतु है । इसके बिना वर्तना नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—यह काल द्रव्य सभी द्रव्यों की वर्तना में-परिणमन में हेतु है । यदि यह द्रव्य न हो तो किसी भी द्रव्य में परिणमन रूप परिवर्तन नहीं हो सकता है ।

---

१. द्रव्यसंग्रह गाथा २२ ।

(अनुष्टुभ्)

प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः ।
धर्माधर्मनभःकालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः ।।४९।।

जीवादीदव्वाणं, परिवट्टणकारणं हवे कालो ।
धम्मादिचउण्हं णं, सहावगुणपज्जया होंति ।।३३।।

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणंभवेत्कालः ।
धर्मादिचतुर्णां स्वभावगुणपर्याया भवंति ।।३३।।

जीवादि सभी द्रव्य में जो वर्तना कही ।
उसमें निमित्त मुख्य काल ही रहे सही ।।
जो धर्म और अधर्म गगन काल द्रव्य हैं ।
उनमें स्वभाव गुण तथा पर्याय भेद हैं ।।३३।।

यद्यपि प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से परिणमनशील हैं फिर भी उनके परिणमन में कालद्रव्य सहकारी कारण है । जैसे घड़े को बनाने में चक्र सहकारी कारण है ।

(४९) श्लोकार्थ—सभी जीव और पुद्गल राशि प्रतीति के गोचर हैं और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य सिद्धान्त पद्धति से सिद्ध हैं ।

भावार्थ—टीकाकार का ऐसा आशय प्रतीत होता है कि जीव और पुद्गल तो प्रतीति के विषय हो ही रहे हैं और धर्मादि चारों द्रव्य सर्वथा अमूर्तिक होने से सिद्धांत–आगम से सिद्ध हैं इन पर भी विश्वास करना चाहिए ।

गाथा ३३

अन्वयार्थ—[**जीवादि द्रव्याणां**] जीव आदि द्रव्यों में [**परिवर्तनकारणं**] परिवर्तन का कारण [**कालः भवेत्**] काल द्रव्य होता है । [**धर्मादि चतुर्णां**] धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारों में [**स्वभावगुणपर्यायाः भवंति**] स्वभाव गुण और पर्यायें होती हैं ।

कालादिशुद्धामूर्तचेतनद्रव्याणां स्वस्वभावगुणपर्यायाख्यानमेतत् । इह हि मुख्यकालद्रव्यं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां पर्यायपरिणतिहेतुत्वात् परिवर्तनलिंगमित्युक्तम् । अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयविजातीयबंधसम्बन्धाभावात् विभावगुणपर्यायाः न भवंति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भवन्तीत्यर्थः । ते गुणपर्यायाः पूर्वं प्रतिपादिताः, अत एवात्र संक्षेपतः सूचिता इति ।

(मालिनी)

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत् ।
तदिह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं
भवतु भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ॥५०॥

टीका—काल आदि शुद्ध अमूर्तिक अचेतन द्रव्यों के निज स्वभाव गुण और पर्यायों का यह कथन है ।

यहां पर मुख्य काल द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांचों द्रव्यों में पर्यायों के परिणमन का हेतु होने से परिवर्तन लक्षण वाला कहा गया है ।

अब धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में स्वजातीय और विजातीय बंध के सम्बन्ध का अभाव होने से विभाव गुण पर्यायें नहीं होती हैं, अपितु स्वभाव गुण पर्यायें होती हैं, ऐसा अर्थ है । उन गुण और पर्यायों का पहले प्रतिपादन कर दिया है इसलिये यहां पर संक्षेप से सूचित किया है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज षट् द्रव्य के जानने के महत्त्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं ।]

(५०) श्लोकार्थ—इस प्रकार से जो अतिरम्य, भव्य जीवों के कर्णों को अमृत के समान शोभायमान छह द्रव्यों का विवरण विस्तार से (मेरे द्वारा) रचा गया है । वह विवरण जैन मुनियों के चित्त को प्रमुदित करने वाला है । वह षट् द्रव्य का विवरण सर्वदा भव्य जीव को संसार से मुक्ति के लिए होवे ।

एदे छद्दव्वाणि य, कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति ।
णिद्दिट्ठा जिणसमये, काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥३४॥

एतानि षड्द्रव्याणि च कालं मुक्त्वास्तिकाया इति ।
निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खलु बहुप्रदेशत्वम् ॥३४॥

काल द्रव्य छोड़ करके द्रव्य शेष ही ।
कहलाते अस्तिकाय और काल अस्ति ही ॥
जिनदेव के शासन में पांच काय कहाये ।
क्योंकि ये बहु प्रदेश रूप शास्त्र में गाये ॥३४॥

अत्र कालद्रव्यमन्तरेण पूर्वोक्तद्रव्याण्येवपञ्चास्तिकाया भवंतीत्युक्तम् । इह हि द्वितीयादिप्रदेशरहितः कालः, 'समओ अप्पदेशो' इति वचनात् । अस्य हि द्रव्यत्वमेव, इतरेषां पंचानां कायत्वमस्त्येव । बहुप्रदेशप्रचयत्वात् कायः । काया इव कायाः ।

भावार्थ—यह छह द्रव्यों का विवरण भव्य जीवों को मुक्ति प्रदान करे। अभिप्राय यह है कि भव्यजीव इन द्रव्यों के विवरण को समझकर उन पर दृढ़ श्रद्धान करेंगे तभी वे रत्नत्रय से सहित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे, अन्यथा नहीं ।

गाथा ३४

अन्वयार्थ—[**कालं मुक्त्वा**] काल द्रव्य को छोड़कर [**एतानि षट् द्रव्याणि च**] ये छहों द्रव्य [**अस्तिकायाः**] अस्तिकाय [**इति जिनसमये निर्दिष्टा**] इसप्रकार से जिन शासन में कहे गये हैं [**बहुप्रदेशत्वं खलु कायाः**] क्योंकि निश्चित रूप से बहु-प्रदेशी को 'काय' यह संज्ञा है ।

टीका—यहां पर काल द्रव्य के बिना पूर्वोक्त द्रव्य ही पंचास्तिकाय होते हैं ऐसा कहा है ।

यहां—विश्व में द्वितीय आदि प्रदेशों से रहित काल द्रव्य होता है । [1]'समय-काल अप्रदेशी है' ऐसा वचन है । इस काल को द्रव्यत्व ही है, शेष पांचों द्रव्यों को

---

१. प्रवचनसार गाथा १३८ ।

पञ्चास्तिकायाः । अस्तित्वं नाम सत्ता । सा किंविशिष्टा ? सप्रतिपक्षा, अवान्तरसत्ता महासत्तेति । तत्र समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । समस्तव्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता ।

कायपना है ही है । बहुत प्रदेशों का प्रचय-समूह होने से काय संज्ञा है, यह काय के समान ही काय है । अर्थात् जैसे काय-शरीर बहुत से प्रदेशों के समूह रूप है उसी-प्रकार यह इन द्रव्यों में भी बहुत से प्रदेश रहते हैं इसलिए बहुत प्रदेशी होने से पांच द्रव्य अस्तिकाय संज्ञक हैं ।

अस्तित्व नाम सत्ता का है । वह कैसी है ? वह सत्ता अपने प्रतिपक्ष-असत्ता से सहित है । उसके दो भेद हैं—(१) अवान्तर सत्ता (२) महासत्ता । समस्त वस्तुओं के विस्तार में व्याप्त होकर रहने वाली महासत्ता है और प्रतिनियत वस्तु को व्याप्त करनेवाली अवान्तर सत्ता है । समस्त व्यापक रूप में व्याप्त रहने वाली महासत्ता है और प्रतिनियत एक रूप को व्याप्त करने वाली अवांतर सत्ता है । अनन्त पर्यायों में व्याप्त होनेवाली महा सत्ता है और प्रतिनियत एक पर्याय को व्याप्त करने वाली अवांतर सत्ता है । "अस्ति—है" इसके भाव को अस्तित्व कहते हैं । इस अस्तित्व से और काय से सहित पांच अस्तिकाय हैं । कालद्रव्य में अस्तित्व ही है, किन्तु कायपना नहीं है क्योंकि उसमें काय के समान बहुत प्रदेशों का अभाव है ।

विशेषार्थ—यहां पर पंच अस्तिकायों का लक्षण बताकर काल द्रव्य अस्ति-काय क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण करते हुए सत्ता के लक्षण को सुन्दर ढंग से बताया है । सत्ता—अस्तित्व—विद्यमानता—मौजूद रहना । यह सत्ता सामान्य की अपेक्षा एक है सम्पूर्ण चेतन—अचेतन आदि पदार्थ लोकाकाश और अलोकाकाश भी सभी इसी के अन्तर्गत हैं । अर्थात् अस्तित्व सामान्य से सभी वस्तुयें सत् रूप हैं इस बात को संग्रह-नय विषय करता है । इसी रहस्य को न समझकर कुछ एकान्तवादी लोग इस सत्ता को एक परमब्रह्म रूप से मानने लगे हैं । अस्तु यहां यह बताना है कि यह सत्ता अपने विरोधी असत्ता-नास्तित्व के साथ अविनाभावी है । जैसे यह पुस्तक है तो इसमें स्व द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व धर्म है और उसी काल में पर द्रव्य चौकी,

अस्तीत्यस्य भावः अस्तित्वम् । अनेन अस्तित्वेन कायत्वेन सनाथाः पञ्चास्तिकायाः । कालद्रव्यस्यास्तित्वमेव, न कायत्वं, काया इव बहुप्रदेशाभावादिति ।

(आर्या)

इति जिनमार्गाम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या ।
षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम् ॥५१॥

येन आदि की अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी विद्यमान है । वस्तु का अस्ति धर्म जितना महत्त्व रखता है उतना ही महत्व नास्तित्व धर्म भी रखता है, अन्यथा यह जीव अजीव हो जावे ।

यह महासत्ता सत् सामान्य रूप है, अभिप्राय यह है कि सभी अस्तिरूप से ग्रहण कर लेती है । अवान्तर सत्ता प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग है जैसे हमारी, आपकी, पुस्तक की, सिद्धों की आदि सबकी अपनी-अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् है ।

पांच द्रव्य अस्ति रूप भी हैं और बहुप्रदेशी होने से कायरूप भी हैं इसलिये अस्तिकाय हैं । भले ही पुद्गल का अविभागी परमाणु एक प्रदेशी-अप्रदेशी है फिर भी वह स्कन्ध रूप बनने की शक्ति रखता है इसलिए उपचार से वह भी बहुप्रदेशी कह दिया जाता है अतः वह भी अस्तिकाय है । काल द्रव्य अस्ति रूप से अस्ति तो है, किन्तु उपचार से भी बहुप्रदेशी न होने से काय नहीं है इसलिए पांच द्रव्य ही अस्तिकाय संज्ञक है । वैसे द्रव्यरूप से द्रव्य तो छह हैं ही हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज षट् द्रव्य रूपी रत्नों से विभूषित होने का उपदेश देते हुए श्लोक कहते हैं ।]

(५१) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार पूर्वाचार्यों ने प्रीति पूर्वक भव्यों के कंठ के भूषण के लिए षड् द्रव्य रूपी रत्नों की माला निकाली है ।

भावार्थ—जिसप्रकार समुद्र से रत्न निकाले जाते हैं और धनी पुरुष उनकी माला पहन लेते है उसीप्रकार से भगवानकी वाणी रूपी समुद्र से आचार्यों ने छह

संखेज्जासंखेज्जा[1]णंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा हु ।।३५।।
लोयायासे ताव, इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा ।।३६।।

संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य ।
धर्माधर्मयोः पुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशाः खलु ।।३५।।
लोकाकाशे तद्वदितरस्यानंता भवन्ति देशाः ।
कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यस्मात् ।।३६।।

संख्यात असंख्यात औ अनंत प्रदेशी ।
पुद्गलदरव हैं उसमें अणु एक प्रदेशी ।।

द्रव्यरूपी रत्न निकाले हैं और इन रत्नोंकी माला भव्यों के कण्ठ का आभरण बनती है अर्थात् भव्य जीव ही इन छह द्रव्यों के मर्म को हृदयंगम करते हैं, अभव्य नहीं करते हैं ।

गाथा ३५-३६

अन्वयार्थ—[**मूर्तस्य**] मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के [**संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशाः**] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश [**भवंति**] होते हैं [**धर्माधर्मयोः**] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य [**पुनः जीवस्य**] और जीवद्रव्य के [**खलु असंख्यात प्रदेशाः**] निश्चित रूप से असंख्यात प्रदेश हैं ।

[**लोकाकाशे तद्वत्**] लोकाकाश में इन्हीं धर्मादि तीनों के सदृश असंख्यात-प्रदेश होते हैं [**इतरस्य अनंताः प्रदेशाः**] अन्य अलोकाकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं [**कालस्य कायत्वं न**] काल द्रव्य के कायपना नहीं है [**यस्मात्**] इसी हेतु से [**एक-प्रदेशः भवेत्**] एक प्रदेश वाला होता है ।

---

१. संखेज्जासंखिज्जा (क) पाठान्तर ।

इक जीव धर्म अो अधर्म के प्रदेश जो।
कहलाते असंख्यात भी आपस में सदृश वो ॥३५॥
असंख्य ही प्रदेश लोकाकाश में कहें।
ये तो अलोकाकाश में अनंत ही रहें॥
ये काल द्रव्य काय नहीं अस्तिमात्र हैं।
क्योंकि कहा ये एक प्रदेशी हि द्रव्य है॥३६॥

षण्णां द्रव्याणां प्रदेशलक्षणसंभवप्रकारकथनमिदम्। शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतं नभःस्थलमेव प्रदेशः। एवंविधाः पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशाः संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च। लोकाकाशधर्माधर्मैकजीवानामसंख्यातप्रदेशा भवन्ति। इतरस्यालोकाकाश-

---

टीका—छहों द्रव्यों के प्रदेश के लक्षण और संभव के प्रकार का यह कथन है।

शुद्ध पुद्गल परमाणु से गृहीत आकाश स्थल को ही प्रदेश कहते हैं अर्थात् एक पुद्गल परमाणु से घिरा हुआ आकाश प्रदेश जितना है उसको ही प्रदेश कहते हैं। पुद्गल द्रव्य में ऐसे प्रदेश, संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं। लोकाकाश, धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। इतर—अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं और काल द्रव्य में एक प्रदेश होता है इसी कारण से इसमें कायपना नहीं होता है, किन्तु द्रव्य तो है ही है।

विशेषार्थ—किस द्रव्य में कितने-कितने प्रदेश होते हैं इस बात को यहां बताया है। वास्तव में यह प्रदेश कल्पना कल्पित नहीं है, किन्तु वास्तविक ही है ऐसा तत्त्वार्थवार्तिक में श्री अकलंक देव ने सिद्ध किया है। तद्यथा—"[1]धर्मादि द्रव्य अतीन्द्रिय हैं, परोक्ष हैं अतः उनमें मुख्यरूप से प्रदेश विद्यमान रहने पर भी स्वतः उनका ज्ञान नहीं होता है इसलिए परमाणु के माप से उनका व्यवहार किया जाता है।

अर्हंत के द्वारा प्रणीत गणधर के द्वारा अनुस्मृत तथा आचार्य परम्परा से प्राप्त श्रुत में इन सर्व द्रव्यों के प्रदेशों का वर्णन इसप्रकार उपलब्ध है—एक-एक आत्मप्रदेश में अनन्तानन्त ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रदेश ठहरे हैं। एक-एक कर्म प्रदेश में

---

१. तत्त्वार्थवा. पृ. ४५०।

ाः प्रदेशा भवन्ति । कालस्यैकप्रदेशो भवति, अतः कारणादस्य कायत्वं न भवति द्रव्यत्वमस्त्येवेति ।

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः
कृतं मया कंठविभूषणार्थम् ।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं
बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥५२॥

पुग्गलदव्वं मुत्तं[1], मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीवो, चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥३७ ॥

लानन्त औदारिक आदि शरीरों के प्रदेश हैं । एक-एक शरीर प्रदेश में अनन्तानन्त सोपचयपरमाणु गीले गुड़ में धूल की तरह लगे हुए हैं । इसीप्रकार धर्मादि द्रव्यों मुख्य प्रदेश जानना चाहिए । आगम में जीव के प्रदेशों को चल और अचल दो में बताया है--सुख-दुःख का अनुभव, पर्याय परिवर्तन या क्रोधादि दशा में जीव प्रदेशों की उथल पुथल को चल कहते हैं । जीव के मध्य के आठ प्रदेश सदा स्थित-ल ही रहते हैं । अयोगी और सिद्धों के सभी प्रदेश सदा स्थित ही हैं । संसारी ों के व्यायाम आदि के समय उक्त आठ मध्य प्रदेशों को छोड़कर शेष प्रदेश चल हैं । बाकी जीवों के दोनों प्रकार के होते हैं । अतः ज्ञात होता है कि जीवों के ही प्रदेश हैं, काल्पनिक नहीं हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज छह द्रव्यों के ज्ञान की सफलता को बताते श्लोक कहते हैं--]

(५२) श्लोकार्थ—मैंने मुमुक्षु जीव के कण्ठ को भूषित करने के लिये पदार्थ रत्नों का आभरण (हार) बनाया है । इससे बुद्धिमान् लोग व्यवहार मार्ग को करके पुनः शुद्धमार्ग (निश्चय मार्ग) को जान लेते हैं ।

---

१. मोत्तं (क) पाठान्तर ।

पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि ।
चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि ।।३७।।

पुद्गल दरब मूर्तिक कहा रूपादिमान है ।
और शेष अमूर्तिक कहें वर्णादि शून्य हैं ।।
बस जीव हैं चैतन्य भाव युक्त जगत में ।
चैतन्य गुण से शून्य शेष द्रव्य हैं सच में ।।३७।।

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोयम् । तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम् इतरेषाममूर्तत्वम् । जीवस्य चेतनत्वम्, इतरेषामचेतनत्वम् । स्वजातीयविजातीयबन्धनापेक्षया जीवपुद्गलयोरशुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति ।

गाथा ३७

अन्वयार्थ—[**पुद्गलद्रव्यं मूर्तं**] पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है [**शेषाणि**] शेष पांच द्रव्य [**मूर्तिविरहितानि**] मूर्तिक अवस्था से रहित अमूर्तिक हैं [**जीवः चैतन्यभावः**] जीव चैतन्य स्वभाव वाला है [**शेषाणि**] शेष पांचद्रव्य [**चैतन्यगुणवर्जितानि**] चैतन्य गुण से वर्जित हैं ।

टीका—अजीव द्रव्य के व्याख्यान का यह उपसंहार है ।

उन मूल पदार्थ–छहों द्रव्यों में से पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, अन्य शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं । जीव चेतन गुण वाला है, शेष पांच द्रव्य अचेतन गुण वाले हैं । स्वजातीय और विजातीय बन्धन की अपेक्षा से जीव और पुद्गल में अशुद्धपना है, शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल में विशेषगुण की अपेक्षा से शुद्धपना ही है ।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल में ही विभाव गुण पर्यायें होती हैं अतः ये दो द्रव्य ही अशुद्ध होते हैं, शेष चार द्रव्य कभी भी अशुद्ध नहीं होते हैं । यहां पर स्वभाव की अपेक्षा से जीव को अमूर्तिक कहा है किन्तु अन्यत्र ग्रन्थों में कर्मबन्ध की अपेक्षा से संसारी जीव को कथंचित् मूर्तिक भी कहा है । यथा—

(मालिनी)

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य ।

"[1]वण्णरसपंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।।"

अर्थ— पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श निश्चयनय से ये जीव में नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्तिक है और व्यवहार नय से कर्म बन्ध होने से जीव मूर्तिक है ।

ऐसे ही श्री भट्टाकलंक देव ने भी कहा है—

प्रश्न—[2]आत्मा अमूर्तिक है अतः उसका कर्म पुद्गलों से अभिभव नहीं होना चाहिए ।

उत्तर—अनादि कर्मबन्धन के निमित्त से उसमें विशेष शक्ति आ जाती है । यद्यपि अनादि पारिणामिक चैतन्यस्वरूप आत्मा की नरनारकादि एवं मतिज्ञानादि पर्यायें चेतन हो हैं, फिर भी वह अनादि कार्मण शरीर के कारण मूर्तिक हो रहा है और इसीलिये उस पर्याय सम्बन्धी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है । आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है । जैसे मदिरापेयी की स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही कर्मोदय से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं । .....कहा भी है—[3]"बंध की अपेक्षा से आत्मा और कर्म में एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनों में भिन्नता है अतः आत्मा एकान्त से अमूर्तिक नहीं है ।"

[अब टीकाकार श्री मुनिराज षट्द्रव्यों में से समयसार की सिद्धि रूप फल को बताते हुए श्लोक कहते हैं—]

---

१. द्रव्यसंग्रह गाथा ७. अ. १ । २. तत्त्वार्थवार्तिक पृष्ठ ११७ ।

३. "बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स" ॥ तत्त्वार्थ वा. पृ. ११८ ॥

सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥५३॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ अजीवाधिकारो द्वितीयः श्रुतस्कंधः।

---

(५३) श्लोकार्थ—इसप्रकार ललित पदों की पंक्ति जिस भव्योत्तम के मुख कमल में सदा शोभती है उस तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र ही समयसार स्वरूप शुद्ध आत्मा प्रकाशित होता है पुनः इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

भावार्थ—छह द्रव्यों का पठन-पाठन करनेवाले जीव आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

विशेष—द्वितीय अधिकार में आचार्य महोदय ने गाथा २० से ३७वीं गाथा पर्यन्त अजीव द्रव्य का वर्णन किया है। इसमें सबसे प्रथम पुद्गल के अणु और स्कन्ध से दो भेद कहे हैं पुनः अणु के चार भेद किये हैं और स्कन्ध के छह भेद किये हैं तथा उन्हें उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया है। परमाणु का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हुए पुद्गल द्रव्य में भी निश्चय, व्यवहारनयों की अपेक्षा घटित की है। अनन्तर संक्षेप में धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य का वर्णन करके पुनः काल द्रव्य का वर्णन विशदरूप से किया है। स्थल-स्थल पर टीकाकार ने निश्चय-व्यवहार नयों की अपेक्षा को खोलते हुये शुद्धात्म तत्त्व की भावना की ओर ही पाठकों को झुकाया है। टीकाकार ने अजीव तत्त्व को समझाकर उससे पृथक् होने के लिए बारंबार प्रेरणा दी है। तथा जगह २ साहित्य सौष्ठव से विद्वानों के मन को अनुरंजित करते हुए अध्यात्म के आनन्द रस का पान कराया है। आगे शुद्ध अधिकार में केवल शुद्ध आत्म तत्त्व की मुख्यता से जीव द्रव्य को कहेंगे।

इसप्रकार से सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्य के समान पंचेंद्रिय विषयों के प्रसार से रहित, गात्र मात्र परिग्रह धारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में अजीवाधिकार नाम का द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

☼ ☼ ☼

[३]

शुद्धभाव अधिकार

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते ।

जीवादिबहित्तच्चं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भव, गुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा ।
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

जीवादि तत्त्व बाह्य हैं वे हेय बताये ।
स्वात्मा ही आत्मा को उपादेय कहाये ॥
कर्मों की उपाधी से हुए जो भी गुण कहैं ।
पर्यायें भी उन सबसे भिन्न आत्म शुद्ध हैं ॥३८॥

अब शुद्धभाव अधिकार को कहते हैं—

गाथा ३८

अन्वयार्थ—[**जीवादि बहिस्तत्त्वं**] जीवादि बाह्यतत्त्व [**हेयं**] छोड़ने योग्य हैं [**कर्मोपाधि समुद्भवंगुणपर्यायैः**] कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुये गुण और पर्यायों से [**व्यतिरिक्तः**] रहित [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मनः उपादेयं**] आत्मा को उपादेय है ।

[३]

शुद्धभाव अधिकार

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते ।

जीवादिबहित्तच्चं, हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भव, गुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा ।
कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

जीवादि तत्त्व बाह्य हैं वे हेय बताये ।
स्वात्मा ही आत्मा को उपादेय कहाये ॥
कर्मों की उपाधी से हुए जो भी गुण कहें ।
पर्यायें भी उन सबसे भिन्न आत्म शुद्ध हैं ॥३८॥

अब शुद्धभाव अधिकार को कहते हैं—

गाथा ३८

अन्वयार्थ—[**जीवादि बहिस्तत्त्वं**] जीवादि बाह्यतत्त्व [**हेयं**] छोड़ने योग्य हैं [**कर्मोपाधि समुद्भवगुणपर्यायैः**] कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुये गुण और पर्यायों से [**व्यतिरिक्तः**] रहित [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मनः उपादेयं**] आत्मा को उपादेय है ।

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ॥५४॥

णो खलु सहावठाणा, णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥३९॥

वर्णन ही कहेगा न कि क्षायिक भाव रूप ऐसा यहां अभिप्राय है तथा शुद्धोपयोगी महामुनियों की निर्विकल्प ध्यान में परिणत आत्मा ही कारण परमात्मा है।

[अब टीकाकार मुनिराज उस शुद्धात्मा को आशीर्वादात्मक शब्दों से नमस्कार करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(५४) **श्लोकार्थ**—जो सर्व तत्त्वों में एक सारभूत है, सकल विलय—नष्ट होने योग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट कर दिया है, जो पाप रूप वृक्ष को काटने के लिए कुठार स्वरूप है, शुद्धज्ञान का अवतार है, सुख समुद्र का पूर है और जो क्लेश रूपी समुद्र का तट है ऐसा समयसार (शुद्ध आत्मा) जयशील हो रहा है।

भावार्थ—परम योगीजन अपने हृदय में शुद्ध आत्मा का ध्यान करके अपनी कारण परमात्मारूप आत्मा को कार्य बना लेते हैं। अर्थात् देहरूपी देवालय में शक्ति-रूप कारण परमात्मा विराजमान है वही व्यक्तरूप से कार्य परमात्मा बन जाता है।

गाथा ३९

अन्वयार्थ—[**जीवस्य खलु स्वभावस्थानानि न**] जीव के वास्तव में स्व-भाव स्थान नहीं हैं [**मानापमानभावस्थानानि वा न**] और मान-अपमान भाव के स्थान भी नहीं हैं [**हर्षभावस्थानानि न**] हर्षभाव के स्थान नहीं हैं [**वा अहर्षस्था-नानि न**] और अहर्ष-विषाद भाव के स्थान भी नहीं हैं।

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा ।
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा ॥३९॥

स्वभाव औ विभाव स्थान जीव के नहीं ।
नहिं मान व अपमान भाव जीव में कहीं ॥
नहिं हर्ष भाव भी कभी होता है जीव के ।
वैसे हि न विषाद भाव भी हो जीव के ॥३९॥

निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य शुद्धजीवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि । प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्न च मानापमानहेतुभूतकर्मोदयस्थानानि । न खलु शुभपरिणतेरभावाच्छुभकर्म, शुभकर्माभावान्न संसारसुखं, संसारसुखस्या भावान्न हर्षस्थानानि । न चाशुभपरिणतेरभावादशुभकर्म, अशुभकर्माभावान्न दुःखं, दुःखाभावान्न चाहर्षस्थानानि चेति ।

टीका—यह निर्विकल्प तत्त्व के स्वरूप का कथन है ।

तीनों कालों में उपाधि रहित है स्वरूप जिसका, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय के निश्चितरूप से विभावरूप स्वभाव स्थान नहीं हैं, उस शुद्ध जीव के प्रशस्त और अप्रशस्त रूप संपूर्ण मोह-राग तथा द्वेष का अभाव हो जाने से मान-अपमान में कारणभूत ऐसे कर्मों के उदयरूप स्थान नहीं हैं, वास्तव में शुभ परिणति के अभाव से शुभ कर्म नहीं हैं, शुभ कर्म के अभाव से संसार सुख नहीं है और संसार सुख के अभाव से जीव के हर्षस्थान भी नहीं हैं तथा अशुभ परिणति के अभाव से अशुभ कर्म नहीं हैं अशुभ कर्म के अभाव से दुःख नहीं हैं और दुःख के अभाव से हर्ष से विपरीत विषाद आदि स्थान नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—यहां पर भी गाथा में श्री आचार्य देव ने कहा है कि जीव के स्वभाव स्थान नहीं है । अभिप्राय यह है कि यहां पर निर्विकल्प तत्त्व का वर्णन होने से स्वभाव और विभाव आदि सभी विकल्प दूर किये गये हैं अथवा संसारी जीवों के जो भाव हैं वे संसार अवस्था में जीव के स्वभाव कह दिये जाते हैं उनकी विवक्षा से भी यहां स्वभाव शब्द को लिया जा सकता है जैसे कि टीकाकार ने स्वभाव के पहले

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिंबाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषि प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

णो ठिदिबंधट्ठाणा, पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा ।
णो अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

विभाव विशेषण लगाकर स्पष्ट किया है । इसप्रकार जीव द्रव्य के शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से कर्मोदय का अभाव होने से स्वभाव-विभाव, मान-अपमान, सुख-दुःख, हर्ष विषादादि भाव नहीं हैं वह निर्विकल्प चिच्चैतन्य स्वरूप मात्र ही है ।

[अब श्लोकाकार श्री मुनिराज शाश्वत सुख में रुचि करने के लिये संसार के दुःख से छूटने के लिए प्रेरणा देते हुए श्लोक कहते हैं—]

(५५) **श्लोकार्थ** —जिसका प्रीति अप्रीति से रहित शाश्वत स्थान है जो सर्वप्रकार से अन्तर्मुख होने से भेद रहित निर्विकल्प उत्पन्न हुये सुख से निर्मित आकाश बिम्ब के आकार वाला है – आत्मिक सुख से निर्मित निराकार है, चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह से पूर्ण भरित ही जिसका शरीर है जो बुद्धिमानों के गोचर है ऐसे आत्म तत्व में तू बुद्धि क्यों नहीं करता है ? प्रत्युत दुष्कृत रूप संसार के सुखों की वांछा करता है ।

भावार्थ—वास्तव में आत्मा हर्ष विषाद से रहित अविनाशी है आत्मा से उत्पन्न हुए निराकुल सुख से बनी हुई मूर्ति होते हुए भी निराकार है, चैतन्यामृत प्रवाह से लबालब भरी हुई है । ऐसी आत्मा में तो तू अपनी बुद्धि को नहीं लगाता है और इन सभी विशेषणों से विपरीत पापों के स्थान स्वरूप ऐसे सांसारिक सुखों को चाहता है सो क्या बात है ? वास्तव में तुझे सांसारिक सुखों को छोड़कर आत्मा में बुद्धि लगानी चाहिए ।

न स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा ।
नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा ॥ ४० ॥

इस जीव के स्थितिबंध स्थान नहीं हैं ।
निश्चय से प्रकृति प्रदेश स्थान नहीं हैं ॥
अनुभाग के स्थान नहीं फल भी नहीं हैं ।
नहिं जीव के उदय स्थान कर्म जनित ये ॥४०॥

अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थाननिचयो जीवस्य न समस्तीत्युक्तम् । नित्यनिरुपरागस्वरूपस्य निरंजननिजपरमात्मतत्त्वस्य न खलु जघन्यमध्यमोत्कृष्टद्रव्यकर्मस्थितिबन्धस्थानानि । ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वाकारः प्रकृतिबन्धः, तस्य स्थानानि न भवन्ति । अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः प्रदेशबन्धः, अस्य बन्धस्य स्थानानि वा न भवन्ति । शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः । न च द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति ।

गाथा ४०

अन्वयार्थ—[**जीवस्य**] जीव के [**स्थितिबंधस्थानानि**] स्थितिबन्ध स्थान [**प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा न**] प्रकृति स्थान और प्रदेश स्थान नहीं है [**अनुभागस्थानानि न**] अनुभाग स्थान नहीं है [**उदयस्थानानि वा न**] और उदय-स्थान भी नहीं हैं ।

टीका—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-इन बन्ध स्थानों का समूह तथा उदय स्थानों का समूह जीव के नहीं है ऐसा यहां पर कहा है ।

नित्य हो निरुपराग स्वरूप निरंजन निजपरमात्मतत्त्व के निश्चित रूप से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप द्रव्य कर्म के स्थितिबन्ध स्थान नहीं हैं । ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के उस-उस कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य का जो स्वाकार अपना स्वभाव है वह प्रकृतिबन्ध है शुद्ध परमात्मतत्त्व के ये प्रकृतिबन्ध के स्थान भी नहीं हैं । अशुद्ध चेतनतत्त्व और कर्म पुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर में अनुप्रवेश हो

तथा चोक्तं श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥"

बाना प्रदेशबन्ध है, इस बन्ध के स्थान भी शुद्ध जीव में नहीं हैं। शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा के समय में सुख-दुःख फल को प्रदान करने की शक्ति से युक्त अनुभाग-बन्ध होता है, इस अनुभाग के स्थानों का भी शुद्ध जीव में अवकाश नहीं है ऐसा समझना।

उसीप्रकार अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—"[1]ये बद्ध और स्पष्ट भाव आदि स्पष्ट रीति से ऊपर तैरते हुये भी जहां पर आकर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते हैं। हे जगत्—हे जगत् के जीवों! मोह से रहित होकर आप सब ओर प्रकाशमान सम्यक् स्वभाव वाले उसी आत्मा का ही अनुभव करो।"

भावार्थ—जिस शुद्धनय के अवलम्बन से शुद्ध अवस्था में आने के बाद मैं बंधा हूं या कर्मों से स्पर्शित हूं इत्यादि भाव यद्यपि विद्यमान हैं फिर भी वहां बुद्धि-गम्य नहीं होते हैं क्योंकि जब उस निर्विकल्प ध्यान में ध्यान-ध्येय का या पंचपरमेष्ठी का ही विकल्प नहीं है तब इन भावों की वहां क्या गणना होगी? ऐसी अवस्था को प्राप्त जो शुद्ध आत्म तत्त्व है। आचार्य कहते हैं हे जगत् के भव्य प्राणियों तुम मोह से रहित होकर उसी शुद्ध आत्म तत्त्व का अनुभव करो।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज अपनी संपत्ति का भान कराते हुए तथा विपत्ति सदृश संसार के दुःखों से छुड़ाते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

---

1. समयसार कलश ११।

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥५६॥

(वसन्ततिलका)

यः सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि ।
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः ॥५७॥

---

(५६) श्लोकार्थ—नित्य, शुद्ध, चिदानन्दमयी संपत्तियों की श्रेष्ठ खान स्वरूप तथा विपत्तियों का अत्यन्त रूप से यही अपद–अस्थान रूप है ऐसे पद का मैं अनुभव करता हूं ।

भावार्थ—जो अपना उत्कृष्ट पद है वह चिच्चैतन्यमयी संपत्तियों का स्थान है और विपत्तियों से सर्वथा दूर है उसीका अनुभव करना चाहिये ।

(५७) श्लोकार्थ—जो सर्व कर्म रूपी विषवृक्ष से उत्पन्न हुए, निज आत्मतत्त्व से विलक्षण फलों को छोड़कर इस समय सहज चिन्मय आत्म तत्त्व का अनुभव करता है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है । इसमें क्या संशय है ।

भावार्थ—कर्म तो विषवृक्ष के समान हैं उनसे उत्पन्न हुए फल भी कड़ुवे ही होंगे इसलिए इन कर्म के उदयरूप सुख-दुःख फलों को छोड़कर आत्म तत्त्व का अनुभव करने से ही मुक्ति मिलती है । अभिप्राय यह है कि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए सुख-दुःख फल छोड़े नहीं जा सकते हैं किन्तु उस समय हर्ष विषाद परिणति को न करते हुए परम समताभाव को धारण करके उन सुख-दुःखों से अपने उपयोग को हटाकर अपने परमानन्द स्वरूप आत्म तत्त्व में स्थिर कर लेना ही उनको छोड़ना है और तभी कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति होती है इसमें कुछ भी संशय नहीं है ऐसा इस कलश का अभिप्राय है ।

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।
णोदइयभावठाणा, णो उवसमणे[1] सहावठाणा वा ॥४१॥

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा ।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमनैकस्वभावस्थानानि वा ॥४१॥

कर्मों के क्षय से क्षायिक वह भाव भी नहीं ।
क्योंकि विशुद्धनय से नहिं कर्मबन्ध ही ॥
क्षायोपशमिक भाव व औदयिक भाव भी ।
उपशम स्वभाव जीव में होते न ये कभी ॥४१॥

चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पंचमभावस्वरूपाख्यानमेतत् । कर्मणां क्षये भवः क्षायिकभावः । कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकभावः । कर्मणा-

---

गाथा ४१

अन्वयार्थ—[**क्षायिकभावस्थानानि न**] जीव के क्षायिकभाव स्थान नहीं है **क्षयोपशमभावस्थानानि वा न**] क्षयोपशमभाव स्थान भी नहीं है [**औदयिकभाव-स्थानानि न**] औदयिकभाव स्थान भी नहीं है [**वा उपशमभावस्थानानि न**] और उपशमभाव स्थान भी नहीं है ।

टीका—चार विभाव स्वभावों के स्वरूप के कथन द्वारा यह पंचमभाव के स्वरूप का कथन है ।

कर्मों के क्षय होने पर हुआ भाव क्षायिकभाव है, कर्मों के क्षयोपशम के होने पर हुआ भाव क्षायोपशमिक भाव है, कर्मों के उदय के होने पर हुआ भाव औदयिकभाव है, कर्मों के उपशम के होने पर हुआ भाव औपशमिकभाव है और संपूर्ण कर्मों की उपाधि से रहित ऐसा जो परिणाम में हुआ भाव वह पारिणामिकभाव है । इन पांचों भावों में से प्रथम ही औपशमिकभाव दो प्रकार का है, क्षायिकभाव नौ

---

१. उवसमणो (क) पाठान्तर ।

मुदये भवः औदयिकभावः । कर्मणामुपशमे भवःऔपशमिकभावः । सकलकर्मोपाधि-विनिर्मुक्तापरिणामेभवःपारिणामिकभावः । एषु पंचसु तावदौपशमिकभावो द्विविधः, क्षायिकभावश्च नवविधः, क्षायोपशमिकभावोऽष्टादशभेदः, औदयिकभाव एकविंशतिभेदः, पारिणामिकभावस्त्रिभेदः । अथौपशमिकभावस्य उपशमसम्यक्त्वम् उपशमचारित्रम् च । क्षायिकभावस्य क्षायिकसम्यक्त्वं, यथाख्यातचारित्रं, केवलज्ञानं केवलदर्शनं च, अन्तरायकर्मक्षयसमुपजनितदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि चेति । क्षायोपशमिकभावस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि चत्वारि, कुमतिकुश्रुतविभंगभेदादज्ञानानि त्रीणि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदाद्दर्शनानि त्रीणि, कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदाल्लब्धयः पंच, वेदकसम्यक्त्वं, वेदकचारित्रं, संयमासंयमपरिणतिश्चेति । औदयिकभावस्य नारक-तिर्यङ्मनुष्य देवभेदाद् गतयश्चतस्रः, क्रोधमानमायालोभभेदात् कषायाश्चत्वारः, स्त्रीपुं-नपुंसकभेदाल्लिंगानि त्रीणि, सामान्यसंग्रहनयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम्, अज्ञानं चैकम्,

---

प्रकार का है, क्षायोपशमिकभाव अठारह भेद वाला है, औदयिकभाव के २१ भेद हैं और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं ।

औपशमिक भाव के उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र ये दो प्रकार हैं । क्षायिकभाव के क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान और केवलदर्शन ये चार तथा अन्तराय के क्षय से उत्पन्न होने वाले दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच ऐसे नव भेद हैं । क्षायोपशमिकभाव के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और विभंग के भेद से तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के भेद से तीन दर्शन, काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशम-लब्धि और प्रायोग्यतालब्धि के भेद से पांचलब्धि, वेदक सम्यक्त्व, वेदक चारित्र और संयमासंयम परिणति ये तीन, ऐसे सब मिलाकर अठारह भेद हो गये हैं ।

औदयिकभाव के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गति, क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार, स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से लिंग तीन, सामान्य संग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व एक, शुक्ल, पद्म, पीत, कापोत, नील, कृष्ण के भेद से लेश्या छह, ऐसे सब मिलकर

असंयमता चैका, असिद्धत्वं चैकम्, शुक्लपद्मपीतकापोतनीलकृष्णभेदाल्लेश्याः षट् च भवन्ति। पारिणामिकस्य जीवत्वपारिणामिकः, भव्यत्वपारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः इति त्रिभेदाः। अथायं जीवत्वपारिणामिकभावो भव्याभव्यानां सदृशः, भव्यत्वपारिणामिकभावो भव्यानामेव भवति, अभव्यत्वपारिणामिकभावोऽभव्यानामेव भवति। इति पंचभावप्रपंचः।

इक्कीस भेद होते हैं। पारिणामिक भाव के जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक ऐसे तीन भेद हैं।

यह जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव भव्य और अभव्य सभी जीवों में समान है, भव्यत्व नाम का पारिणामिक भाव भव्यजीवों में ही होता है और अभव्यत्व नामक पारिणामिकभाव अभव्यों में ही होता है। इसप्रकार से पांचों भावों का विस्तार हुआ।

इन पांचों भावों में से क्षायिकभाव कार्यसमयसार स्वरूप है, वह तीनों लोकों में प्रक्षोभ-हलचल के लिए कारणभूत जो तीर्थंकर प्रकृति उसके द्वारा अर्जित जो सकल विमल केवलज्ञान उससे सनाथ भगवान् तीर्थंकर देव अथवा सिद्ध भगवान् के होता है। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारी जीवों में ही होते हैं, मुक्त जीवों में नहीं होते हैं।

पूर्वोक्त चारों भाव आवरण सहित होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं। तीनों कालों में उपाधि से रहित है स्वरूप जिसका ऐसे निरंजन-निर्दोष, निजपरम पंचम भाव-पारिणामिक भाव की भावना से मुमुक्षुजन पंचमगति को जाते हैं, जावेंगे और गये हैं।

विशेषार्थ— यहां पर पांचों भावों में जो क्षायोपशमिक भाव है उसमें श्री टीकाकार ने काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यलब्धि ऐसे पांच भेद किये हैं किन्तु सर्वत्र क्षायोपशमिक भावों में दानादि ५ क्षयोपशम लब्धियां ली गई हैं। जैसे—[1]श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है "लद्धी पंचविहा दाणादि

---

1. धवल पु० ५ पृ० १६२।

पंचानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः कार्यसमयसारस्वरूपः स त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थंकरत्वोपार्जितसकलविमलकेवलावबोधसनाथतीर्थनाथस्य भगवतः सिद्धस्य वा भवति। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति, न मुक्तानाम्।

भेएण"। [1]श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ताचार्य ने कहा है—"खओवसमिय भावो चउणाण तिदंसण ति अण्णाणं। दाणादि पंच वेदग सरागचारित्त देसजमं ॥८१७॥" क्षायोपशमिक भाव से चार ज्ञान, तीन दर्शन, तीन अज्ञान, दानादि पांच लब्धि, वेदक सम्यक्त्व, सराग चारित्र और देशसंयम ये १८ भेद हैं। [2]श्री अकलंक देव ने कहा है कि—"लब्धयः पंच क्षायोपशमिक्यः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरूपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति" अर्थात् क्षायोपशमिक लब्धि के पांच भेद हैं—दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्यलब्धि। ऐसी ही ये लब्धियां मिथ्यात्व गुणस्थान में तथा एकेन्द्रिय आदि जीवों में भी मानी गई हैं।

गोम्मटसार जीवकांड में सम्यक्त्व के लिए पांच लब्धि कही गई हैं—

"खयउवसमिय विसोही देसणपाउग्गकरण लद्धी य।
चत्तारि विसामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥६५१॥"

गाथार्थ—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियां हैं। इनमें से पहले की चार तो सामान्य हैं, ये भव्य-अभव्य दोनों के संभव हैं, किन्तु करणलब्धि विशेष है यह भव्य के ही हुआ करती है और इसके होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियम से होता है।

यहां टीका में उपर्युक्त लब्धि में विशुद्धि का नाम नहीं है किन्तु काललब्धि का नाम है। टीकाकार ने किस अपेक्षा से इन लब्धियों को लिया है इसका निर्णय केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में ही हो सकता है।

आगे एक पंक्ति है कि "पूर्वोक्तभावचतुष्टयमावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणं" इसमें क्षायिकभाव को भी आवरण संयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं कहा है किन्तु

---

१. गोम्मटसार कर्मकांड। २. तत्त्वार्थ वा० पृ० १०७।

[illegible]भावचतुष्टय सावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिर्-[illegible]निश्चयपरमपंचमभावभावनया पंचमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति।

[illegible] क्षायिकभाव आवरणों के क्षय से प्रगट होता है और मुक्ति में भी विद्यमान है [illegible] केवल पारिणामिक शुद्ध स्वभावकी विवक्षा होने के कारण इसे कर्मोपाधि के [illegible]भाव होने से औपपाधिक रूप ही मान लिया है ऐसी विवक्षा ज्ञात होती है क्योंकि [illegible] गाथा ४१ में स्वयं ही श्री भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने "णो खइयभावठाणा" वाक्य [illegible] हुआ है। [1]कहीं पर इससे विपरीत भी कहा है जैसे—

"मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिक क्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः।।"

अर्थ—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिकभाव मोक्ष को करने वाले हैं, औदयिक भाव बंध को करने वाला है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है। अर्थात् टीकाकार श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि "निर्विकल्प शुद्धात्म परिच्छित्ति" लक्षण वीतराग चारित्र से अविनाभूत अभेदनय से वही शुद्धात्म शब्द से वाच्य क्षायोपशमिक [illegible] भाव श्रुतज्ञान मोक्ष का कारण होता है किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव शुद्ध भावना [illegible] अवस्था में ध्येय रूप है, ध्यान रूप नहीं है इत्यादि।

पंचास्तिकाय में कहा है—

"उदयेण उपसमेण य खयेण दुहिं मिस्सदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा ॥५६॥"

अर्थ—उदय से, उपशम से, क्षय से और दोनों के मिश्रित—क्षयोपशम से [illegible] तथा परिणाम से युक्त ऐसे ये जीव के गुण हैं और उन्हें अनेक प्रकार से विस्तृत [illegible]त किया गया है।

उपर्युक्त गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र देव ने कहा है—"तत्रोपाधिचतु-[illegible]त्वनिबंधनाश्चत्वारः स्वभावनिबंधन एकः"। इन पांच गुणों में उपाधि की चार

[illegible] समयसार गाथा ४१४, टीका जयसेनाचार्यकृत पृ० ५०६।

(आर्या)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः ।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः ॥५८॥

प्रकार की दशा जिनका कारण है ऐसे चार भाव हैं और स्वभाव जिसका कारण है ऐसा एक है ।

इसी गाथा की द्वितीय तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—"औदयिक, औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव कर्मजनित हैं, क्षायिकभाव केवलज्ञानादिरूप है यद्यपि यह वास्तविक दृष्टि से शुद्ध बुद्ध एक जीव का स्वभाव है तथापि कर्मक्षय से उत्पन्न होने की अपेक्षा उपचार से कर्मजनित ही है । शुद्ध पारिणामिक भाव पुनः साक्षात् कर्मों से निरपेक्ष ही है । यहां व्याख्यान में मिश्रादि तीन मोक्ष के कारण हैं, मोहोदय से सहित औदयिक भाव बंध का कारण है और शुद्ध पारिणामिक भाव बंध-मोक्ष का अकारण है । इसके बाद "तथा चोक्तं" कहकर यह श्लोक दिया है जिसको कि समयसार की टीका में उद्धृत किया है ।

इस कथन से परस्पर विरोध आदि नहीं समझना चाहिये क्योंकि अपेक्षाकृत कथन है । यहां पर ग्रन्थकार का अभिप्राय जीव के स्वभाव मात्र कथन करने का ही है । अतएव क्षायिकभाव को भी विवक्षित नहीं किया है अतः इसमें बाधा नहीं है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पंचमभाव के महत्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(५८) श्लोकार्थ—पांच आचारों से सहित और किंचनभाव-परिग्रह भाव के प्रपंच से रहित विद्वान् साधु पूज्य पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचम पारिणामिक भाव का स्मरण करते हैं ।

भावार्थ—जिन्होंने परिग्रह का त्याग नहीं किया है, गृहस्थ हैं, वे इसका श्रद्धान तो कर सकते हैं लेकिन पंचम भाव का आश्रय लेकर निर्विकल्प ध्यान नहीं कर सकते हैं ऐसा समझना चाहिए ।

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥५९॥

---

(५९) श्लोकार्थ—परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्त वाले मुनीश, भोगीजनों के भोगों के मूल ऐसे संपूर्ण पुण्य को भी छोड़ें और भव से मुक्त होने के लिये सार तत्त्व स्वरूप उभय प्रकार के समयसार का आश्रय लेवें इसमें क्या दोष है ?

भावार्थ—निज आत्म तत्त्व के अभ्यास में कुशल साधुओं को उपदेश दिया गया है कि आप समस्त पुण्य को भी छोड़ो और कारण समयसार रूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके कार्य समयसार रूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके कार्य समयसार रूप शुद्ध परमात्मा को प्राप्त करो। तुम्हारे लिये इसमें कोई दोष नहीं है किन्तु जो अभी पापरूप क्रिया से निवृत्त नहीं हुए हैं उनके लिए पुण्य क्रिया के छोड़ने का उपदेश नहीं है।

विशेषार्थ—उभय समयसार का अभिप्राय है कारण और कार्य समयसार। इनका स्वरूप समयसार ग्रन्थ में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा है। तथाहि—"[1]अनंत ज्ञानादि चतुष्टय लक्षण कार्यसमयसार का उत्पादक होने से निर्विकल्प समाधि परिणाम परिणत कारण समयसार लक्षण रूप भेदज्ञान से ज्ञानमय ही होता है।"

"[2]केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार का साधक निर्विकल्प समाधि-जो कारण समयसार है।"·····

"[3]भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग संज्ञक जो व्यवहार कारण समयसार इससे साध्य जो निश्चय कारण समयसार है जो कि विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव

---

१. समयसार गाथा १२७, टीका पृष्ठ १८४। २. गाथा ३५५, टीका पृष्ठ ४३६।
३. गाथा ३७३ से ३८२ तक की टीका के अन्तर्गत पृष्ठ ४५६।

चउगइभवसंभमणं, जाइजरामरणरोगसोगा[1] य ।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥४२॥

चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च ।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो सन्ति ॥४२॥

शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप है और अनन्तकेवलज्ञानादि चतुष्टय की व्यक्तिरूप ऐसे कार्यसमयसार का उत्पादक है। इस व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार के बिना यह अज्ञानी जीव रोष और तोष करता है।"

ऐसे ही जयसेनाचार्य ने स्थल-स्थल पर केवलज्ञानरूप व्यक्त अवस्था को कार्यसमयसार कहा है और उसके लिए कारण स्वरूप ऐसे निश्चय रत्नत्रय को कारण समयसार कहा है। तथा यहां पर तो जयसेनाचार्य ने उस निश्चय के लिए कारण स्वरूप ऐसे व्यवहार रत्नत्रय को भी व्यवहार कारण समयसार संज्ञा दी है। अस्तु,

यहां पर नियमसार की टीका में टीकाकार ने भी कारण समयसार और कार्यसमयसार रूप ऐसे सारभूत तत्त्व के स्वरूप का आश्रय लेने का आदेश दिया है। इसका ऐसा भी अभिप्राय समझना चाहिये कि पहले भेदरत्नत्रय होता है, अनन्तर ही अभेद रत्नत्रय प्रगट होता है। भेदरत्नत्रय के बिना अभेद रत्नत्रय हो नहीं सकता है, फिर भी उसको प्राप्त करने के बाद आगे शुद्धोपयोग रूप अभेद में पहुंच कर शुद्धात्म को प्रगट करना है।

गाथा ४२

अन्वयार्थ—[**चतुर्गतिभवसंभ्रमणं**] चार गतियों के भवों का परिभ्रमण [**जातिजरामरणरोगशोकाश्च**] जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, [**कुलयोनि जीवमार्गणस्थानानि च**] कुल योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान [**जीवस्य नो संति**] जीव के नहीं होते हैं।

---

१. रोयसोका (क) पाठान्तर।

चारों गति के भव में जो हो रहा भ्रमण ।
ये रोग शोक वृद्धावस्था जनम मरण ॥
कुल योनि जीव के स्थान मार्गणाएँ भी ।
नहिं शुद्धनय से होवें ये जीव में कभी ॥४२ ।

इह हि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्य समस्तसंसारविकारसमुदयो न समस्तीत्युक्तम् । द्रव्यभावकर्मस्वीकाराभावाच्चतसृणां नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां परिभ्रमणं न भवति । नित्यशुद्धचिदानन्दरूपस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य द्रव्यभावकर्मग्रहणयोग्यविभावपरिणतेरभावान्न जातिजरामरणरोगशोकाश्च । चतुर्गतिजीवानां कुलभेदविकल्प इह नास्ति इत्युच्यते । तद्यथा—पृथ्वीकायिकजीवानां द्वाविंशतिलक्षकोटिकुलानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षकोटिकुलानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, वनस्पतिकायिकजीवानाम् अष्टाविंशतिलक्षकोटिकुलानि, द्वीन्द्रियजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, त्रीन्द्रियजीवानाम् अष्टलक्षकोटिकुलानि, चतुरिन्द्रियजीवानां नवलक्षकोटिकुलानि, पंचेन्द्रियेषु जलचराणां सार्द्धद्वादशलक्षकोटिकुलानि, आकाशचरजीवानां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, चतुष्पदजीवानां दशलक्षकोटिकुलानि, सरीसृपाणां नवलक्षकोटिकुलानि, नारकाणां पंचविंशतिलक्षकोटि-

---

टीका—शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीव के समस्त संसार के विकारों का समूह नहीं है ऐसा यहां पर कहा है ।

द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के स्वीकार करने का अभाव होने से नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवत्व लक्षणवाली चार प्रकार की गतियों का परिभ्रमण नहीं होता है । शुद्ध चिदानन्दमय कारण परमात्मा स्वरूप जीव के द्रव्यकर्म, भावकर्म के ग्रहण योग्य विभाव परिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है । चार गति वाले जीवों के कुल योनि के भेद नहीं हैं ऐसा यहां पर कहा गया है । उसका स्पष्टीकरण—

पृथ्वीकायिक जीवों के २२ लाख करोड़ कुल हैं, जलकायिक जीवों के ७ लाख कुल हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के २८ लाख करोड़ कुल हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के

कुलानि, मनुष्याणां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, देवानां षड्विंशतिलक्षकोटिकुलानि। सर्वाणि सार्द्धसप्तनवत्यग्रशतकोटिलक्षाणि १९७५०००००००००।

पृथ्वीकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, अप्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, तेजस्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, नित्यनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, चतुर्गतिनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वनस्पतिकायिकजीवानां दशलक्षयोनिमुखानि, द्वीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, त्रीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, चतुरिन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, नारकाणां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्षयोनिमुखानि।

---

७ लाख करोड़ कुल हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के ८ लाख करोड़ कुल हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के ९ लाख करोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के १२½ लाख करोड़ कुल हैं, नभचर जीवों के १२ लाख करोड़ कुल हैं, चतुष्पद-थलचर जीवों के १० लाख करोड़ कुल हैं, सरीसृप-सर्पादिक पेट से चलने वाले जीवों के ९ लाख करोड़ कुल हैं, नारकी जीवों के २५ लाख करोड़ कुल हैं, मनुष्यों के १२ लाख करोड़ कुल हैं और देवों के २६ लाख करोड़ कुल हैं। सभी मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल होते हैं।

पृथ्वीकायिक जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, जलकायिक जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, अग्निकायिक जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, वायुकायिक जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, नित्यनिगोदी जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, चतुर्गति निगोद के ७ लाख योनिमुख हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनिमुख हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं, देवों के चार लाख योनिमुख हैं, नारकियों के चार लाख योनिमुख हैं, तिर्यंच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं और मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं। (कुल मिलाकर ८४००००० योनियां हैं।)

बादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्म एकेन्द्रिय ऐसे एकेन्द्रिय के दो भेद, संज्ञी और असंज्ञी अपेक्षा पंचेंद्रिय के दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये तीन भेद ऐसे

स्थूलसूक्ष्मैकेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकभेदभाचतुर्दशजीवस्थानानि । गतीन्द्रियकायथोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारविकल्पलक्षणानि मार्गणास्थानानि । एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तीति भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरंतं चारुविश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥"

ज्ञातों के पर्याप्तक अपर्याप्तक भेद होने से जीवस्थान (जीवसमास) के चौदह भेद होते हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार इन भेद स्वरूप चौदह मार्गणा स्थान होते हैं ।

ये सभी उन भगवान् परमात्मा के शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं ऐसा भगवान् सूत्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय है । उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—[1]"चैतन्यशक्ति से अतिरिक्त सम्पूर्ण भावों को भी शीघ्र ही छोड़कर और चैतन्य शक्ति मात्र अपनी आत्मा को स्पष्टतया अवगाहन करके आत्मा साक्षात् विश्व के ऊपर स्फुरायमान होते हुए परम-उत्कृष्ट अनन्तरूप आत्मा को अपनी आत्मा में अनुभव करो ।"

भावार्थ—यह आत्मा विश्व के अग्रिम भाग में लोकातिशायी माहात्म्य से स्फुरायमान है अथवा जो आत्मा लोकालोक का परिच्छेदक है क्योंकि चारघातु

---

१. समयसार कलश, ३५ ।

(अनुष्टुभ्)

"चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ।।"

तथा हि—

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम् ।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः ।।६०।।

ज्ञानार्थवाचक है ऐसी ज्ञानशक्ति मात्र आत्मा को अपनी आत्मा में ही अनुभव करना चाहिये ।

श्लोकार्थ—[1]"यह जीव चित्शक्ति-ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों से व्याप्त सर्वस्व सारभूत इतना मात्र ही है, इससे अतिरिक्त सभी भाव पौद्गलिक हैं–ज्ञान शून्य हैं ।"

अर्थात् चैतन्य से अतिरिक्त सभी शरीर आदि पदार्थ पौद्गलिक ही हैं ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निर्विकल्प समाधि की महिमा बतलाते हुए और श्री वीर प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए दो श्लोक कहते हैं ।]

(६०) **श्लोकार्थ**—सतत रूप से अखण्ड ज्ञान की सद्भावना रूप आत्मा संसार के घोर दुःख रूप विकल्प को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु निर्विकल्प समाधि स्वरूप यह आत्मा अतुल, निर्दोष पर परिणति से दूर चिन्मात्र को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर यह आत्मा अपने को अखण्ड ज्ञान स्वरूप भावित करते हुए संसार के दुःखरूप जन्म, मरण, कुल, योनि आदि

---

१. समयसार कलश, ३६ ।

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांघ्रे ।।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः ।।६१।।

णिद्दंडो णिद्दंद्दो, णिम्ममो,[1] णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ।।४३।।

निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निःकलः निरालंबः ।
नीरागः निर्दोषः निर्मूढः निर्भयः आत्मा ।।४३।।

विकल्पों को नहीं करता है पुनः निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर निर्दोष चिन्मात्र भगवान आत्मा को प्राप्त कर लेता है ।

(६१) श्लोकार्थ—भक्ति से नमस्कार करते हुए सुरेन्द्र के मुकुटों की उत्कृष्ट रत्नों की मालाओं द्वारा जिनके चरण युगल अर्चित हैं ऐसे तीर्थ के अधिनायक भगवान महावीर से जन्म, जरा मरण के नाशक उपदेश को प्राप्त कर सम्यक्चारित्र रूपी नौका पर बैठे हुए ये संत पुरुष संसार समुद्र के दूसरे तट को प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य जीव भगवान महावीर के निश्चय व्यवहाररूप उभय आत्मक उपदेश को प्राप्तकर सम्यक्चारित्र को धारण कर लेते हैं वे संसार समुद्र से पार हो जाते हैं, यहां अभिप्राय है ।

गाथा ४३

अन्वयार्थ – [आत्मा] आत्मा [निर्दण्डः] दण्डरहित–मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से रहित [निर्द्वन्द्वः] द्वन्द्व रहित [निर्ममः] ममता रहित [निः कलः] अंश रहित [निरालम्बः] आलम्बन रहित [नीरागः] राग रहित [निर्दोषः] दोष रहित [निर्मूढः] मूढ़ता रहित और [निर्भयः] भय रहित है ।

---

१. णिम्मम्मो (क) पाठान्तर ।

यह आत्मा निर्दण्ड है निर्द्वंद्व है निर्मम।
है परसे निरालंब औ निष्कल है विगततन॥
नीराग है निर्दोष है निर्मूढ़ औ निर्भय।
व्यवहार नय से सचमुच दिखता उपाधिमय॥४३॥

इह हि शुद्धात्मनः समस्तविभावाभावत्वमुक्तम्। मनोदण्डो वचनदण्डः कायदण्डश्चेत्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्डः। निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्तसमस्तपदार्थसार्थाभावान्निर्द्वन्द्वः। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः। निश्चयेनौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणाभिधानपंचशरीरप्रपंचाभावान्निःकलः। निश्चयेन परमात्मनः परद्रव्यनिरवलम्बत्वान्निरालंबः। मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभाभिधानाभ्यन्तरचतुर्दशपरिग्रहाभावान्नीरागः। निश्चयेन निखिलदुरितमलकलंकपंकनिर्णिक्तसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोषः। सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञान-

---

टीका—निश्चित रूप से शुद्धात्मा के सम्पूर्ण विभावों का अभाव है यहां पर ऐसा कथन है।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड इनके योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म के अभाव से आत्मा निर्दण्ड है। निश्चयनय से परम पदार्थ से व्यतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थ समूह के अभाव से आत्मा निर्द्वंद्व है—द्वैत रहित है। प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह, राग-द्वेष का अभाव होने से यह आत्मा निर्मम है। निश्चयनय से यह औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पांच शरीर के प्रपंच के अभाव से शरीर रहित निष्कल है। निश्चयनय से इस परमात्मा के परद्रव्य का अवलम्बन न होने से निरालम्ब है। मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ इन नामवाले चौदह प्रकार अभ्यन्तर परिग्रह का अभाव होने से रागरहित नीराग है। निश्चयनय से समस्त दुरित मल कलंकपंक को धोने में समर्थ ऐसी जो सहज परम वीतराग सुख समुद्र के मध्य में डूबे हुए और प्रगट हुआ सहज अवस्थारूप जो सहजज्ञान शरीर उस ज्ञान शरीर से पवित्र होने से जो आत्मा निर्दोष है, सहज निश्चयनय के बल से सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और

सहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेद-समर्थत्वान्निर्मूढः, अथवा सादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकल-विमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च । निखिलदुरितवीरवैरिवाहिनीदुःप्रवेशनिजशुद्धान्त-स्तत्त्वमहादुर्गनिलयत्वान्निर्भयः । अयमात्मा ह्युपादेयः इति ।

तथा चोक्तममृताशीतौ—

(मालिनी)

"स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्यद्
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंख्यम् ।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूलदिक्चक्रवालम् ॥"

सहज परम वीतराग सुख आदि अनेक परम धर्मों का आधारभूत ऐसा जो निज परम-तत्त्व है उसको जानने में समर्थ होने से जो निर्मूढ है, अथवा सादि सान्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय के बल से तीनों काल और तीनों लोक में रहने वाले स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण द्रव्य गुण और उनकी पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ ऐसा जो सकल विमल केवलज्ञान है उस केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से यह आत्मा निर्मूढ है। सम्पूर्ण पाप रूपी वीर बैरी की सेना के लिये दुःप्रवेश—जिसमें प्रवेश करना दुष्कर है ऐसा जो निजशुद्धचैतन्यतत्त्वरूप महा-दुर्ग है वही आवास स्थान होने से यह आत्मा निर्भय है। निश्चित रूप से यह (ऐसी) आत्मा ही उपादेय है।

उसी प्रकार अमृताशीति ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ—"जो स्वर समूह से विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों से रहित है, मोह से हीन—रहित है, शाश्वत है, संख्या से रहित है, रस रहित है, तिमिर रहित है, रूप, स्पर्श, गंध से रहित है, जल-वायु अग्नि और पृथ्वी से रहित है, अणु और स्थूल से रहित है, तथा दिशाओं के समूह से भी रहित है ऐसा यह आत्म तत्त्व है।"

तथा हि—

(मालिनी)

दुरघवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः ।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्तमारः ॥६२॥

(मालिनी)

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम् ।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत् ॥६३॥

[उसी प्रकार से टीकाकार श्री मुनिराज भी शुद्ध आत्मतत्त्व का वर्णन करते हुए सात श्लोक कहते हैं]

(६२) **श्लोकार्थ**—जो दुष्ट पापों के वन को काटने में कुठार है, दुष्ट कर्मों के पार को प्राप्त हो चुका है, पर परिणति से दूर है, रागरूपी समुद्र के प्रवाह को जिसने नष्ट कर दिया है, जिसने विविध विकारों का घात कर दिया है, जो वास्तविक सुख रूपी समुद्र का जल है और जिसने कामदेव को अस्त—समाप्त कर दिया है ऐसा वह समयसार—शुद्ध आत्मा का स्वरूप शीघ्र ही मेरी रक्षा करो ।

(६३) **श्लोकार्थ**—जो परमतत्त्व, तत्त्व में निष्णात ऐसे पद्मप्रभ मुनि के हृदय कमल में विराजमान हैं, निर्विकार हैं, जिसने विविध विकल्पों को नष्ट कर दिया है, जो कल्पना मात्र से रम्य ऐसे भव-भव के सुख-दुःखों से रहित है, जो बुद्धिमानों के द्वारा कहा गया है वह परमतत्त्व जयशील होता है ।

भावार्थ—यहां टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि तत्त्व में प्रवीण ऐसे मेरे हृदय कमल में यह परमतत्त्व

(मालिनी)

आनंदामृतबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम् ।
निजपरिणतिशर्म्माम्भोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ॥६४॥

(द्रुतविलंबित)

भवभोगपराङ्मुख हे यते
पदमिदं भवहेतुविनाशनम् ।
भज निजात्मनिमग्नमते पुन-
स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ॥६५॥

(द्रुतविलंबित)

समयसारमनाकुलमच्युतं
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्म्मसुधामयं
समरसेन सदा परिपूजये ॥६६॥

विराजमान है । वास्तव में महामुनि हमेशा छठे सातवें गुणस्थान में परिवर्तन करने वाले होते हैं इसलिए वे आत्मतत्त्व के अभ्यास में निपुण ही रहते हैं । ऐसा अभिप्राय है ।

(६४) **श्लोकार्थ**—आत्मा अनुपम ज्ञान के आधीन है, सहज-स्वाभाविक गुण-रूपी मणियों की खान है, तत्त्वों का सार है, निजपरिणति के सुखसागर में मग्न है । जो आत्मा भव्यता से प्रेरित हो वह भव से मुक्त होने के लिए ऐसी आत्मा को भजो ।

(६५) **श्लोकार्थ**—भव भोगों से पराङ्मुख हे यतिराज ! भव के कारणों का विनाश करने वाले इस पद को तुम भजो-इस आत्मा के स्थिर पद का तुम आश्रय लो । हे निजात्मतत्त्व में निमग्न बुद्धि वाले साधु ! पुनः तुम्हें अध्रुव अनित्य वस्तु की चिंता से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

(६६) **श्लोकार्थ**—अनाकुल, अच्युत, जन्म-मृत्यु और रोगादि से रहित, परम निर्मल सुख सुधामय, समयसार-शुद्धात्मतत्त्व को मैं सदा समरसभाव से पूजता हूं ।

(इंद्रवज्रा)

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व-
मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम् ।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्य-
स्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम् ।।६७।।

(वसंततिलका)

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम् ।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम् ।।६८।।

णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ।।४४।।

निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः ।
निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा ।।४४।।

---

(६७) **श्लोकार्थ**—इस प्रकार से आत्मज्ञानी सूत्रकार (श्री कुंदकुंद देव) ने विशुद्ध-निज आत्मतत्त्व को पहले कहा है । जिसको जानकर भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं । सुख की प्राप्ति के लिए मैं भी उस आत्मतत्त्व की भावना करता हूं ।

(६८) **श्लोकार्थ**—परमात्मतत्त्व आदि अंत से रहित है, निर्दोष है, निर्द्वन्द्व-द्वैत अथवा कलह से रहित है, अक्षय विशाल श्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप है । इस संसार में उस परमात्मतत्त्व की भावना से परिणत हुये भव्य जीव, भव से जनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं । अर्थात् जो इस परमात्मतत्त्व की भावना में परिणत-तन्मय हो जाते हैं वे संसार के दुखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

गाथा ४४

अन्वयार्थ—[**आत्मा**] यह आत्मा [**निर्ग्रन्थः**] ग्रंथ-परिग्रह से रहित, [**नीरागः**] राग रहित, [**निःशल्यः**] शल्य रहित, [**सकलदोषनिर्मुक्तः**] संपूर्ण दोषों से रहित,

निर्ग्रन्थ मोह ग्रंथि रहित वीतराग है ।
निःशल्य है संपूर्ण दोष रहित स्वस्थ है ॥
निष्काम है निष्क्रोध है निर्मान है आत्मा ।
आठों मदों से शून्य पूर्ण शुद्ध चिदात्मा ॥४४॥

अत्रापि शुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् । बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिर्ग्रन्थः । सकलमोहरागद्वेषात्मकचेतनकर्माभावान्नीरागः । निदानमायामिथ्याशल्याभावान्निःशल्यः । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्म्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः । शुद्धनिश्चयनयेन निजपरमतत्त्वेऽपि वाञ्छाभावान्निःकामः । निश्चयनयेन प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तपरद्रव्यपरिणतेरभावान्निःक्रोधः । निश्चयनयेन सदा परमसमरसीभावात्मकत्वान्निर्मानः । निश्चयनयेननिःशेषतोऽन्तर्मुखत्वान्निर्मदः । उक्तप्रकारशुद्धसहजसिद्धनित्यनिरावरणनिजकारणसमयसारस्वरूपमुपादेयमिति ।

[निःकामः] काम-इच्छाओं से रहित, [निःक्रोधः] क्रोध से रहित, [निर्मानः] मान से रहित और [निर्मदः] मद से रहित है ।

टीका—यहां पर भी शुद्ध जीव के स्वरूप को कहा है ।

बाह्य-अभ्यंतर चौबीस प्रकार के परिग्रहों के परित्याग लक्षण वाला होने से आत्मा निर्ग्रन्थ है । संपूर्ण मोह रागद्वेष स्वरूप चेतनकर्मों-भावकर्मों का अभाव होने से आत्मा नीराग है । माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों का अभाव होने से यह आत्मा निःशल्य है । शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध जीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों का अभाव होने से संपूर्ण दोष से रहित है । शुद्ध निश्चयनय से परमतत्त्व में भी वाञ्छा का अभाव होने से यह आत्मा निष्काम है । निश्चयनय से प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त परद्रव्य की परिणति का अभाव होने से यह निःक्रोध है । निश्चयनय से सदा परमसमरसी भाव स्वरूप होने से यह निर्मान है । निश्चयनय की अपेक्षा से संपूर्णतया अंतर्मुख होने से यह आत्मा निर्मद है । उक्तप्रकार का विशुद्ध सहज सिद्ध रूप जो नित्य, निरावरण निजकारण समयसार का स्वरूप है वही उपादेय है ऐसा समझना ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—[प्रवचनसारे]

(मंदाक्रांता)

"इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
सच्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः ।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ।।६९।।

उसी प्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"**श्लोकार्थ**—इस प्रकार से परपरिणति के नष्ट हो जाने से और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रांति के भी ध्वंस हो जाने से चिरकाल से बड़ी मुश्किल से जिसने आत्म तत्त्व को उपलब्ध किया है ऐसा यह चेतन आत्मा सच्चैतन्य मात्र, स्वच्छ तेज में मूर्च्छित होता हुआ—तन्मय होता हुआ या लीन होता हुआ और उदित हो रही है सहज महिमा जिसकी ऐसा यह सर्वदा मुक्त ही रहेगा ।"

उसी प्रकार [अब टीकाकार श्री मुनिराज शुद्ध आत्म तत्त्व की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(६९) श्लोकार्थ—जिसने ज्ञानज्योति से पापरूपी अंधकार के समूह को समाप्त कर दिया है, जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा का धारण करने वाला है जो हमेशा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप मूर्ति से रहित है, अपने स्वरूप में अत्यन्त रूप से स्थिर होने से उत्कृष्ट शील का मूल है, ऐसे उस भवभय को हरण करने वाले मोक्ष लक्ष्मी के सुख के स्वामी-भोक्ता को मैं नमस्कार करता हूं ।

वण्णरसगंधफासा, थीपुंसणउंसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा, सव्वे जीवस्स णो संति ॥४५॥
अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

वर्णरसगंधस्पर्शाः स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः ।
संस्थानानि संहननानि सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥४५॥
अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४६॥

ये वर्ण रस व गंध व स्पर्श जो कहे ।
स्त्री पुरुष नपुंसक जो भेद दिख रहे ॥
संस्थान और संहनन नाना प्रकार के ।
नहिं जीव के हैं निश्चित क्योंकि विकार ये ॥४५॥

रस रूप गंध ये स्वभाव जीव के नहीं ।
यह है अव्यक्त चेतना गुणमय अशब्द ही ॥
नहिं लिंग व अनुमान से हो जीव का ग्रहण ।
आकार का भी इसके नहिं हो सके कथन ॥४६॥

गाथा ४५–४६

अन्वयार्थ—[**वर्णरसगंधस्पर्शाः**] वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, [**स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः**] स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें, [**संस्थानानि**] सभी संस्थान और [**संहननानि**] संहनन [**सर्वे**] ये सभी [**जीवस्य नो संति**] जीव में नहीं हैं ।

[**जीवं**] इस जीव को [**अरसं**] रसरहित, [**अरूपं**] रूपरहित, [**अगंधं**] गंधरहित, [**अव्यक्तं**] व्यक्तरहित, [**चेतनागुणं**] चेतना गुण सहित [**अशब्दं**] शब्दरहित [**अलिंग ग्रहणं**] लिंग-हेतु से नहीं ग्रहण करने योग्य और [**अनिर्दिष्ट संस्थानं**] जिसका कोई संस्थान-आकार नहीं कहा जा सकता है ऐसा [**जानीहि**] तुम जानो ।

इह हि परमस्वभावस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य समस्तपौद्गलिकविकारजातं न समस्तीत्युक्तम् । निश्चयेन वर्णपंचकं, रसपंचकं, गन्धद्वितयं, स्पर्शाष्टकं, स्त्रीपुंनपुंसकादिविजातीयविभावव्यंजनपर्यायाः, कुब्जादिसंस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिसंहननानि विद्यन्ते पुद्गलानामेव, न जीवानाम् । संसारावस्थायां संसारिणो जीवस्य स्थावरनामकर्मसंयुक्तस्य कर्मफलचेतना भवति, त्रसनामकर्मसनाथस्य कार्ययुतकर्मफलचेतना भवति। कार्यपरमात्मनः कारणपरमात्मनश्च शुद्धज्ञानचेतना भवति । अत एव कार्यसमयसारस्य वा कारणसमयसारस्य वा शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूपा भवति । अतः सहजशुद्धज्ञानचेतनात्मानं निजकारणपरमात्मानं संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां वा सर्वदैकरूपत्वादुपादेयमिति हे शिष्य त्वं जानीहि इति ।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

टीका—परम स्वभाव वाले कारण परमात्मा के स्वरूप में संपूर्ण पौद्गलिक विकारों का समूह नहीं है, यहां पर ऐसा कथन है ।

निश्चयनय से पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि विजातीय विभाव व्यंजन पर्यायें कुब्जक आदि संस्थान, वज्रवृषभनाराच आदि संहनन पुद्गलों के ही हैं, किन्तु जीवों के नहीं हैं । संसारावस्था में स्थावरनामकर्म से संयुक्त ऐसे संसारी जीव के कर्मफलचेतना होती है और त्रसनामकर्म से सहित जीव के कार्ययुत-कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना होती है । तथा कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञान चेतना होती है । अतएव कार्यसमयसार के अथवा कारण समयसार के शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूप होती है । इसलिये हे शिष्य ! सहज शुद्धज्ञानचेतना स्वरूप निजकारणपरमात्मा को तुम संसार अवस्था में अथवा मुक्त अवस्था में सर्वदा एकरूप होने से उपादेयभूत जानो, ऐसा अभिप्राय है ।

उसी प्रकार [1]एकत्वसप्तति में कहा भी है—

---

१. पद्मनन्दिपंचविं०, एकत्वसप्ततिअधि० श्लोक ७९ ।

(मंदाक्रांता)

"आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ।।"

तथा हि—

(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्द्रव्य जानीहि नित्यम् ।।७०।।

"श्लोकार्थ—आत्मा भिन्न है और उसके पीछे-पीछे चलने वाला कर्म भी भिन्न ही है, आत्मा और कर्म इन दोनों की अत्यन्त निकटता से होने वाली जो विकृति है वह भी उसी प्रकार से भिन्न ही है। तथा काल और क्षेत्र हैं प्रमुख जिसमें वे भी आत्मा से भिन्न हैं। अपने-अपने गुण और कलाओं से शोभित हुए ये सभी भिन्न-भिन्न ही हैं।"

भावार्थ—सभी चेतन, अचेतन आदि द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों से समलंकृत हैं और एक दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं। कर्मद्रव्य पौद्गलिक होने से वे जीव रूप नहीं हैं और जीव चैतन्यस्वरूप होने से पुद्गलरूप नहीं है। ऐसा यह कथन निश्चयनय का आश्रय करने वाला है।

उसी प्रकार—[टीकाकार श्री मुनिराज भव्यों को शुद्धजीव के स्वरूप को समझाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७०) **श्लोकार्थ**—बंध होवे चाहे न होवे, अखिलमूर्त-पुद्गलद्रव्य का समूह जो कि विचित्र नाना प्रकार का है वह शुद्ध जीव के स्वरूप से भिन्न है। जिनेंद्र भगवान के वचन इस प्रकार से कहते हैं कि वह शुद्ध है बुद्धिमानों को भुवन में प्रसिद्ध है इस तत्व को हे भव्य ! तुम हमेशा जानो।

जारिसिया[1] सिद्धप्पा, भवमल्लिय[2] जीवतारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति ।
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ॥४७॥

जैसे हैं सभी सिद्ध आत्मायें मोक्ष में ।
संसारि जीव वैसे हैं सर्वलोक में ॥
जैसे ये जन्मजरामरण रहित सिद्ध हैं ।
श्री अष्टगुणों युक्त हैं वैसे हि ये भी हैं ॥४७॥

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेषाभावोपन्यासोयम् । ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्वं संसारावस्थायां संसारक्लेशायासचित्ताः

भावार्थ—भले ही कर्म का बंध होवे तो भी शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव परद्रव्य के संबंध से रहित है । ऐसा समझकर शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए । और उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए ।

गाथा ४७

अन्वयार्थ—[**यादृशाः**] जैसे [**सिद्धात्मानः**] सिद्ध परमात्मा हैं, [**तादृशाः**] वैसे [**भवं आलीनाः**] भव को प्राप्त हुए [**जीवाः**] संसारी जीव [**भवंति**] होते हैं । [**येन**] जिससे वे [**जरामरणजन्ममुक्ताः**] जन्म, जरा और मरण से रहित हैं, तथा [**अष्टगुणालंकृताः**] आठ गुणों से अलंकृत हैं । अर्थात् जिस नय से वे सिद्धसदृश हैं उसी नय से वे जन्मादि से रहित और अष्ट गुणों से सहित हैं ।

टीका—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में कुछ अंतर नहीं है, यहां यह कथन है ।

जो कोई अत्यासन्न–अतिनिकट भव्य जीव हैं वे पूर्व में संसार अवस्था में संसार के क्लेश से थके हुए चित्त वाले होते हुए सहज वैराग्य भाव में तत्परता सहित,

---

१. जारिसया (क) पाठान्तर २. भवमल्लीय (क) पाठान्तर

सन्तः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभावलिंगधराः परमगुरुप्रसादासादितपरमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः कार्यशुद्धाः। ते यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयनयेन। येन कारणेन तादृशास्तेन जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति।

(अनुष्टुभ्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ॥७१॥

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे[1] सिद्धा, तह जीवा संसिदो णेया ॥४८॥

द्रव्य और भावलिंग के धारक थे वे, परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुये परमागम के अभ्यास के बल से सिद्ध क्षेत्र को प्राप्त करके बाधा रहित सकल विमल केवलज्ञान केवलदर्शन केवलसुख और केवलशक्ति से युक्त सिद्ध आत्मा परमात्मा कार्यसमयसार रूप कार्य शुद्ध हो चुके हैं, वे जैसे हैं, शुद्धनिश्चयनय से वैसे ही संसारी जीव हैं और जिस हेतु से वे संसारी मुक्त जीवों के सदृश हैं, उसी हेतु से वे जन्म जरा और मरण से रहित हैं तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं, ऐसा अभिप्राय है।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज भी शुद्धनिश्चयनय के बल से संसार में भी संसारी जीवों को शुद्ध कहते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७१) **श्लोकार्थ**—जिन सुबुद्धि-सिद्ध परमेष्ठी और कुबुद्धि-संसारी जीवों में भी पहले से ही शुद्धता है। उनमें कुछ भी भेद को मैं किसी नय से जानता हूं। अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से सभी संसारी जीव सिद्धों के सदृश शुद्ध ही हैं। कभी अशुद्ध हुये ही नहीं हैं।

गाथा ४८

अन्वयार्थ—[**अशरीराः**] शरीर से रहित, [**अविनाशाः**] विनाश से रहित, [**अतीन्द्रियाः**] इंद्रियों के ज्ञानादि से रहित-अतींद्रिय, [**निर्मलाः**] कर्ममल रहित,

---

१. लोयग्गो (क) पाठान्तर

अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः ।
यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः ॥४८॥

अशरीरि नाशशून्य और अमल अतीन्द्रिय ।
होकर विशुद्ध आत्मा शुचि दर्शज्ञानमय ॥
जैसे त्रिलोकमस्तक पर सिद्ध राजते ।
वैसे हि जग में प्राणी सब साधु भाषते ॥४८॥

अयं च कार्यकारणसमयसारयोर्विशेषाभावोपन्यासः । निश्चयेन पंचशरीरप्रपंचाभावादशरीराः, निश्चयेन नरनारकादिपर्यायपरित्यागस्वीकाराभावादविनाशाः, युगपत्परमतत्त्वस्थितसहजदर्शनादिकारणशुद्धस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानज्योतिरपहस्तितसमस्तसंशयस्वरूपत्वादतीन्द्रियाः, मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावानामभावान्निर्मलाः, द्रव्यभावकर्माभावाद् विशुद्धात्मानः यथैव लोकाग्रे भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति, तथैव संसृतावपि अमी केनचिन्नयबलेन संसारिजीवाः शुद्धा इति ।

[**विशुद्धात्मानः**] विशुद्ध स्वरूप वाले [**यथा लोकाग्रे**] जैसे लोक के अग्रभाग में [**सिद्धाः**] सिद्ध भगवान् हैं, [**तथा**] वैसे ही [**संसृतौ**] संसार में [**जीवाः**] जीवों को [**ज्ञेयाः**] जानना चाहिए ।

टीका—यह, कार्यसमयसार और कारणसमयसार में अन्तर के अभाव का कथन है ।

निश्चयनय की अपेक्षा से पांच प्रकार के शरीर के प्रपंच का अभाव होने से जो अशरीरी हैं । निश्चयनय से नरनारक आदि पर्यायों के छोड़ने और ग्रहण करने का अभाव होने से जो अविनाशी हैं । युगपत् परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शन आदि रूप जो कारण शुद्धस्वरूप हैं उसको जानने में समर्थ सहजज्ञान ज्योति से समस्त संशय के स्वरूप को दूर कर देने वाले होने से जो अतीन्द्रिय हैं, मलको उत्पन्न करने वाले ऐसे क्षायोपशमिक आदि विभाव स्वभावों के अभाव से जो निर्मल हैं, और द्रव्यकर्म भावकर्म के अभाव से जो विशुद्धात्मा हैं, जैसे वे लोक के अग्रभाग में सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं, वैसे ही संसार में भी ये संसारी जीव किसी नय के बल से शुद्ध हैं, यहां यह अभिप्राय है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम् ।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम् ॥७२॥

विशेषार्थ—मूल गाथा में आचार्य श्री ने यही कहा है कि जैसे लोक के शिखर पर सिद्ध भगवान् विराज रहे हैं वैसे ही संसार में संसारी जीव हैं। टीकाकार ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "केनचिन्नयबलेन" अर्थात् किसी नय की अपेक्षा ये संसारी जीव सिद्धों के सदृश हैं न कि व्यक्त गुणपर्यायों की अपेक्षा से। पुनः आगे स्वयं ग्रंथकार श्री कुंदकुंद ने ४९ वीं गाथा में नयविवक्षा खोल दी है।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज नयों से अतीत अवस्था को प्राप्त हुए निर्विकल्प ध्यान में परिणत महामुनियों को वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७२) श्लोकार्थ—जो शुद्ध अशुद्ध की कल्पना है वह मिथ्यादृष्टि जीवों में हमेशा हुआ करती है। किंतु कार्यतत्त्व और कारणतत्त्व दोनों शुद्ध हैं इस प्रकार की कल्पना हमेशा सम्यग्दृष्टि को होती है। जो सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार से परमागम के अतुल अर्थ को स्वयं जानता है। सारासार विचार से सहित सुन्दर बुद्धि वाले हम उसकी वंदना करते हैं।

भावार्थ—सिद्ध जीव शुद्ध हैं और संसारी जीव अशुद्ध हैं इस प्रकार की कल्पना मिथ्यादृष्टि को ही रहती है उसका अभिप्राय यह है कि जिसने नयों की विवक्षा समझी नहीं है जो निश्चयनय से जीव के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानते हैं एकांत से मात्र सिद्धों को शुद्ध और संसारी को अशुद्ध मान रहे हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। तथा जो निश्चयनय से संसार अवस्था में भी जीव के स्वभाव को तथा सिद्धों के स्वभाव को इन दोनों अवस्थाओं को शुद्ध समझते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। तथा वे ही शुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय से होने वाली शुद्ध अशुद्ध कल्पनारूप विकल्पों से आगे बढ़कर निर्विकल्परूप ध्यान अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं वे वीतराग सम्यग्दृष्टि होते हैं उन्हें

एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी[1] जीवा ॥४९॥

एते सर्वे भावा व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयात् संसृतौ जीवाः ॥४९॥

ये सर्व भाव जितने कह आये पूर्व में ।
व्यवहार नय से होते भाषा है सूरि ने ॥
संसार में भी जितने हैं जीव सदा ही ।
वे शुद्धनय से माने सब सिद्ध स्वभावी ॥४९॥

निश्चयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत् । ये पूर्वं न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे विभावपर्यायाः खलु व्यवहारनयादेशेन विद्यन्ते । संसृतावपि ये विभावभावैः

ही टीकाकार महामुनि ने नमस्कार किया है। क्योंकि छठे सातवें गुणस्थान में परिवर्तन करने वाले मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को नमस्कार नहीं कर सकते हैं।

गाथा ४९

अन्वयार्थ—[**एते सर्वे भावाः**] ये सभी भाव [**खलु**] निश्चय से [**व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिताः**] व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे गये हैं, [**शुद्धनयात्**] किन्तु शुद्धनय से [**संसृतौ**] संसार में [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**सिद्धस्वभावाः**] सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

टीका—निश्चय और व्यवहारनय की उपादेयता का यह प्रकाशन है। जो 'पूर्व में विद्यमान नहीं हैं' इस प्रकार से प्रतिपादित की गई हैं वे सभी विभावपर्यायें निश्चितरूप से व्यवहारनय के आदेश से (जीव में) विद्यमान हैं। संसार में भी जो जीव चार प्रकार के विभाव भावों से—क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भावों से परिणत होते हुए रहते हैं, वे भी सभी जीव शुद्धनय के आदेश से भगवान् सिद्धों के शुद्धगुण और शुद्धपर्यायों के समान ही हैं।

---

१. संसदी (क) पाठान्तर

चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति अपि च ते सर्वे भगवंतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ।।"

विशेषार्थ—यहां पर जिस अपेक्षा से संसारी जीवों को सिद्धों के समान कहा है उसी अपेक्षा से उन संसारी जीवों के गुणपर्यायों को भी सिद्धों के समान शुद्ध कहा है। यह बात नहीं है कि द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध हो और पर्याय संसार अवस्था में अशुद्ध है और सिद्ध अवस्था में शुद्ध हों। प्रत्युत वास्तविक बात यही है कि जिस नय से संसारी जीवों का द्रव्य शुद्ध है उसी नय से गुणपर्यायें भी शुद्ध हैं और जिस व्यवहार-नय से संसारी जीवों की गुणपर्यायें अशुद्ध हैं उसी नय से गुणपर्यायों के समूहरूप द्रव्य भी अशुद्ध ही है, ऐसा समझना।

उसी प्रकार से श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—[1]यद्यपि व्यवहारनय, प्राथमिक अवस्था में (जिन्होंने पैर रखा है उनके लिये हस्तावलंबन स्वरूप होता है, फिर भी अंतरंग में पर से विरहित चिच्चमत्कार मात्र उत्कृष्ट अर्थ—शुद्धचिद्रूप लक्षण पदार्थ को देखने वालों—अनुभव करने वालों के लिये यह कुछ भी नहीं है।"

भावार्थ—यद्यपि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में प्रवृत्ति करने वालों के लिये यह व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है फिर भी निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुभव करने वालों के लिये यह कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है। क्योंकि सीढ़ी की आवश्यकता ऊपर चढ़ने के लिये अवलंबनस्वरूप होती है किंतु ऊपर पहुंचने

---

१. समयसारकलश, ५.

तथा हि—

(स्वागता)

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ
संसृतावपि च नास्ति विशेषः ।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे
शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति ॥७३॥

के बाद सीढ़ी की आवश्यकतारूप अवलंबन स्वयं छूट जाता है। उसी प्रकार से नय प्रमाणातीत निर्विकल्प ध्यान अवस्था को प्राप्त करने के लिये ही यह व्यवहारनय अवलंबनस्वरूप है किंतु उस निर्विकल्प अवस्था में पहुंचने पर वह स्वयं छूट जाता है ऐसा अभिप्राय है। यहां पर कलशकाव्य में जो 'हंत' शब्द है, श्रीशुभचंद्राचार्य ने परमाध्यात्मतरंगिणी नामकी इन कलशों की टीका में उस 'हंत' पद का अर्थ 'वाक्यालंकाररूप' ही किया है।

इसीप्रकार—[टीकाकार श्रीमुनिराज 'तत्त्व के विचार के अवसर में ही शुद्धनय के कथन को अपेक्षित रखना चाहिए' ऐसा कहते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७३) श्लोकार्थ—शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति में और संसार में भी अंतर नहीं है इस प्रकार ही निश्चित रूप से तत्त्व के विचार के समय में शुद्धतत्त्व के रसिकजन कहते हैं।

भावार्थ—यहां उन लोगों को सोचना चाहिए जो कहते हैं 'कि द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध हैं पर्यायें ही अशुद्ध हैं। जिस नय से द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है अर्थात् सिद्धों के सदृश है उसी नय से गुण और पर्यायें भी त्रैकालिक शुद्ध हैं क्योंकि गुण पर्यायें कुछ आधेयरूप हों और द्रव्य आधारभूत हों ऐसा तो है नहीं प्रत्युत गुण और पर्यायों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है। इसलिये जब व्यक्तरूप में सिद्ध अवस्था में द्रव्य शुद्ध हो जाता है तब उस द्रव्य के सभी गुण और सभी पर्यायें शुद्ध हो जाती हैं। चूंकि गुणपर्यायों की शुद्धता ही द्रव्य की शुद्धता है।

पुव्वुत्तसयलभावा,[1] परदव्वं परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वमुवादेयं, अंतरतत्तं हवे अप्पा ॥५०॥

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा ॥५०॥

संपूर्ण भाव जितने हैं पूर्व में कहे ।
पर द्रव्य पर स्वभावी सब ही हेय हैं ।
निज द्रव्य सो ही अंतः स्वतत्त्व जगत में ।
निज आत्मा ही सबको उपादेय सत्य में ॥५०॥

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम् । ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्वं व्यवहारनयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयनयबलेन हेया भवन्ति । कुतः, परस्वभावत्वात्, अत एव परद्रव्यं भवति । सकलविभावगुणपर्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम् । अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्म-

---

गाथा ५०

अन्वयार्थ—[**पूर्वोक्तसकलभावाः**] पूर्वोक्त सभी भाव [**परद्रव्यं परस्वभावाः**] परद्रव्यरूप परस्वभाव हैं, [**इतिहेयाः**] इसलिए हेय हैं, [**अंतस्तत्त्वं आत्मा**] चैतन्यतत्त्वरूप आत्मा [**स्वकद्रव्यं उपादेयं भवेत्**] स्वकीयद्रव्य है, इसलिए उपादेय होना है ।

टीका—यह हेय के त्यागस्वरूप का और उपादेय के ग्रहणस्वरूप का कथन है ।

जो कोई भी विभावगुण और विभावपर्यायें हैं वे पूर्व में व्यवहारनय की अपेक्षा से उपादेयरूप से कही गई हैं किंतु वे शुद्धनिश्चयनय के बल से हेय होती हैं । क्यों ? क्योंकि वे परस्वभावरूप हैं और इसीलिए वे परद्रव्य हैं । सकलविभावगुण और

---

१. पुव्वुत्तसगदभावा (क) पाठान्तर

कस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(शार्दूलविक्रीडित)

"सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।"

तथा हि—

विभावपर्यायों से रहित शुद्धचैतन्यतत्त्वस्वरूप जो स्वद्रव्य है वही उपादेय है । निश्चित रूप से सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतराग सुखात्मक शुद्धचैतन्य-तत्त्वस्वरूप इस स्वकीय द्रव्य का आधार सहज परमपारिणामिक भाव लक्षणवाला कारणसमयसार है, ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"**श्लोकार्थ**—'जिनके चित्त का चारित्र उदात्त—उत्तम है ऐसे मोक्षार्थी-मुमुक्षुयोगीजन इस सिद्धांत का सेवन करो—आश्रय लेवो कि "मैं तो सदा ही शुद्ध हूं चिन्मय एक ही परम ज्योतिस्वरूप हूं" और ये जो भिन्न-भिन्न लक्षण वाले विविधभाव स्फुरित हो रहे हैं, वे भाव मैं नहीं हूं क्योंकि यहां पर वे सम्पूर्ण भी भाव मुझसे पर द्रव्यरूप हैं । अर्थात् अपने शुद्ध चैतन्यभाव को ही ग्रहण करके सम्पूर्ण पौद्गलिक परभावों को छोड़ना चाहिए, यहां ऐसा उपदेश है ।

उसी प्रकार से—[अब टीकाकार श्री मुनिराज अपूर्वलाभ के उपाय को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

---

१. समयसार कलश, १८५ ।

(शालिनी)

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः ।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोयं याति तामत्यपूर्वाम् ॥७४॥

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥५१॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावो णाणं, हेयोवादेयतच्चाणं ॥५२॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अन्तरहेऊ भणिदा, दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

---

(७४) **श्लोकार्थ**—शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य सभी पुद्गल द्रव्य के भाव निश्चित ही हमारे नहीं हैं । इस प्रकार से जो तत्त्ववेदी स्पष्टतया कहता है वह अनि अपूर्व सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—शुद्ध जीव से सभी पौद्गलिक भाव भिन्न हैं ऐसा जो तत्त्ववेदी कहता है वह अपूर्व सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है । यहां ऐसा कहने का अर्थ वचन मात्र से कहना नहीं लेना, क्योंकि वचन मात्र से कहने वाले जीव कभी मुक्त नहीं हुए हैं । यहां अभिप्राय यह है कि जो इस प्रकार से अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को पर से पृथक् करके अनुभव करता है उसका ध्यान करते हुए उसमें तन्मय हो जाता है वही पूर्व में कभी नहीं प्राप्त हुई ऐसी अपूर्व सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

गाथा ५१ से ५५

अन्वयार्थ—[**विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानं एव सम्यक्त्वं**] विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, [**संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं संज्ञानं भवति**] संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है ।

सम्मत्तं सण्णाणं, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण[1] चरणं ।
ववहारणिच्छएण दु, तम्हा चरण पवक्खामि ।।५४।।
ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ।।५५।।

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं भवति संज्ञानम् ।।५१।।
चलमलिनमगाढत्वविवर्ज्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्त्वानाम् ।।५२।।
सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः ।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ।।५३।।
सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणुचरणम् ।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ।।५४।।

[**चलमलिनं अगाढत्वविवर्जितश्रद्धानं एव**] चल, मलिन, और अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान ही [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्व है, [**हेयोपादेयतत्त्वानां**] हेय और उपादेय तत्त्वों का [**अधिगमभावः**] जानने रूप भाव [**ज्ञानं**] ज्ञान है ।

[**जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः सम्यक्त्वस्य निमित्तं**] जिनसूत्र और उनके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के लिए बाह्य निमित्त हैं । [**दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः अंतर्हेतवः भणिताः**] दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम आदि अंतरंग हेतु कहे गये हैं ।

[**मोक्षस्य**] मोक्ष के लिए [**सम्यक्त्वं ज्ञानं विद्यते**] सम्यक्दर्शन और ज्ञान होना है तथा [**चरणं भवति**] चारित्र भी होना है, [**तस्मात् तु**] इसलिए मैं [**व्यवहारनिश्चयेन**] व्यवहार और निश्चय से [**चरणं प्रवक्ष्यामि**] चारित्र को कहूंगा, [**शृणु**] हे शिष्य ! तुम सुनो ।

---

१. सुणु (क) पाठान्तर ·

व्यवहारनयचरित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम् ।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥५५॥

विपरीत अभिप्राय से वर्जित जो निरन्तर ।
श्रद्धान वही माना सम्यक्त्व शुभंकर ॥
संशय विमोह विभ्रम से हीन ज्ञान जो ।
निजपर विवेक कर्ता सम्यक्त्व ज्ञान वो ॥५१॥

चलदोष मलिनदोष औ अगाढ़ दोष हैं ।
इनसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व श्रेष्ठ है ॥
जो हेय उपादेय तत्त्व आर्ष में गाये ।
उनका हि जानना वो श्रेष्ठ ज्ञान कहाये ॥५२॥

जिनसूत्र औ उन सूत्र के ज्ञाता जो पुरुष हैं ।
सम्यक्त्व की उत्पत्ति में माने निमित्त हैं ॥
दर्शन प्रमोह का कहा क्षय उपशमादि जो ।
बस अन्तरंग हेतू सम्यक्त्व का है वो ॥५३॥

सम्यक्त्व व संज्ञान ये हैं मोक्ष के लिये ।
चारित्र भी है मोक्ष का कारण उसे सुनिये ॥
चारित्र वो व्यवहार व निश्चय से द्विविध है ।
इस हेतु मैं उसको कहूंगा जो कि विविध है ॥५४॥

व्यवहार नय के चारित में जो तपश्चरण ।
व्यवहार नय का होता है मुख्य आचरण ॥
निश्चयनयों के आश्रित चारित्र में चरण ।
निश्चय से वो कहाता निज का तपश्चरण ॥५५॥

[**व्यवहारनय चारित्रे**] व्यवहारनय के चारित्र में [**व्यवहारनयस्य तपश्चरणं**] व्यवहारनय का तपश्चरण [**भवति**] होता है और [**निश्चयनय चारित्रे**] निश्चयनय के चारित्र में [**निश्चयतः**] निश्चयनय का [**तपश्चरणं**] तपश्चरण [**भवति**] होता है ।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् । भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्जितसमुपजनितनिश्चलभक्तियुक्तमेव । विपरीते हरिहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव । तत्र संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः । विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव । पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रम् । इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः । तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेवसम्यग्ज्ञानम् । अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः तेप्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति । अभेदानुपचाररत्नत्रय-

---

टीका—यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है ।

भेदोपचार रत्नत्रय भी सबसे प्रथम विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धानरूप है और वह सिद्धि के लिए परम्परा में कारणभूत ऐसे भगवान् पंच परमेष्ठियों में मल, मलिन और अगाढ दोषों से रहित, उत्पन्न होने वाली जो निश्चल भक्ति है उससे युक्त ही है । अर्थात् विपरीत हरि-विष्णु, हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रणीत पदार्थों के समूह में आग्रह का अभाव होना ही सम्यक्त्व है, यहां ऐसा अर्थ है ।

सम्यग्ज्ञान भी संशय, विमोह और विभ्रम दोषों से रहित ही है । उनमें से प्रथम, जिनेंद्र भगवान् देव हैं या शिव-परमेश्वर देव हैं ? इस भाव को संशय कहते हैं । शाक्य-बुद्ध आदि के द्वारा कथित वस्तु में निश्चय करना विमोह है, विभ्रम अज्ञानरूप ही है, और पाप क्रियाओं से निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र है, इसप्रकार से भेदोपचार रत्नत्रय की परिणति है । इसमें जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का जानना ही सम्यग्ज्ञान है । इस सम्यक्त्व परिणाम के लिए बाह्य सहकारी कारण, वीतराग सर्वज्ञ के मुख कमल से विनिर्गत समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्य श्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है और जो मुमुक्षु-मुनि हैं वे भी उपचार से पदार्थों के निर्णय में हेतु होने से अंतरंग हेतु कहे गये हैं, क्योंकि वे भी दर्शन मोहनीय के क्षय, उपशम, क्षयोपशम आदि में हेतु होते हैं ।

परिणतेर्जीवस्य टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमात्रांतर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रेण अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति । यः परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहारनयचारित्रे तिष्ठति, तस्य खलु व्यवहारनयगोचरतपश्चरणं भवति । सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः । स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति ।

अभेद-अनुपचार रत्नत्रय से परिणत हुए जीव के टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव निजपरमतत्त्व के श्रद्धान से, उस टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव निजपरम तत्त्व को जानने मात्र अंतर्मुख हुए परमबोध से और उसी टंकोत्कीर्ण एक स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजचारित्र से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्रगट होती है ।

जो परम जिनयोगीश्वर पहले पाप क्रियाओं के अभावरूप व्यवहार चारित्र में स्थित होते हैं, उनके निश्चितरूप से व्यवहारनय के विषयभूत व्यवहार तपश्चरण होता है, तथा सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन करना तप जो अपने स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र है वह इस निश्चयतप से सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है ।

विशेषार्थ—यहां पर तीन गाथाओं में ग्रंथकार ने व्यवहार सम्यक्त्व और उसके उत्पत्ति के कारण को बतलाया है पुनः दो गाथाओं से निश्चयव्यवहार रत्नत्रय का संकेत करते हुए व्यवहार-निश्चय चारित्र को कहने की सूचना दी है ।

एक बात यहां ५३ वीं गाथा की टीका में महत्त्व की बतलाई है कि सम्यक्त्व के निमित्त जिनसूत्र हैं और उनके जानने वाले पुरुष अंतरंग हेतु हैं । इसका मतलब कि सम्यक्त्व का अंतरंग हेतु तो दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का क्षय, उपशम-वा क्षयोपशम है । उस दर्शनमोहनीय के क्षय आदि में ये जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष भी माने गये हैं, इसलिए वे भी अंतरंग हेतु के हेतु होने से उपचार से अंतरंग हेतु कहे गये हैं । आगम में क्षायिकसम्यक्त्व के लिये तो नियम से केवली या श्रुत-केवली का पादमूल बतलाया है । यथा—"दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का प्रारम्भ किन्तु श्रुतकेवली के पादमूल में कर्मभूमि का उत्पन्न हुआ मनुष्य ही करता है

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

"दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥"

तथा च—

तथा निष्ठापन सर्वत्र हो सकता है[1] ।" इसलिए यहां पर जिनसूत्र को तो बाह्य सहकारी कारण कहा है और उनके जानने वाले श्रुतकेवली आदि महामुनियों को अंतरंग हेतु कह दिया है ।

अनंतर टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय-रत्नत्रय को प्राप्तकर यह भव्यजीव जो कभी नहीं प्राप्त हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है । आगे स्वयं ग्रंथकार व्यवहार चारित्र का वर्णन करेंगे, पुनः निश्चयप्रतिक्रमण आदि रूप से निश्चयचारित्र का वर्णन करेंगे ।

[निश्चयचारित्र की महत्ता को बतलाते हुए—]

एकत्वसप्तति में श्रीपद्मनंदि आचार्य ने भी उसी प्रकार से कहा है—

"श्लोकार्थ—आत्मा का निश्चय दर्शन है, आत्मा का बोध वह ज्ञान है, और उसी आत्मा में ही स्थिति होना सो चारित्र है । इसप्रकार का योग शिवपद का कारण है । अर्थात् अपनी आत्मा का निश्चय होना, ज्ञान होना और उसी में एकाग्र स्थिर हो जाना यह निश्चयरत्नत्रय ही साक्षात् मोक्ष का कारण है ।

और उसीप्रकार—[टीकाकार श्री मुनिराज निश्चयरत्नत्रय की महिमा को बतलाते हुए इस शुद्ध अधिकार को पूर्ण करते हैं—]

---

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु ।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४८॥
[गो. कर्म.]

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम् ।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ॥७५॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धभावाधिकारः तृतीयः श्रुतस्कन्धः ॥

---

(७५) **श्लोकार्थ**—सहज ज्ञान, वैसा ही सहज दर्शन और वैसा ही सहज विशुद्धचारित्र ये तीनों नित्य ही जयशील होते हैं, और पापरूप मलपंक की पंक्ति से निर्मुक्त मूर्ति स्वरूप, सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयशील होती है ।

विशेषार्थ—यहां जीव के शुद्धभावों को बतलाते हुए आचार्यवर्य श्रीकुंदकुंददेव ने गाथा ३८ से लेकर ५५ पर्यंत में यह अधिकार पूर्ण किया है । सबसे पहले इस अधिकार में ग्रंथकार शुद्धनिश्चयनय से जीव के औपाधिक भाव नहीं हैं इस बात को ४२ गाथा तक कहा है । पुनः जीव को निर्दंड स्वभाव आदि कहते हुए ४६ गाथा तक जीव के स्वभाव को विशेष स्पष्ट किया है । अनंतर यह बताया है कि ये संसारी जीव भी सिद्धों के समान पूर्णतया शुद्ध हैं, आगे नयविवक्षा को स्पष्ट करते हुए शुद्धनय से ही संसारी जीवों को सिद्धसदृश कहना चाहिए ऐसा कहा है । पुनः व्यवहार सम्यक्त्व के लक्षण को उसकी उत्पत्ति के बहिरंग अंतरंग कारणों को कहते हुए निश्चय व्यवहार रत्नत्रय को कहा है । इस प्रकार इस अधिकार में मुख्यतया जीव को शुद्धनय से पूर्ण शुद्ध कहा है ।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए सूर्य समान, पंचेन्द्रिय के विस्तार से मात्रमात्र परिग्रहधारी श्रीपद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धभाव अधिकार नामक तृतीय श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ।

❀ शुद्धभाव अधिकार समाप्त ❀

[४]

व्यवहारचारित्र अधिकार

अथेदानीं व्यवहारचारित्राधिकार उच्यते ।

कुलजोणि जीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥५६॥

[चाल छन्द : हे दीनबन्धु.....]

कुल योनि जीव मार्गणा स्थान आदि में ।
जीवों को जान करके जैसे कहें उनमें ॥
उन जीव के आरम्भ से निवृत्ति भाव जो ।
वो ही प्रथम महाव्रत है सर्व श्रेष्ठ वो ॥५६॥

अब इस समय व्यवहारचारित्र का अधिकार कहा जाता है ।

गाथा ५६

अन्वयार्थ—[**कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु**] कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि में [**जीवानाम्**] जीवों को [**ज्ञात्वा**] जानकर [**तस्य**] उसके [**आरम्भनिवृत्तिपरिणामः**] आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम वह [**प्रथमव्रतं**] प्रथमव्रत—पहला महाव्रत [**भवति**] होता है ।

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादिताः । अत्र पुनरुक्तिदोषभयान्न प्रतिपादिताः । तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति । अत एव प्रयत्नपरे हिंसापरिणतेरभावादहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(विश्वरिणी)

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ।।"

टीका—यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है ।

कुलों के भेद, योनियों के भेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थानों के भेद पहले ही प्रतिपादित किये गये हैं । यहां पुनरुक्ति दोष के भय से पुनः नहीं प्रतिपादित किये हैं । वहीं पर कहे हुए उनके भेदों को जानकर उनके रक्षा की परिणति ही अहिंसा होती है । उन जीवों का मरण हो अथवा न हो, किंतु प्रयत्न परिणाम के बिना सावद्यदोष का परिहार नहीं होता है । इसीलिए प्रयत्न में तत्पर होने पर हिंसा की परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है ।

उसी प्रकार से श्री समंतभद्रस्वामी ने कहा है—

अर्थ—जीवों की अहिंसा परमब्रह्मस्वरूप है, यह बात जगत में विदित है । जिस आश्रम के विधान में अणुमात्र भी आरम्भ है वहां पर वह अहिंसा नहीं है । अतः उस अहिंसा की सिद्धि के लिये हे भगवन् ! परमकारुणिक आपने ही उभय-अंतरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग कर दिया, और आप विकृतवेश तथा उपधि-परिग्रह में रत नहीं हुए[1] ।"

---

१. स्वयंभूस्तोत्र, नमिजिनस्तुति ।

तथा हि—

(मालिनी)

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः
सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः ।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां
विविधवधविदूरश्चारुशर्म्माब्धिपूरः ॥७६॥

रागेण व दोसेण व, मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि[1] साहु सया, विदियवदं होइ तस्सेव ॥५७॥

रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामं ।
यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव ॥५७॥

उसी प्रकार से [टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं—]

(७६) **श्लोकार्थ**—जो त्रसघात के परिणामरूप अंधकार के विध्वंस का हेतु है, सकलभुवन के जीवसमूह को सौख्य प्रदान करने वाला है, जिसमें स्थावर कायिक एकेन्द्रिय जीवों के विविध प्रकार के वध बहुत ही दूर हैं और जो उत्तम सुखरूपी समुद्र का पूर है ऐसा वह जैनधर्म जयशील होता है ॥७६॥

भावार्थ—जो धर्म त्रस स्थावर की हिंसा से दूर है और सभी जीवों को सुखदायी है तथा उत्तम सुख का सागर है वह आज भी जयवंत हो रहा है।

गाथा ५७

अन्वयार्थ—[**रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा**] राग से अथवा द्वेष से अथवा मोह से होने वाले [**मृषाभाषा परिणामं**] असत्य भाषा के परिणाम को [**यः साधुः**

---

१. पजहहि (क) पाठान्तर

जो राग से या द्वेष से वा मोह से कभी ।
होता असत्य भाषण परिणाम अशुभ ही ।।
उसको जो छोड़ते हैं उन साधु के सदा ।
होता द्वितीयव्रत है जो सत्य नाम का ।।७७।।

सत्यव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा जायते । तदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवः तं परिणामं परित्यजति तस्य द्वितीयव्रतं भवति इति ।

(शालिनी)

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ।।७७।।

प्रजहाति] जो साधु छोड़ता है, [**तस्य एव सदा**] उसी के सदा [**द्वितीयव्रतं भवति**] द्वितीय महाव्रत होता है ।

टीका—यह सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है ।

यहां पर सत्य से विरुद्ध जो परिणाम है वह मृषा-असत्य परिणाम है । वह परिणाम राग से अथवा द्वेष से अथवा मोह से उत्पन्न होता है । जो आसन्नभव्य जीव साधु उस असत्य परिणाम का त्याग कर देता है, उसके दूसरा महाव्रत होता है ।

[अब टीकाकार श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७७) श्लोकार्थ—जो पुरुष अत्यन्त स्पष्टरूप सत्य वचन को बोलता है वह स्वर्ग की देवांगनाओं के विपुल भोगों का एक भागी-भोक्ता हो जाता है और इस लोक में हमेशा सर्व सत्पुरुषों के द्वारा पूज्य हो जाता है सचमुच में सत्य से बढ़कर क्या अन्य कोई सत्य-समीचीनव्रत हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।।७७।।

गामे वा णयरे[1] वा,ऽरण्णे वा पेछिऊण परमत्थं ।
जो मुयदि गहणभावं, तिदियवदं होवि तस्सेव ।।५८।।

ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमर्थम् ।
यो मुंचति ग्रहणभावं तृतीयव्रतं भवति तस्यैव ।।५८।।

जो ग्राम या नगर में या वन में कहीं भी ।
पर वस्तु व पर शिष्यों को देख करके भी ।।
जो छोड़ते उन सबके ग्रहण भाव को सदा ।
उनका अचौर्यव्रत ये दे स्वात्म संपदा ।।५८।।

तृतीयव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । वृत्यावृत्तो ग्रामः तस्मिन् वा चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं नगरं तस्मिन् वा मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्णमरण्यं तस्मिन् वा परेण वा विसृष्टं निहितं पतितं वा विस्मृतं वा परद्रव्यं दृष्ट्वा स्वीकार-परिणामं यः परित्यजति, तस्य हि तृतीयव्रतं भवति ।

गाथा ५८

अन्वयार्थ—[**ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा**] ग्राम में, अथवा नगर में, अथवा वन में [**यः परं अर्थं प्रेक्षयित्वा ग्रहणभावं मुंचति**] जो साधु परधन को देखकर उसके ग्रहण करने के भाव का त्याग कर देता है, [**तस्य एव तृतीयं व्रतं भवति**] उसके ही तीसरा व्रत-अचौर्य महाव्रत होता है ।

टीका—यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है ।

जो चारों तरफ से बाड़ से वेष्टित हो वह ग्राम कहलाता है, चारों तरफ चार गोपुर द्वारों से सुशोभित को नगर कहते हैं, मनुष्य के संचार से शून्य वनस्पति समूह, बेल, और छोटे-छोटे वृक्षों के झुण्ड आदि से परिपूर्ण स्थान को वन कहते हैं। ऐसे ग्राम में अथवा नगर में अथवा वन में पर के द्वारा छोड़ी गई, रखी हुई, अथवा गिरी हुई, अथवा भूली हुई पर वस्तु को देखकर उसके स्वीकार करने के परिणाम का जो त्याग कर देता है, निश्चित ही उसके तीसरा महाव्रत होता है ।

---

१. नगरे (क) पाठान्तर

(आर्या)

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह ।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च ॥७८॥

दट्ठूण इत्थिरूवं, वांछाभावं णियत्तदे [णिवत्तदे] तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं [तुरियवदं] ॥५९ ।

दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांछाभावं निवर्तते तासु ।
मैथुनसंज्ञाविवर्जितपरिणामोऽथवा तुरीयव्रतम् ॥५९॥

जो स्त्रियों के रूप को नेत्रों से देखकर ।
वाञ्छा न करते किंचित् परिपूर्ण विरतिधर ॥
या उनके भाव मैथुन संज्ञा से रहित जो ।
त्रैलोक्य पूज्य माना महाव्रत चतुर्थ वो ॥५९॥

चतुर्थव्रतस्वरूपकथनमिदम् । कमनीयकामिनीनां तन्मनोहरांगनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवांछापरित्यागेन, अथवा पुंवेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षणशुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्यव्रतं भवति इति ।

[अब टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक के द्वारा तृतीय व्रत का महत्त्व बतलाते हैं—]

(७८) श्लोकार्थ—यह उत्कृष्ट अचौर्यव्रत इस लोक में रत्नों के समूह को आकर्षित करता है और (परलोक में) स्वर्ग की देवांगनाओं के सुख का मूल है तथा क्रम से मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का भी कारण है ॥७८॥

गाथा ५९

अन्वयार्थ—[**स्त्रीरूपं दृष्ट्वा**] स्त्रियों के रूप को देखकर [**तासु वांछाभावं निवर्तते**] उनमें जो वांछा भाव को नहीं करता है, [**अथवा मैथुनसंज्ञाविवर्जित-परिणामः तुरीयव्रतम्**] अथवा मैथुन संज्ञा से रहित जो परिणाम है वह चौथा महाव्रत है ।

टीका—यह चौथे महाव्रत के स्वरूप का कथन है ।

सुन्दर कामिनियों में उनके मनोहर अंगों के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न हुए कुतूहलरूप चित्त की इच्छा के परित्याग से, अथवा पुरुषवेद नामक नो कषाय के तीव्र

(मालिनी)

भवसि यदि विभूतिः कामिनीनां विभूति
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम् ।
सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ॥७९॥

सव्वेसिं गंथाणं, चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि[1] भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्व्वम् ।
पंचमव्रतमिति भणितं चारित्रभरं वहतः ॥६०॥

जो ग्रन्थ नाम परिग्रह संपूर्ण त्यागते ।
निरपेक्ष भाव से उन्हें निर्ग्रन्थ मानते ॥
चारित्र भार का वहन जो करते उन्हीं को ।
होता ये पांचवाँ व्रत दिग्वस्त्र रूप जो ॥६०॥

उदय से उत्पन्न हुई जो मैथुन संज्ञा है, उसके परित्यागलक्षण शुभपरिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज स्त्री मुख की अपेक्षा सहज शुद्ध आत्मस्वरूप की महिमा को बतलाते हुए स्त्रियों के स्मरण को त्याग करने का संकेत कर रहे हैं–]

(७९) **श्लोकार्थ**—कामिनी स्त्रियों की जो शरीर विभूति, शरीर के आंगोपांग सौन्दर्य आदि हैं, हे कामी पुरुष ! तू यदि उस विभूति-सौन्दर्य आदि का मन में स्मरण करता है तब तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा ? अहो ! आश्चर्य हो रहा है कि तू किस हेतु से सहज परम तत्त्व रूप निजस्वरूप को छोड़ करके अत्यधिक मोह को प्राप्त हो रहा है अर्थात् सहज तत्त्व रूप जो निज परमात्मा है उसमें जो आनन्द है वह स्त्रियों के मोह में आसक्त हुए जीवों को नहीं मिल सकता है ।

गाथा ६०

अन्वयार्थ—[**निरपेक्षभावनापूर्वम्**] किसी प्रकार की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष भावना पूर्वक [**सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागः**] संपूर्ण परिग्रहों का त्याग करना, [**चारित्रभरं**

१. वदमिति (क) पाठान्तर

इह हि पंचमव्रतस्वरूपमुक्तम् । सकलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिजकारणपरमात्मस्वरूपावस्थितानां परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां सदैव निश्चयव्यवहारात्मकचारुचारित्रभरं वहतां, बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्याग एव परम्परया पंचमगतिहेतुभूतं पंचमव्रतमिति ।

तथा चोक्तं समयसारे—

"मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ।।"

तथा हि—

वहतः पंचमव्रतं इति भणितम्] वह चारित्र के भार को वहन करने वाले साधु का पांचवां व्रत कहलाता है ।

टीका—यहां यह पंचमव्रत का स्वरूप कहा है ।

संपूर्ण परिग्रह के परित्यागलक्षण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में जो स्थित हैं, परमसंयमी हैं, परमजिन योगियों के स्वामी हैं, तथा हमेशा ही जो निश्चय और व्यवहार स्वरूप श्रेष्ठ चारित्र के भार को वहन करने वाले हैं ऐसे साधुओं के बाह्य और आभ्यन्तररूप से चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही परम्परा से पंचमगति के लिए कारणभूत पांचवां व्रत कहलाता है ।

उसी प्रकार [1]समयसार में भी कहा है—

"यदि यह बाह्य परिग्रह मेरा हो जावे तब तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊं । जिस हेतु से मैं ज्ञाता ही हूँ उसी हेतु से यह परिग्रह मेरा नहीं है ।"

[इसी बात को श्री टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर होने का उपदेश दे रहे हैं—]

---

१. गाथा १०८,

(हरिणी)

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि ।
स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसतामिदम् ॥८०॥

पासुगमग्गेण दिवा, अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो, इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥

प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयन् युगप्रमाणं खलु ।
गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्यासमितिर्भवेत्तस्य ॥६१॥

दिन में जो चलते प्रासुकनिर्जंतु मार्ग से ।
आगे ही देख करके चलकर प्रमाण से ॥
निजकार्य वश से करते भू पर सदा गमन ।
ईर्यासमिति है उनके वे भाव से श्रमण ॥६१॥

---

(८०) **श्लोकार्थ**—भव्यजीव भवभीरु होने से परिग्रह के विशेष आग्रह को या ग्रहण को छोड़ो और निरुपम सुख के आवास (मोक्षपद) की प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा में जगत के जीवों को दुर्लभ, सुखमयी ऐसी अविचल स्थिति को करो। और यह निजात्मा में स्थिति करना सत्पुरुष-साधुओं के लिए कोई महान् आश्चर्य नहीं है किन्तु असत्पुरुष-असाधुजनों के लिए ही यह आश्चर्य की बात है ॥८०॥

भावार्थ—यहां परिग्रह के त्याग की प्रेरणा दी है और मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये आत्मा में अविचल स्थिर होने का आदेश दिया है तथा यह भी बतलाया है कि संपूर्ण परिग्रह को छोड़कर शुद्ध आत्मा में स्थिर होना यह जगत के जीवों के लिए दुर्लभ है। इसके प्राप्त करने में महापुरुषों को तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है अर्थात् वे सहज ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु असज्जन पुरुषों को आश्चर्यकारी अवश्य है अर्थात् वे प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

गाथा ६१

अन्वयार्थ—[**प्रासुकमार्गेण दिवा**] जीवजंतु रहित प्रासुकमार्ग में दिवस में [**खलु युगप्रमाणं पुरतः अवलोकयन्**] निश्चित ही चार हाथ प्रमाण आगे देखकर

अत्रैर्यासमितिस्वरूपमुक्तम् । यः परमसंयमी गुरुदेवयात्रादिप्रशस्तप्रयोजनमुद्दिश्यैकयुगप्रमाणं मार्गम् अवलोकयन् स्थावरजंगमप्राणिपरिरक्षार्थं दिवैव गच्छति, तस्य खलु परमश्रमणस्येर्यासमितिर्भवति । व्यवहारसमितिस्वरूपमुक्तम् । इदानीं निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते । अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं सम्यग् इता परिणतिः समितिः । अथवा निजपरमतत्त्वनिरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः। इति निश्चयव्यवहारसमितिभेदं बुद्ध्वा तत्र परमनिश्चयसमितिमुपयातु भव्य इति ।

[श्रमणः गच्छति] जो श्रमण गमन करता है, [**तस्य ईर्यासमितिः भवेत्**] उस साधुके ईर्यासमिति होती है ।

टीका—यहां पर ईर्यासमिति का स्वरूप कहा है ।

जो परमसंयमी साधु गुरुओं की यात्रा और देव-तीर्थंकरों की यात्रा आदि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य करके चार हाथ प्रमाण मार्ग को देखते हुये स्थावर और त्रस जीवों की रक्षा करने के लिये दिन में ही गमन करते हैं, उन परम श्रमण के निश्चित ही ईर्यासमिति होती है । इसप्रकार यह व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा गया है ।

अब निश्चयसमिति का स्वरूप कहते हैं—अभेद और अनुपचार ऐसे रत्नत्रय स्वरूप मार्ग से परमधर्मी अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करना—आत्म स्वरूप में परिणत होना ही निश्चयसमिति है । अथवा निजपरमतत्त्व में निरत रूप जो सहज परमज्ञान आदि परमधर्म हैं उनका समुदाय—संयोग संगठन होना ही समिति है ।

इसप्रकार से निश्चय और व्यवहार समिति के भेद को जानकर भव्यजीव उसमें से परम निश्चयसमिति को प्राप्त करें, यह अर्थ है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज चार श्लोकों द्वारा समिति की सुन्दर महिमा को बतलाते हुये उसके श्रेष्ठ फलको बतलाते हैं—]

(मंदाक्रान्ता)

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो ।
मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च ।
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव ।। ८१ ।।

(मालिनी)

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां
त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा ।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला
सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी ।। ८२ ।।

(मालिनी)

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरहितानां कामरोगातुराणाम् ।

---

(८१) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार परमसमिति को मुक्तिकांता की सखी जान करके जो जीव भव भय के करने वाले कनक और कामिनी रूप परिग्रह को छोड़कर जो अपूर्व सहज विलासरूप चैतन्य चमत्कार मात्र ऐसे—अभेद—अद्वैत में स्थित होकर सम्यग् गमन करते हैं वे सर्वदा मुक्त ही हैं ।।८१।।

(८२) **श्लोकार्थ**—यह समिति जयशील हो रही है जो कि मुनियोंके शील-चरित्र का मूल है त्रस जीवों के घात से बहुत दूर है वैसे स्थावर जीवों की हिंसा से भी दूर है, भव रूपी दावानल के परिताप से उत्पन्न हुए क्लेश के लिए मेघ-माला है और सकलपुण्यरूपी धान्य की राशिको संतोष देने वाली है अर्थात् जैसे मेघ की वर्षा से वन की दावानल—अग्नि बुझ जाती है और धान्यके खेत पुष्ट हो जाते हैं वैसे ही यह संसार के संताप को बुझाने के लिए और पुण्य को वृद्धिगत करने के लिए मेघ के समान है । यहां समिति के उत्तम फल को बताया है ।।८२।।

(८३) **श्लोकार्थ**—इस जन्मरूपी समुद्र—संसार सागर में समिति से रहित कामरोग से पीड़ित (इच्छाओं से पीड़ित) जीवों का यहां जन्म लेना निश्चित ही है ।

मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ।। ८३ ।।

(आर्या)

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः ।
बत न च लभतेऽपायात् संसारमहार्णवे भ्रमति ।। ८४ ।।

पेसुण्णहासकक्कस, परणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं, भासासमिदी वदंतस्स ।। ६२ ।।

पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम् ।
परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः ।। ६२ ।।

पैशुन्य हास्य कर्कश भाषा अरु कठिन ।
निज की प्रशंसा पर की निंदा के भी वचन ।।
जो त्याग इनका करके निजपर हितंकरी ।
बोलें वचन उन्हीं के भाषासमिति खरी ।। ६२ ।।

इसलिये हे मुनिपते ! तुम अपने मनरूपी घर के भीतर इस सुन्दर मुक्तिरूपी स्त्री के लिए अपवरक—कमरा (निवासागृह) बनाओ । अर्थात् समिति से रहित जीवों को ही इस संसार में जन्म लेना पड़ता है और जो समिति का पालन करते हैं समझिये उन्होंने अपने विशाल मनरूपी महल में मुक्ति सुन्दरी के रहने के लिए एक कमरा बनवा लिया है। मतलब वे जल्दी ही मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।।८३।।

(८४) **श्लोकार्थ**—यदि यह जीव निश्चयरूप समिति को प्रकट करता है तो वह मुक्ति को प्राप्त करने वाला हो जाता है । अरे रे ! खेद है, उस समिति के अपाय-अभाव से वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है । प्रत्युत संसाररूपी महासमुद्र में भ्रमण करता है । अर्थात् निश्चयसमिति के बिना मोक्ष नहीं है । और व्यवहार समिति के बिना निश्चयसमिति नहीं हो सकती है ऐसा समझकर व्यवहार चारित्र को धारण कर निश्चय चारित्र को प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिए ।।८४।।

गाथा ६२

अन्वयार्थ—[पैशून्य हास्यकर्कश परनिंदात्मप्रशंसितं वचनं] पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिंदा और अपनी प्रशंसारूप वचन को [परित्यक्त्वा] छोड़ करके [स्वपर-

अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम् । कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णगतं चक्रपुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महाविपत्कारणं वचः पैशून्यम् । क्वचित् कदाचित् किंचित् परजनविकाररूपमवलोक्य त्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितम् ईषच्छुभमिश्रितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुखविकारगतं हास्यकर्म । कर्णशष्कुलीविवराभ्यर्णगोचरमात्रेण परेषामप्रीतिजननं हि कर्कशवचः । परेषां भूताभूतदूषणपुरस्सरवाक्यं परनिन्दा । स्वस्य भूताभूतगुणस्तुतिरात्मप्रशंसा । एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वस्य च परस्य च शुभशुद्धपरिणतिकारणं वचो भाषासमितिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभि :—

हितं वदतः भाषासमितिः] स्व और पर के हितरूपवचन को बोलने वाले साधुके भाषा समिति [स्यात्] होती है ।

टीका—यहां भाषासमिति का स्वरूप कहा है ।

चुगलखोर के मुख से निकले हुए और राजा के कान तक पहुंचे हुये वचन, जो कि एक पुरुष, एक कुटुम्ब अथवा एक ग्राम के लिये महान विपत्ति के कारणभूत हैं वे पैशून्य वचन हैं । कहीं पर कदाचित् किंचित् अन्यजनों के विकृतरूप को देखकर या सुनकर हास्य नाम के नो कषाय से उत्पन्न हुआ किंचित् शुभ से मिश्रित होते हुये भी अशुभकर्म के लिये कारणभूत पुरुष के मुख के विकार को जो प्राप्त हुआ है वह 'हास्य' कर्म कहलाता है । जो कानरूपी शष्कुली-पूड़ी के छिद्र के पास पहुंचने मात्र से अन्य जनों को अप्रीति उत्पन्न करने वाले हैं वे कर्कश वचन कहलाते हैं । दूसरों के विद्यमान या अविद्यमान दूषण को कहने वाले वचन परनिंदा हैं । अपने विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों की स्तुति करना आत्मप्रशंसा है । इन सभी अप्रशस्त वचनों का त्याग करके अपने और पर के शुभपरिणति और शुद्धपरिणति के लिये कारणभूत वचन बोलना भाषासमिति कहलाती है ।

ऐसे ही श्री गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है—

(मालिनी)

"समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः ।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥"

तथा च—

(अनुष्टुभ्)

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम् ।
अन्तरैरप्यलं जल्पैः बहिर्जल्पैश्च किं पुनः ॥८५॥

"[1]सम्यक् प्रकार से सभी वस्तु के स्वरूप को जिन्होंने जान लिया है, जो संपूर्ण पापक्रियाओं से दूर हैं, जिन्होंने अपने हितमें अपने मन को लगा रखा है, जिनके सभी प्रचार-कार्य शांत हो चुके हैं, जो स्व और पर के लिये फलसहित वचन बोलने वाले हैं, और जो सभी संकल्पों से रहित हो चुके हैं। वे विमुक्त पुरुष-निर्ग्रंथ साधु इस लोक में मुक्ति के पात्र कैसे नहीं होंगे ? अर्थात् ऐसे साधुजन मुक्ति के पात्र अवश्य होंगे।"

और उसी प्रकार—[टीकाकार मुनिराज भाषासमिति में निरत मुनियों की विशेषता को प्रगट करते हुये श्लोक कहते हैं]

(८५) श्लोकार्थ—परब्रह्मरूप आत्मा के अनुष्ठान में निरत मनीषी बुद्धिमान साधुओं को अंतरंग के जल्प से भी बस होवो। पुनः बहिर्जल्प की तो बात ही क्या है ?

भावार्थ—अपनी आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के अनुष्ठानमें संलग्न हुये साधु जब अंतर्जल्प-मन के विकल्प जालों को भी छोड़ देते हैं तो उनके बहिर्जल्प-बाहर में लोगों से बोलना चालना आदि पहले ही छूट चुका है। अर्थात् बाह्यजनों से बोलना आदि व्यापार बंद करके अंतरंग के मनके व्यापार को भी रोकना चाहिये, यह अभिप्राय है।

---

१. आत्मानुशासन, श्लोक २२६

कदकारिदाणुमोदणरहिदं[1] तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं, समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥

कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्रासुकं प्रशस्तं च ।
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ॥ ६३ ॥

कृत कारितानुमोदन वर्जित अहार जो ।
प्रासुक प्रशस्त उत्तम पर घर तयार जो ॥
पर ने दिया है उसको समभाव से लिये ।
उनके अशन समिति हो कर पात्र में लिये ॥ ६३ ॥

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम् । तद्यथा—मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तम्; अतिप्रशस्तं मनोहरं- हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिसंचारागोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्; प्रतिग्रहो

गाथा ६३

अन्वयार्थ—[**कृतकारितानुमोदनरहितं**] जो कृत, कारित और अनुमोदना से रहित, [**तथा प्रासुकं प्रशस्तं च**] तथा प्रासुक और प्रशस्त—आगमानुकूल, [**परेण दत्तं-भक्तं**] पर के द्वारा दिया गया भोजन है, [**संभुक्तिः एषणा समितिः**] उसको सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना एषणासमिति है ।

टीका—यहां एषणासमिति के स्वरूप को कहा है ।

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—मन, वचन, काय में से प्रत्येक को कृत, कारित, अनुमोदना के साथ करने पर नव भेद हो जाते हैं । उन नव विकल्पों से सहित भोजन नवकोटि से विशुद्ध नहीं है ऐसा (आगम में) कहा है । मनोहर भोजन को अतिप्रशस्त कहते हैं, और हरित् कायस्वरूप सूक्ष्म प्राणियों के संचार से रहित भोजन को प्रासुक कहते हैं ।

पड़गाहन, उच्चस्थान, चरणप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मन, वचन, काय की शुद्धि और भोजन की शुद्धि इन नाम वाले नवप्रकार के पुण्यों से—नवधाभक्ति पूर्वक

---

१. रहियं (क) पाठान्तर ।

स्वस्थानपादक्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयैर्नवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वा श्रद्धाशक्त्यलुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाऽभिधानसप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपासकेन दत्तं भक्तं भुंजानः तिष्ठति यः परमतपोधनः तस्यैषणासमितिर्भवति। इति व्यवहारसमितिक्रमः। अथ निश्चयतो जीवस्याशनं नास्ति परमार्थतः, षट्प्रकारमशनं व्यवहारतः संसारिणामेव भवति।

तथा चोक्तं—

"णोकम्मकम्महारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥"

अशुद्धजीवानां विभावधर्मं प्रति व्यवहारनयस्योदाहरणमिदम्। इदानीं निश्चयस्योदाहृतिरुच्यते। तद्यथा—

"जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥"

आदर करके श्रद्धा, शक्ति अलुब्धता, भक्ति, विवेक, दया और क्षमा इन नाम वाले सात गुणों से सहित, शुद्ध और योग्य आचार के पालन करने वाले श्रावक के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण करते हुये जो परम तपोधन रहते हैं, उनके एषणासमिति होती है। इस प्रकार से यह व्यवहारसमिति का क्रम है। और निश्चयनय से जीव के वास्तव में अशन ही नहीं है, क्योंकि छह प्रकार का भोजन व्यवहारनयसे संसारी जीवों को ही होता है।

समयसार[1] में कहा भी है (?)—

गाथार्थ—"नोकर्म आहार, कर्म आहार, लेप आहार, कवल आहार, ओज आहार और मानसिक आहार, ऐसे क्रम से आहार के छह भेद जानना चाहिये"।

अशुद्धजीवों के विभावधर्म के प्रति व्यवहारनय का यह उदाहरण है। अब निश्चयनय का उदाहरण देते हैं। वो इस प्रकार है—

---

१. यह गाथा समयसार में नहीं है किंतु प्रवचनसार में प्रथम अधिकार की २० वीं गाथा की तात्पर्य वृत्ति टीका में अवतरणरूप से है।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(मालिनी)

"यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
बहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥"

तथा हि—

गाथार्थ—"जिसका आत्मा भोजन की इच्छा से रहित है वही तप है और उस तप को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले श्रमणों के अन्न आदि की भिक्षाएषणा दोष से रहित होती है इसलिये वे श्रमण अनाहारी हैं[1] ।'

भावार्थ—स्वयं अनशन स्वभाववाला होने से और एषणा दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करने से युक्ताहार लेने वाले मुनि साक्षात् अनाहारी ही हैं । जो साधु समस्त पुद्गलाहार से शून्य आत्मा के स्वभाव को जानने वाले हैं, समस्त भोजन की तृष्णा से रहित हैं । ऐसे साधु अनशन स्वभाव वाले आत्मा की सदा भावना करते रहते हैं और उस आत्मा की सिद्धि के लिये शास्त्र कथित छयालीस दोष, बत्तीस अंतराय टाल कर आहार ग्रहण करते हैं, वे आहार करते हुए भी अनाहारी हैं, यहां ऐसा अभिप्राय है ।

उसीप्रकार श्रीगुणभद्रस्वामी ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—"जो अतिशयरूप से यम और नियम से सहित हैं, बहिरंग और अंतरंग से जिनकी आत्मा शांत है, जो समाधि में परिणमन कर रहे हैं, सभी जीवों पर अनुकम्पा धारण करने वाले हैं, जो शास्त्र में कथित, हित और मित आहार को ग्रहण करने वाले हैं, जिन्होंने निद्रा को जीत लिया है और अध्यात्म के सार को निश्चित कर लिया है ऐसे परमसाधु क्लेश समूह को समूल-चूल जला देते हैं ।

---

१. प्रवचनसार गाथा २२७ ।

(शालिनी)

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं
ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम् ।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी
प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः ॥८६॥

पोत्थइकमंडलाइं, गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥

पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥६४॥

पुस्तक कमंडलू वा संस्तर जो वस्तु हों ।
उनको उठाने धरने में यत्न भाव हों ॥
समिती सदा उन्हें है आदाननिक्षेपण ।
जो सावधान मुनि हैं उनको सदा नमन ॥६४॥

उसीप्रकार से—[टीकाकार श्री मुनिराज एषणासमिति के पालन करने वाले महामुनि के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(८६) **श्लोकार्थ**—भक्त के हस्ताग्र से दिये हुए भुक्त-भोजन को खाकर पूर्ण ज्ञान के प्रकाश स्वरूप आत्मा का ध्यान करके और इसीप्रकार से सम्यक् तपश्चरण को तप करके वह सत्तपस्वी देदीप्यमान मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जो महाव्रती साधु विधिवत् श्रावक के द्वारा शुद्ध आहार ग्रहण करके अपनी आत्मा का ध्यान करता है, वही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है।

गाथा ६४

अन्वयार्थ—[**पुस्तककमंडलादिग्रहणविसर्गयोः**] पुस्तक, कमंडलु आदि के ग्रहण करने और रखने में [**प्रयत्नपरिणामः**] जो प्रयत्नरूप परिणाम है, [**आदाननिक्षेपण-समितिः इति निर्दिष्टा भवति**] वह आदाननिक्षेपण समिति है इसप्रकार कहा गया है।

अत्रादाननिक्षेपणसमितिस्वरूपमुक्तम् । अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरण-ग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम् । उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलु-प्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः । अभ्यन्तरोपकरणं निजपरमतत्त्वप्रकाशदक्षं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्तरेण न किम-प्युपादेयमस्ति । अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञानकारणं पुस्तकं

टीका—यहां आदाननिक्षेपण समिति के स्वरूप को कहा है ।

अपहृतसंयमी मुनियों के संयम, ज्ञान आदि के उपकरण ग्रहण करते और रखते समय होने वाली समिति के प्रकार का यह कथन है, क्योंकि उपेक्षासंयमी मुनियों के पुस्तक कमंडलु आदि नहीं हैं, इसलिये वे परम जिनमुनि एकांत से सर्वथा निस्पृह होते हैं अतएव वे बाह्य उपकरण से रहित हैं । अभ्यंतर उपकरण निजपरमतत्त्व के प्रकाशन करने में कुशल ऐसा जो उपाधिरहित लक्षणवाला सहज ज्ञान है उसके बिना उन मुनियों को कुछ भी उपादेय नहीं है ।

अपहृत संयमधारी मुनियों को परमागम के अर्थ का जो पुनः पुनः अभ्यास-रूप जो प्रत्यभिज्ञान है उसमें कारणभूत पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, शौच का उपकरण शरीर की विशुद्धि में हेतुभूत कमंडलु है और संयम के उपकरण हेतुक पिच्छी है । इनके ग्रहण करने और रखने के समय उत्पन्न हुये प्रयत्न से परिणाम की विशुद्धि ही निश्चितरूपसे आदाननिक्षेपण समिति है इसप्रकार से कहा गया है ।

विशेषार्थ—संयम के दो भेद हैं, उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम । "[1]अपनी शुद्ध आत्मा से भिन्न संपूर्ण बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह का परित्याग कर देना 'उत्सर्ग मार्ग' है । इसे ही निश्चयनय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग कहते हैं अर्थात् ये सब पर्यायवाची नाम हैं । जो मुनि इस निश्चयरत्नत्रय में ठहरने को असमर्थ हैं वे शुद्धात्मा के सहकारीभूत कुछ भी प्रासुक आहार ज्ञानोपकरण आदि ग्रहण करते हैं उनका यह अपवाद चारित्र कहलाता है इसे ही व्यवहारनय एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग कहते हैं

---

१. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति गा० २३० ।

ज्ञानोपकरणमिति यावत्, शौचोपकरणं च कायविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः, संयमोपकरणहेतुः पिच्छः। एतेषां ग्रहणविसर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपणसमितिरिति निर्दिष्टयति।

अर्थात् ये सब पर्यायवाची नाम हैं। इन उत्सर्ग और अपवाद में कथंचित्-परस्पर-सापेक्ष भाव को रखने वाले साधु के ही चारित्र की रक्षा होती है।"

श्री अकलंकदेव ने भी कहा है—

"संयम के दो भेद हैं—उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम। देश और काल के विधान को जानने वाले, स्वाभाविकरूप से शरीर विरक्त और तीन गुप्तियों से सहित साधुके राग और द्वेष रूप मनोवृत्ति का न होना उपेक्षासंयम है। अपहृतसंयम के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद हैं। प्रासुक आहार और प्रासुक वसति मात्र बाह्य साधन जिनके पास हैं, तथा जो ज्ञान और चारित्ररूप क्रियाओं में स्वाधीनता से तत्पर हैं ऐसे साधु बाह्य जंतुओं के आने पर उनसे अपने को बचाकर संयम पालते हैं सो उत्कृष्ट अपहृतसंयम है। मृदु उपकरण से जंतुओं को हटाकर संयम पालना मध्यम है एवं अन्य उपकरणोंसे हटाकर जीवरक्षा करना जघन्य अपहृतसंयम कहलाता है। इस अपहृतसंयम के लिये आठ प्रकार की शुद्धियों का कथन है। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्शुद्धि[1]।" इनका विशेष वर्णन तत्वार्थवार्तिक, मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिये।

यहां अभिप्राय इतना ही है कि उपेक्षासंयमी मुनि ध्यान में लीन शुद्धोपयोगी और वे ही वीतराग चारित्रधारी हैं। तथा अपहृतसंयमी मुनि आगमानुकूल प्रवृत्ति करते हुये शुभोपयोगी हैं और वे ही सराग चारित्र का पालन करने वाले हैं।

---

१. तत्वार्थवार्तिक पृ० ५९६,

(मालिनी)

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री ।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ॥८७॥

पासुगभूमिपदेसे, गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो, पइट्ठा[1]समिदी हवे तस्स ॥६५॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन ।
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठासमितिर्भवेत्तस्य ॥६५॥

निर्जंतु भूमि स्थल एकांत गूढ हो ।
नहिं रोक टोक पर का हरितादि शून्य हो ॥
मलमूत्र आदि का जो वह त्याग करे हैं ।
वे ही मुनि प्रतिष्ठा समिति को धरे हैं ॥६५॥

अब टीकाकार मुनिराज इस समिति के फल को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—

(८७) श्लोकार्थ—उत्तम परम जिन जिनमुनियों की समितियों में यह आदाननिक्षेपण समिति शोभित होती है जो कि प्राणियों के समुदाय में क्षमा और मैत्री स्वरूप है। हे भव्य ! तुम भी अपने मनरूपी पंकज में नित्य ही इसको धारो, निश्चित ही परमश्री–मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के प्रियकांत हो जावोगे ॥८७॥

गाथा ६५

अन्वयार्थ—[**परोपरोधेन रहिते**] पर के रोक टोक से रहित [**गूढे प्रासुकप्रदेशे**] गूढ–मर्यादित–एकांत, जीवजंतु रहित प्रासुक स्थान में [**उच्चारादित्यागः**] जो मल–मूत्र आदि शरीर के मल का त्याग करते हैं, [**तस्य प्रतिष्ठासमितिः भवेत्**] उनके प्रतिष्ठापनसमिति होती है ।

---

१. पइट्ठ (क) पाठान्तर

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम् । शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावान्न चान्नग्रहणपरिणतिः, व्यवहारतो देहः विद्यते, तस्यैव हि देहे सति ह्याहारग्रहणं भवति, आहारग्रहणान्मलमूत्रादयः संभवन्त्येव, अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं निर्जन्तुकं परेषामुपरोधेन विरहितम्, तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादुत्तरेण कतिचित् पदानि गत्वा ह्युदङ्मुखः स्थित्वा चोत्सृज्य कायकर्माणि संसारकारणं परिणामं मनश्च संसृतेर्निमित्तं, स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्यायति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य खलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति । नान्येषां स्वैरवृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित् समितिरिति ।

टीका—मुनियों के शरीर के मलादि त्याग करने के लिए स्थान की शुद्धि का यह कथन है ।

शुद्ध निश्चयनय से जीव के शरीर का अभाव होने से भोजन को ग्रहण करने की परिणति नहीं है, किंतु व्यवहारनय से देह है अतः उस जीव के ही शरीर के होने पर निश्चितरूप से आहार ग्रहण होता है, आहार के ग्रहण करने से मल-मूत्रादि होते ही हैं, इसीलिये संयमियों के मल-मूत्र विसर्जन के स्थान को निर्जंतुक और अन्य जनों के रोक-टोक से रहित कहा है, उस स्थान में शरीरधर्म को करके पश्चात् उस स्थान से उत्तर में या आगे कुछ डग जाकर वहां उत्तर दिशा में मुख करके खड़े होकर काय की क्रिया का त्याग करके अर्थात् कायोत्सर्ग करके तथा संसार के कारणभूत परिणाम का और संसार के निमित्तस्वरूप मन का भी त्याग करके निराकुल चित्त होकर जो परमसंयमी अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं अथवा शरीर की अपवित्रता का पुनः पुनः विचार करते हैं, उनके निश्चित ही प्रतिष्ठापनसमिति होती है । अन्य यतिनामधारी स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले साधुओं में कोई भी समिति नहीं होती है ।

विशेषार्थ—साधुओं को मल-मूत्र विसर्जन के कायोत्सर्ग करने में पच्चीस श्वासोच्छ्वास का विधान है । और देववंदना, स्वाध्याय आदि क्रियाओं में जो कायोत्सर्ग होता है उसमें सत्ताईस श्वासोच्छ्वास होते हैं ।

[आगे पद्मप्रभमलधारिदेव समिति के प्रकरण की टीका पूर्ण करते हुए समितियों का महत्त्व और उनके पालन करने का फल बतलाते हुए तीन श्लोकों में अपने उद्गार प्रगट करते हैं—]

(मालिनी)

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम् ।
मधुसखनिशितास्त्रव्रातसंभिन्नचेतः-
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात् ॥८८॥

(हरिणी)

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम् ।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा
जिनमततपःसिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम् ॥८९॥

(द्रुतविलंबित)

समितिसंहतितः फलमुत्तमं
सपदि याति मुनिः परमार्थतः ।
न च मनोवचसामपि गोचरं
किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ॥९०॥

---

(८८) **श्लोकार्थ**—जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में तत्पर यतियों के लिए यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है। मधुसख-कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्र समूह से भिदे हुए हृदय वाले मुनिगणों के वह समिति गोचर ही नहीं होती है। अर्थात् जो मुनि आत्मा के स्वरूप का चिंतन करने वाले हैं उन्हीं की यह समिति उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने वाली है किंतु जो सांसारिक विषयसुखों में आसक्त हैं उनके यह समिति ही नहीं होती है पुनः मोक्ष की बात उनसे बहुत दूर है।

(८९) **श्लोकार्थ**—हे मुनिपते ! मुक्तिरूपी स्त्री को अभिमत-प्रिय, भव भव के भयरूपी अंधकार को ध्वंस करने में पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा-चांदनी स्वरूप और तुम्हारी सम्यक् दीक्षारूपी कांता की सखी ऐसी इस सम्यग् प्रवृत्तिरूप समिति को अब हर्ष से जान करके तुम जिनमत के तप से सिद्ध होने वाले ऐसे कोई एक-अनुपम ध्रुव-अविनश्वर फल को प्राप्त करोगे।

(९०) **श्लोकार्थ**—समिति के समूह से वास्तव में मुनिराज शीघ्र ही उत्तम फल को प्राप्त कर लेते हैं। जो कि मन और वाणी के अगोचर केवल सौख्य सुधामय

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणुगुत्ती[1], ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥

कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम् ।
परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता ॥६६॥

कालुष्य मोह संज्ञा आहार भयादी ।
बहुविध के भाव जो हैं अशुभ राग द्विषादी ॥
इनका करें परिहार मनोगुप्ति वे धरें ।
व्यवहार नय से गुप्ति इसविध मुनि उचरें ॥६६॥

व्यवहारमनोगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः कषायैः क्षुभितं चित्तं कालुष्यम् । मोहो दर्शनचारित्रभेदाद् द्विधा । संज्ञा आहारभयमैथु-

---

कोई एक अद्भुत है ॥७०॥

अर्थात् ये समितियाँ मोक्षरूपी सर्वोत्तम फल को देने वाली हैं जो मुनि इन समितिरूप से प्रवृत्ति करते हैं वे शीघ्र ही अविनश्वर फल को प्राप्त कर लेते हैं ।

गाथा ६६

अन्वयार्थ—[**कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्**] कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभभावों के [**परिहारः**] परिहार को [**व्यवहारनयेन**] व्यवहारनय से [**मनोगुप्तिः कथिता**] मनोगुप्ति कहा है ।

टीका—यह व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है ।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से क्षुभित चित्त को कलुषता कहते हैं । दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से मोह दो प्रकार का है । आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह के भेद से संज्ञा के चार भेद हैं । प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से राग दो प्रकार का है । असह्यजनों में अथवा असह्यपदार्थों के समूह में वैर का परिणाम वह द्वेष है । इत्यादि अशुभ परिणाम के कारणों का परिहार ही व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति कहलाती है ।

---

१. मणगुत्ती (क) पाठान्तर

नपरिग्रहाणां भेदाच्चतुर्धा । रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः । असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः । इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिरिति ।

(वसंततिलका)

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-
चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य ।
बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य ।।९१।।

विशेषार्थ—गुप्ति का लक्षण है "सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः"[1] ख्याति, पूजा आदि की अपेक्षा से रहित सम्यक्प्रकार से मन, वचन और काय के योगों का निग्रह करना गुप्ति है। यद्यपि ये गुप्तियां निवृत्तिरूप हैं फिर भी आचार्यदेव स्वयं आगे निश्चयगुप्ति को गाथा ६९, ७० में कहेंगे। इसलिये यहां पर व्यवहारनय से गुप्ति का वर्णन करने से इस गुप्ति में अशुभभावों की निवृत्ति ही विवक्षित है क्योंकि गाथा में "असुहभावाणं" पद स्पष्ट कह रहा है कि अशुभभावों का परिहार मनोगुप्ति है। टीकाकार ने भी "इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव" वाक्य से जोर देकर कहा है कि इत्यादि अशुभपरिणामों के कारणों का परिहार ही मनोगुप्ति है, अतः यहां पर व्यवहारगुप्ति में 'पुण्यरूप शुभभावों का परिहार' अर्थ नहीं लेना चाहिए।

(९१) श्लोकार्थ—परमागम के अर्थ के चिंतवन में जिनका मन लगा हुआ है जो विजितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं और जो श्रीमान् जिनेंद्र भगवान् के चरणों को स्मरण करने में दत्तचित्त हैं ऐसे साधु के सदा मनोगुप्ति होती है ।।९१।।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ जितेन्द्रिय मुनि जब तत्त्व चिंता में तत्पर होते हैं और जिनेंद्र भगवान् की भक्ति में रत होते हैं तब उनके शुभ परिणामों से मन का शुभ व्यापार भी मनोगुप्ति कहलाता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, सू. ४, अ. ९।

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वयगुत्ती, अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥

स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः ।
परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥६७॥

स्त्रीकथा व राजकथा चोर का कथन ।
भोजनकथा इत्यादि पाप हेतु जो वचन ॥
परिहार करें इनका वचन गुप्ति पालते ।
या झूठ आदि वचनों को भी वे टालते ॥६७॥

इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् । अतिप्रवृद्धकामैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनितविविधवचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या च सैव स्त्रीकथा । राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः । चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम् । अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमंडकाघलीखण्डदधि खंडसिताशनपानप्रशंसा भक्तकथा । आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः । अन्येषां अप्रशस्तवचसां निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः इति ।

गाथा ६७

अन्वयार्थ—[**पापहेतोः**] पाप के कारणभूत [**स्त्रीराज चौर भक्त कथादिवचनस्य**] स्त्री कथा, राज कथा चोर कथा और भोजन कथा इत्यादिरूप वचनों का [**परिहारः**] त्याग करना [**वा अलीकादिनिवृत्तिवचनं**] अथवा असत्य आदिके अभाव रूप वचन बोलना [**वाग्गुप्तिः**] वचनगुप्ति है ।

टीका—यहां पर वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है ।

अतिशय वृद्धिगत हो रही है कामवासना जिनकी ऐसे कामीजनों के द्वारा स्त्रियों के संयोग अथवा वियोग से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की कथाओं की जो रचना है उसकी चर्चा करना या सुनना वही स्त्रीकथा है । राजाओं की युद्धहेतुक चर्चा राजकथा का प्रपंच है । चोरों के चौर्य कर्म की कथा-चर्चा चोर कथा है । अतिशय वृद्धिगत भोजन की प्रीति से पूड़ी, शक्कर, दही-शक्कर, मिश्री इत्यादि भोजन-पान की प्रशंसा करना भोजन कथा है । इन कथाओं के भी करने का त्याग करना वचन गुप्ति है

तथा चोक्तं श्री पूज्यपादस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

"एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम् ।
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदुरितध्वांतसंघातरूपः ॥९२॥

और असत्य वचनों से निवृत्त होना वचनगुप्ति है अथवा अन्य सभी अप्रशस्त वचनों का त्याग ही वचन गुप्ति है ।

इसीप्रकार से श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है—

श्लोकार्थ—इसप्रकार से बाह्य वचनों को त्याग कर परिपूर्णरूपसे अंतर्जल्प को भी छोड़े संक्षेप से यह योग-समाधि परमात्मा का प्रदीप है अर्थात् अंतर्बाह्य वचनों का त्याग ही संक्षेप से परमात्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान है [1]।"

विशेषार्थ—यहां वचन गुप्ति में भी विकथाओं के त्याग करने को और असत्य वचन के त्याग को गुप्ति कहा है । इसलिये यहां पर भी प्रशस्त सत्यवचन के त्याग को नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि यह भी व्यवहार वचन गुप्ति ही है । अशुभ वचनों से निवृत्ति मात्र ही यहां पर विवक्षित है ।

(९२) **श्लोकार्थ**—भव्यजीव भवभय को करनेवाली ऐसी समस्त वाणी को छोड़कर शुद्ध, एक, सहजप्रकाशमान, चिच्चमत्कार आत्मा का ध्यान करके पापरूपी अंधकार के समूह को नाश करने वाले ऐसे वे साधु सहज महिमा स्वरूप और आनंद की खान उस मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त कर लेते हैं ॥९२॥

---

१. समाधितंत्र ..... ।

बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती, णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ।।६८।।

बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि ।
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ।।६८।।

पर जीव का बंधन, व छेदन मारना आदि ।
निजतन को भी सिकोड़ना फैलावना आदि ।।
इन काय क्रियाओं का करने अभाव जो ।
उन साधु के ही निश्चित यह काय गुप्ति हो ।।६८।।

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम् । कस्यापि नरस्य तस्यान्तरंगनिमित्तं कर्म, बंधनस्य बहिरंगहेतुः कस्यापि कायव्यापारः । छेदनस्याप्यन्तरंगकारणं कर्मोदयः, बहिरंगकारणं प्रमत्तस्य कायक्रिया । मारणस्याप्यन्तरंगहेतुरांतर्यक्षयः, बहिरंगकारणं कस्यापि-

---

जितने भी वचन भव परंपरा को बढ़ाने वाले हैं, और अप्रशस्त हैं उन सबको छोड़कर शुद्धचैतन्य आत्मा का ध्यान करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

गाथा ६८

अन्वयार्थ—[**बंधन छेदन मारणा कुंचनानि**] बंधन, छेदन, मारण, संकोचन [**तथा प्रसारणादीनि**] उसीप्रकार फैलाना आदि [**काय क्रिया निवृत्तिः**] कायक्रियाओं का न होना [**कायगुप्तिरिति निर्दिष्टा**] वह कायगुप्ति इसप्रकार कही गई है ।

टीका—यहां काय गुप्ति के स्वरूप का कथन है ।

किसी भी मनुष्य को बंधन में उसका अंतरंग निमित्त कर्म का उदय है और उस बंधन में बहिरंगकारण किसी के काय का व्यापार है । छेदन में भी अंतरंग कारण कर्म का उदय है, बहिरंग कारण प्रमत्तजीव की कायक्रिया है । मारण में भी अंतरंग हेतु अंतरंग के आयुकर्म का क्षय होना है और बहिरंग कारण किसी के भी काय की विकृति है । आकुंचन और प्रसारण आदि में कारण संकोच-विस्तारादि निमित्तक समुद्घात है । इन कायक्रियाओं का अभाव होना कायगुप्ति है ।

कायविकृतिः । आकुंचनप्रसारणादिहेतुः संहरणविसर्पणादिहेतुसमुद्घातः । एतासां कायक्रियाणां निवृत्तिः कायगुप्तिरिति ।

(अनुष्टुभ्)

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः ।
संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ ॥९३॥

जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि[1] त मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्ति वा, मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥६९॥

या रागादिनिवृत्तिर्म्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम् ।
अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वाग्गुप्तिः ॥६९॥

विशेषार्थ—यहां कायगुप्ति में भी व्यवहारनय की प्रधानता होने से काय की अशुभ क्रियाओं के त्याग को ही विवक्षित किया है। इसलिये व्यवहारनयकी अपेक्षा से तीनों ही गुप्तियां अशुभयोग में निवृत्तिरूप होती हैं। ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये। आगे आचार्यवर्य स्वयं संपूर्ण शुभ-अशुभ योग के निग्रह को गुप्ति सिद्ध करते हुये निश्चयनयकी अपेक्षा से कह रहे हैं।

[अब टीकाकार श्लोक द्वारा कायगुप्ति के फल को बतलाते हैं—]

(९३) श्लोकार्थ—जो साधु काय के विकार को छोड़कर पुनः पुनः शुद्धात्मा की सम्यक्प्रकार से भावना करते हैं, इस संसार में उन्हींका जन्म सफल है ॥९३॥

अर्थात् यथाजात पद्मासन या खड्गासन मुद्रा से शरीरको स्थिर करना काय की गुप्तिरूप क्रिया है, इससे अतिरिक्त काय की किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति काय का विकार है, उसको छोड़कर अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, यहां पर इसप्रकार से काय गुप्ति के फल को सूचित किया है।

गाथा ६९

अन्वयार्थ—[**मनसः या रागादिनिवृत्तिः**] मन से जो रागादि परिणामों का अभाव है [**तां मनोगुप्तिं जानीहि**] तुम उसे मनोगुप्ति जानो, [**अलीकादिनिवृत्तिर्वा**]

---

१ जाणाहि (क) पाठान्तर।

रागादि भाव से जो मन दूर हटाते ।
उनके ही निश्चयनय मे मनगुप्ति बताते ।।
असत्य आदि मे सदा जो दूर रहे हैं ।
या मौन को धरें उसी वच गुप्ति कहे हैं ।।६६।।

निश्चयनयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम् । सकलमोहरागद्वेषाभावादखंडाद्वैतपरमचिद्रूपेसम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः । हे शिष्य त्वं तावदचलितां मनोगुप्तिमिति जानीहि । निखिलानृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रतं च । मूर्तद्रव्यस्य चेतनाभावाद् अमूर्तद्रव्यस्येंद्रियज्ञानागोचरत्वादुभयत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति । इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् ।

और असत्य वचन आदि का अभाव होना, **[मौनं वा वाग्गुप्तिः भवति]** अथवा मौन रहना वह वचनगुप्ति होती है ।

टीका—यह निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है । संपूर्ण मोह, राग और द्वेष का अभाव हो जाने से अखंड अद्वैत परम चैतन्य स्वरूप में सम्यक्-प्रकार से अवस्थित होना ही निश्चय मनोगुप्ति है । हे शिष्य ! तुम उस अचल अवस्था को 'मनोगुप्ति' इसप्रकार से जानो ।

संपूर्ण असत्य भाषा का त्याग होना अथवा मौनव्रत होना सो वचनगुप्ति है । क्योंकि मूर्तिकद्रव्य में चेतना का अभाव होने से और अमूर्तिक द्रव्य इंद्रियज्ञान के विषय नहीं होने से इन दोनों जगह वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इसप्रकार से निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है ।

विशेषार्थ—मन में पूर्णतया रागादि परिणामों का न होना ही निश्चय मनोगुप्ति है जो कि पूर्णरूप से ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में घटित होती है, उसके पूर्व श्रेणी में बुद्धिपूर्वक रागादि का अभाव होने से वहां पर भी घटित हो जाती है, क्योंकि यह गुप्ति आत्मा में एकाग्र ध्यान की परिणतिरूप है अतः अंशरूप से—या प्रारंभरूप से सातवें गुणस्थान में भी घटित हो सकती है । मौनव्रत को वचनगुप्ति कहते हुये आचार्यश्री का यह अभिप्राय है कि पुद्गलद्रव्य जो कि मूर्तिक है वह अचेतन है और चेतनद्रव्य अमूर्तिक होने से इंद्रियज्ञान के अगोचर हैं अतः किससे वचनालाप किया जाय ? इसलिये वचनप्रवृत्ति को रोकना निश्चयवाग्गुप्ति है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम् ।
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ॥९४॥

परिमित[1] काल तक संपूर्ण योग का निग्रह होना गुप्ति है। उस गुप्ति में असमर्थ हुये साधु की कुशल-शुभ कार्यों में जो प्रवृत्ति है वह समिति कहलाती है। "इसलिये मनो[2]गुप्ति में संपूर्ण मन संबंधी परिस्पंद का निषेध है"। ऐसे वचनगुप्ति में भी 'मौन को वचनगुप्ति' कहने पर उसमें संपूर्ण वचनों का अभाव हो जाता है। अतः यहां पर निश्चयगुप्ति में मन-वचन के परिस्पंदन का निषेध समझना चाहिये।

[अब टीकाकार इन दोनों निश्चयगुप्तियों के फल को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं—]

(९४) श्लोकार्थ—पापरूपी वन के लिये अग्निस्वरूप ऐसे योगितिलक प्रशस्त और अप्रशस्त मन-वचन के समूह को छोड़ करके आत्मस्वरूप में लीन हुये, शुद्ध और अशुद्ध नयों से रहित, निर्दोष, चिन्मात्र चिंतामणि को प्राप्त करके अनंतचतुष्टयात्मकरूप के साथ सदा रहने वाली ऐसी जीवन्मुक्त अर्हंत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं ॥९४॥

भावार्थ—निश्चय रत्नत्रय से परिणत हुए महामुनि प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के मन वचन के व्यापारों को छोड़कर नयातीत अवस्था को प्राप्त ऐसे शुद्धात्मतत्त्व में लीन होकर अर्हंत हो जाते हैं। यहां पर निश्चयगुप्ति में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के मन वचन के व्यापार को छुड़ाया गया है।

---

१. तत्त्वार्थ वार्तिक पृ. ५९४। २. तत्त्वार्थ. पृ. ५९५।

कायकिरियाणियत्ती, काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा, सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः ।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा ॥७०॥

सब काय की क्रिया का परिहार जो करें।
कायोत्सर्ग करके काय गुप्ति वे धरें ॥
अथवा जो हिंसा आदि क्रियाओं से दूर हैं ।
निश्चय से काय गुप्ती पाले वे शूर हैं ॥७०॥

निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । सर्वेषां जनानां कायेषु बह्व्यः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः स एव गुप्तिर्भवति । पंचस्थावराणां त्रसानां च हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा । परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा विवेश तस्यापरिस्पंदमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति ।

तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने—

गाथा ७०

अन्वयार्थ—[**[1]कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः**] काय की क्रियाओं के अभावरूप कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है, [**वा हिंसादिनिवृत्तिः शरीर गुप्तिः इति निर्दिष्टा**] अथवा हिंसादि पापों का अभाव होना भी कायगुप्ति है ऐसे कहा गया है ।

टीका—यह निश्चयकायगुप्ति के स्वरूप का कथन है ।

सभी जनों के कार्यों में बहुतसी क्रियायें होती हैं उन कायसंबंधी क्रियाओं का अभाव होना कायोत्सर्ग है, वही कायगुप्ति होती है । अथवा पांच स्थावर और एक त्रस ऐसे षट्कायिक जीवों की हिंसा का न करना कायगुप्ति है । जो परम संयमधारी परम जिनयोगीश्वर महामुनि अपने चैतन्यमय शरीर में अपने चैतन्यमय शरीर से प्रवेश कर चुके हैं, उनकी परिस्पन्दन रहित निश्चलमूर्ति ही निश्चयकाय गुप्ति है ।

इसीप्रकार तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में भी कहा है—

---

१. ये ६९वीं और ७० वीं गाथा मूला० में ११८७, ११८८ नंबर की हैं ।

(अनुष्टुभ्)

"उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम् ।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ।।"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः ।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ।।९५।।

घणघाइकम्मरहिया, केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा होंति ।।७१।।

घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति ।।७१।।

अर्थ—"काय की क्रियाओं को और भव के कारणस्वरूप भावों को छोड़ करके जो व्याकुलता रहित अपनी आत्मा में स्थित रहता है, वह कायोत्सर्ग कहलाता है।"

उसीप्रकार—[श्री टीकाकार निश्चयकायगुप्ति को प्राप्त करने का उपदेश देते हुए श्लोक कहते हैं—]

(९५) श्लोकार्थ—अपरिस्पंदनस्वरूप आत्मा का शरीर परिस्पंदस्वरूप है वह शरीर व्यवहारनय से मेरा है अतः मैं शरीर के विकार का त्याग करता हूं। अर्थात् आत्मा अविचलस्वरूपी है, यह परिस्पंदनरूप शरीर व्यवहारनय से ही मेरा है निश्चयनय से मेरा नहीं है, इसीलिए मैं इस शरीर की क्रियाओं को छोड़ रहा हूं। शरीर की क्रियाओं को छोड़कर शरीर से निर्मम होकर आत्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाना ही निश्चयकायगुप्ति है ।।९५।।

गाथा ७१

अन्वयार्थ—[**घनघातिकर्मरहिताः**] निबिड़ ऐसे चार घातिया कर्मों से रहित, [**केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः**] केवलज्ञान आदि परम गुणों से सहित

घन घातिकर्म घात के सर्वज्ञ हो गये ।
कैवल्य ज्ञान आदि परम गुण सहित भये ।।
चौंतीस अतिशयों से युक्त देव हमारे ।
ऐसे श्री अरिहंत हमें भव से उबारें ।।७१।।

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत् । आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि घनरूपाणि सान्द्रीभूतात्मकानि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ताः । प्रागुक्तघातिचतुष्कप्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शन-केवलशक्तिकेवलसुखसहिताश्च । निःस्वेदनिर्मलादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति ।

(मन्दाक्रान्ता)

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः ।

[चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता ईदृशा अर्हंतः भवंति] और चौंतीस अतिशयों से युक्त ऐसे अर्हंत भगवान् होते हैं ।

टीका—भगवान् अर्हंत परमेश्वर के स्वरूप का यह कथन है ।

आत्मा के गुणों के घात करने वाले कर्म घातिकर्म कहलाते हैं, गाढ़ सान्द्रीभूत-निविड़ को घनरूप कहते हैं, ऐसे ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहनीय ये चार कर्म हैं, अर्हंत भगवान इनसे रहित होते हैं । इन उपर्युक्त चार घातिया कर्मों के प्रध्वंस कर देने से प्राप्त, ऐसे तीनों लोकों में प्रक्षोभ-आश्चर्य के कारणभूत जो सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य और केवलसुख इन चार अनन्त चतुष्टयों से सहित हैं । और जो पसीना रहित, मलरहित आदि चौंतीस अतिशय गुणों के निवासगृह हैं ऐसे भगवान् अर्हंत परमेष्ठी होते हैं ।

[अब टीकाकार अर्हन्त के गुणों को लवमात्र वर्णन करते हुए पांच श्लोकों के द्वारा श्री पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति करते हैं—]

(९६) **श्लोकार्थ**—जिनका शरीर प्रसिद्धि को प्राप्त-परमौदारिक है, खिले हुये कमल के समान जिनके नेत्र हैं, जिनका गोत्र-तीर्थंकर पद अथवा गोत्र पुण्य का

मुनिजनवनगेहः कर्मवाहिन्यरिघ्नः
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥९६॥

(मालिनी)

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्निराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ।
स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः
पवनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥९७॥

(मालिनी)

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः ।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ॥९८॥

निवासगृह है, जो पंडितरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो मुनिजनरूपी वन-उद्यान के लिए चैत्रमास-वसंतऋतु के समान हैं, जो कर्मरूपी सेना के लिए शत्रु हैं और जिनका चारित्र सभी जीवों का हित करने वाला है, ऐसे श्री सुसीमा के सुपुत्र-पद्मप्रभ भगवान् जयशील होते हैं ॥९६॥

(९७) श्लोकार्थ—जो कामदेवरूपी हाथी के मद को नष्ट करने के लिए सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमल को विकसित करने के लिए दिवाकर हैं, जो सकलगुणों के समुदायरूप हैं, जो संपूर्ण कल्पित-इच्छित वस्तुओं को प्रदान करने के लिए कल्पवृक्ष हैं, जो दुष्टकर्मों के बीज नष्ट कर चुके हैं, जिनके चरणों में सुरेन्द्र नमन करते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का (आश्रय) त्याग कर दिया है ऐसे श्री पद्मप्रभ जिनराज जयशील हो रहे हैं ॥९७॥

(९८) श्लोकार्थ—जिन्होंने कामदेव के धनुष को जीत लिया है, जो संपूर्ण विद्याओं के प्रदीप-प्रकाशक हैं, जो सुखस्वरूप से परिणत हो रहे हैं, जो पाप को नाश करने के लिए यमराज स्वरूप हैं, संसार के संताप को जिन्होंने नष्ट कर दिया है,

(मालिनी)

जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायतक्षः
प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः
पदयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः ॥९९॥

(मालिनी)

मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥१००॥

जिनके श्रीचरणों में राजागण नमस्कार करते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है और जिनके निकट विद्वानों का समूह नत हो रहा है ऐसे वे श्री पद्मप्रभ भगवान् जयवंत हो रहे हैं ॥९८॥

(९९) **श्लोकार्थ**—जिन्होंने मोक्ष को जान लिया–प्राप्त कर लिया है, जिनके नेत्र कमलदल के समान विस्तृत हैं, जिन्होंने दुरितकक्ष–पापसमूह को जीत लिया है, जिन्होंने कामदेव के पक्ष को समाप्त कर दिया है, जिनके चरणयुगल में यक्षदेव नमन करते हैं, जो तत्त्वों के विज्ञान में दक्ष हैं, जिन्होंने विद्वान् जनों को शिक्षा दी है और जिन्होंने निर्वाणदीक्षा के स्वरूप को कहा है ऐसे श्रीजिनपद्मप्रभ भगवान् जयशील होते हैं ॥९९॥

(१००) **श्लोकार्थ**—जो कामदेवरूपी पर्वत के लिए सुरेन्द्र हैं अर्थात् जैसे इंद्र वज्र से पर्वत को फोड़ डालता है वैसे ही भगवान् कामदेव के मद को चूर चूर करने वाले हैं, जिनके शरीर के प्रदेश अतीव सुन्दर हैं, जिनके चरणों में संयमधारी मुनिवर विनत रहते हैं, जिन्होंने यमराज के जाल को समाप्त कर दिया है, जो दुष्ट पापरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्निस्वरूप हैं, जिन्होंने अपनी कीर्ति से संपूर्ण दिशाओं को व्याप्त कर दिया है, जो भुवन के अधीश हैं ऐसे सुन्दर पद्मप्रभस्वामी जयशील होते हैं, अथवा ऐसे सुन्दर पद्मप्रभमुनिराज के स्वामी श्रीपद्मप्रभ जिनेन्द्र जयवंत हो रहे हैं ॥१००॥

णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिया[1] परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

नष्टाष्टकर्मबन्धाः अष्टमहागुणसमन्विताः परमाः ।
लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति ॥७२॥

जिनने समस्त अष्ट कर्मबंध नाशिया ।
वर अष्ट महागुण समेत मुक्ति पा लिया ॥
जो नित्य हैं त्रिलोक शिखर पर विराजते ।
ऐसे वे सिद्ध उनको नमूं कर्म नाशते ॥७२॥

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार श्रीपद्मप्रभ मुनिराज ने अरिहंत भगवान् के लक्षण के अनन्तर बहुत ही मधुर शब्दों में पांच श्लोकों द्वारा श्री पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति की है । इसमें अनेकों गुणों के वर्णन के साथ-साथ मुनिराज ने 'पदांतवर्ण यमक' अलंकार के द्वारा प्रत्येक श्लोक में साहित्य रस को भर दिया है । प्रथम श्लोक में प्रत्येक पद के अंत में 'त्र' शब्द का प्रयोग है, द्वितीय श्लोक में सभी पदों के अंत में 'ज' शब्द का प्रयोग है, तृतीय श्लोक में सर्वत्र पदों में 'प' शब्द का प्रयोग है, चतुर्थ श्लोक के प्रत्येक पद में 'क्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है एवं पांचवें श्लोक के प्रत्येक पद के अन्त में 'श' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसप्रकार की रचना से टीकाकार की सर्वतोमुखी प्रतिभा का अवलोकन होता है ।

गाथा ७२

अन्वयार्थ—[**नष्टाष्टकर्मबन्धाः**] आठ कर्मों के बन्ध को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, [**अष्टमहागुणसमन्विताः**] जो आठ महागुणों से समन्वित हैं, [**परमाः**] परम हैं—सर्वश्रेष्ठ हैं, [**लोकाग्रस्थिताः**] लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं, और [**नित्याः**] नित्य हैं [**ईदृशास्ते सिद्धाः भवंति**] ऐसे वे सिद्ध भगवान् होते हैं ।

---

१. समणिया (क) पाठान्तर

भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां सिद्धपरमेष्ठिनां स्वरूपमत्रोक्तम् । निरवशेषेणान्तर्मुखाकारध्यानध्येयविकल्पविरहितनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन नष्टाष्टकर्मबंधाः । क्षायिकसम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्च । त्रितत्त्वस्वरूपेषु विशिष्टगुणाधारत्वात् परमाः । त्रिभुवनशिखरात्परतो गतिहेतोरभावात् लोकाग्रस्थिताः । व्यवहारतोऽभूतपूर्वपर्यायप्रच्यवनाभावान्नित्याः । ईदृशास्ते भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिन इति ।

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात् ।
सहजपरमचिच्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ।।१०१।।

टीका—सिद्धि की प्राप्ति के लिए परम्परा से कारणभूत ऐसे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का यहां कथन किया है ।

परिपूर्णरूप से अन्तर्मुखाकार ध्यान और ध्येय के विकल्प से रहित जो निश्चय परम शुक्लध्यान है उस ध्यान के बल से आठकर्मों के बन्ध समूह को जिन्होंने नष्ट कर दिया है । जो क्षायिक सम्यक्त्व, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठगुणों की पुष्टि से संतुष्ट हैं । तीन तत्त्व के स्वरूपों में विशिष्ट गुणों के आधारभूत होने से जो परम हैं अर्थात् बहिस्तत्त्व अन्तस्तत्त्व और परमात्म तत्त्व इन तीन तत्त्वों में से अनन्तगुणों के आधारभूत होने से श्रेष्ठ परमात्मतत्त्व स्वरूप हैं । तीनलोक के शिखर से ऊपर गति हेतुक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अग्रभाग (तनुवातवलय) में विराजमान हैं । व्यवहारनय से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय से प्रच्युत न होने से जो नित्य हैं—अविनाशी हैं । ऐसे वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी होते हैं ।

[अब टीकाकार श्रीपद्मप्रभ मुनिराज उभयनय की अपेक्षा सिद्धों के निवास स्थान को स्पष्ट करते हुए एक श्लोक कहते हैं, पुनः दो श्लोकों द्वारा उनके विशेष गुणों के स्मरणपूर्वक उन्हें नमस्कार करते हैं—]

(१०१) **श्लोकार्थ**—व्यवहारनय से ज्ञान के पुंजस्वरूप वे सिद्ध भगवान् त्रिभुवन शिखर की शिखा के चूड़ामणिस्वरूप हैं, निश्चयनय से वे ही देव सहजपरम

(स्रग्धरा)

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता वेहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्धयै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान् ।
सिद्धान् नष्टाष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधात्तमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धसीमन्तिनीशान् ॥१०२॥

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।
नष्टाष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः ॥१०३॥

पंचाचारसमग्गा, पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

पंचाचारसमग्राः पंचेन्द्रियदंतिदर्प्पनिर्दलनाः ।
धीरा गुणगंभीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति ॥७३॥

चैतन्य चिन्तामणिरूप नित्यशुद्ध अपने स्वरूप में ही निवास करते हैं ।

(१०२) **श्लोकार्थ**—जो उन संपूर्ण दोषों को समाप्त करके लोक के शिखर पर स्थित हैं और शरीर से मुक्त हैं, उन निरुपम, विशद ज्ञान, दर्शन, शक्ति से युक्त, आठों कर्मप्रकृतियों के समुदाय को नष्ट करने वाले, नित्यशुद्ध, अन्तरहित अथवा गणनारहित अनन्त, बाधाजन्य इंद्रियसुख से रहित—अव्याबाधसुखस्वरूप, त्रिभुवन के तिलक और मुक्तिकांता के पति, ऐसे संपूर्ण सिद्धों को मैं सिद्धपद की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूं ।

(१०३) **श्लोकार्थ**—अपने स्वरूप में स्थित, शुद्ध अष्टगुणों की संपत्ति को प्राप्त, अष्टकर्मसमूह को नष्ट करने वाले ऐसे सिद्धों को मैं पुनः पुनः वंदन करता हूं ।

गाथा ७३

अन्वयार्थ—[**पंचाचारसमग्राः**] पंचाचारों से परिपूर्ण [**पंचेन्द्रियदंतिदर्प-निर्दलनाः**] पांच इन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलन करने वाले, [**धीराः**] धीर

जो पांच आचारों का पूर्ण आचरण करें ।
पंचेन्द्रि हस्तियों के दर्प का दलन करें ॥
जो धीर गुणों से गंभीर संघ अधिपती ।
ऐसे श्री आचार्य हमें देवें सन्मती ॥७३॥

अत्राचार्यस्वरूपमुक्तम् । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्य्याभिधानैः पंचभिः आचारैः समग्राः । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियमदान्धसिंधुरदर्प्पनिर्दलनदक्षाः । निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगंभीराः । एवं लक्षणलक्षितास्ते भगवन्तो ह्याचार्य्या इति ।

तथा चोक्तं श्रीवादिराजदेवैः—

(शार्दूलविक्रीडित)

"पंचाचारपरानकिंचनपतीनश्यत्कषायाश्मान्
चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्
स्फाराचंचलयोगचंचुरधियः सूरीनुदंचद्गुणान्
अंचामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचुंचवः ॥"

[गुणगंभीराः] और गुणों से गंभीर [ईदृशाः] ऐसे [आचार्य्याः] आचार्य परमेष्ठी [भवंति] होते हैं ।

टीका—यहां आचार्य के स्वरूप को कहा है ।

जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार इन नाम वाले पांच आचारों से परिपूर्ण हैं, जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन नाम वाली पांच इंद्रियरूपी मदान्ध हाथी के गर्व को चूर करने में कुशल हैं, जो सकल घोर उपसर्गों के विजय से उपार्जित धीरता आदि गुणों से गंभीर हैं, इन लक्षणों से लक्षित वे आचार्य भगवान् होते हैं ।

श्रीवादिराजदेव ने भी इसी प्रकार कहा है—

श्लोकार्थ—"पंचाचार में तत्पर, अकिंचन–अपरिग्रह के स्वामी, कषायों के स्थानों को नष्ट करने वाले, शोभायमान ज्ञान के बल से महान् पंचास्तिकाय की स्थिति को विस्तृत करने वाले, वृद्धिगत निश्चलयोग में–ध्यान में कुशल वृद्धिवाले, उत्कर्षता

तथा हि—

(हरिणी)

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणम् ।
शमवमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरं
निरुपममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ।।१०४।।

रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया, उवज्झाया एरिसा होंति ।।७४।।

रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः ।
निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवन्ति ।।७४।।

को प्राप्त हुए गुणों से सहित ऐसे आचार्यों को भक्तिक्रिया में निपुण हम भवदुःखों के समूह को भेदन करने के लिए अर्चित करते हैं ।

उसीप्रकार मैं—[श्री टीकाकार मूरि के गुणों से विशिष्ट ऐसे श्रीचन्द्रकीर्ति मुनि की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१०४) **श्लोकार्थ**—समस्त इंद्रिय समुदाय के आलंबन से रहित, अनाकुल, स्वहित में निरत, शुद्ध, निर्वाण के कारण—भेदाभेदरत्नत्रय का कारण, कषायों का शमन, इंद्रियों का दमन, यम-त्याग का निवास स्थान मैत्री, दया और दम का घर ऐसा यह श्रीचन्द्रकीर्तिमुनिराज का उपमारहित मन वंदनीय है ।

भावार्थ—यहां पर टीकाकार ने गुरुदेव श्रीचन्द्रकीर्ति सूरि के निर्मलमन की वंदना की है । इससे स्पष्ट होता है कि ये मुनिराज इनके दीक्षागुरु हों या शिक्षा गुरु हों, गुरु अवश्य होंगे ।

गाथा ७४

अन्वयार्थ—[**रत्नत्रयसंयुक्ताः**] रत्नत्रय से संयुक्त, [**जिनकथित पदार्थ-देशकाः**] जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये पदार्थों के उपदेश करने वाले, [**शूराः**]

जो तीन रत्न से समेत नग्नवेष है ।
जिनराजकथित तत्त्वका दें सद्उपदेश हैं ।।
निष्कांक्षभावयुक्त वे ही शूर मुनि हैं ।
ऐसे वे उपाध्याय सुविद्या के धनी हैं ।।७४।।

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपाख्यानमेतद् । अविचलिताखंडाद्वैतपरमचिद्रूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभावरत्नत्रयसंयुक्ताः । जिनेंद्रवदनारविंदविनिर्गतजीवादिसमस्तपदार्थसार्थोपदेशशूराः । निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नपरमवीतरागसुखामृतपानोन्मुखास्तत एव निष्कांक्षाभावनासनाथाः । एवंभूतलक्षणलक्षितास्ते जैनानामुपाध्याया इति ।

(अनुष्टुभ्)

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान् ।
उपदेष्टॄनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ।।१०५।।

शूर, [**निःकांक्षभावसहिताः**] निःकांक्षितभाव से सहित, [**ईदृशा उपाध्याया भवंति**] ऐसे उपाध्याय होते हैं ।

टीका—अध्यापक नामक परमगुरु के स्वरूप का यह कथन है ।

अविचलित, अखंड, अद्वैत, परम चैतन्यस्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चयस्वभाव रत्नत्रय से जो सहित हैं । जिनेन्द्रभगवान् के मुख कमल से निकले हुए जो जीवादिपदार्थों के समूह, उसके उपदेश में जो शूर हैं । संपूर्ण परिग्रह के परित्यागलक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न हुआ जो परम वीतरागसुखरूप अमृत; उसका पान करने वाले हैं और इसीलिये निष्कांक्ष भावना से सहित हैं । जो इन उपर्युक्त लक्षणों से लक्षित होते हैं वे जैनों के उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं ।

[अब टीकाकार उपाध्याय परमेष्ठी की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१०५) श्लोकार्थ—जो रत्नत्रयमय हैं, शुद्ध हैं, भव्यजनरूपी कमलों के लिये दिवाकर हैं, उपदेश देने वाले हैं ऐसे उपाध्याय गुरुवों को मैं नित्य ही पुनः पुनः वंदन करता हूं ।

ववारविप्पमुक्का, [1]चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा, साहू दे एरिसा होंति ।।७५।।

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः ।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति ।।७५।।

जो साधु सकल बाह्य के व्यापार से रहित ।
जो चार विध आराधना में लीन रहें नित ।।
निर्ग्रन्थ व निर्मोह यथा जातरूपधर ।
ऐसे सभी साधू को नमूं शीश झुकाकर ।।७५।।

निरन्तराखंडितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपाख्यानमेतत् । ये महान्तः परमसंयमिनः त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमपंचमभावभावनापरिणताः अत एव समस्त-बाह्यव्यापारविप्रमुक्ताः । ज्ञानदर्शनचारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासदानु-

---

गाथा ७५

अन्वयार्थ—[**व्यापारविप्रमुक्ताः**] व्यापार—बाह्यव्यापार से रहित हैं, [**चतुर्विधाराधनासदारक्तः**] चारप्रकार की आराधनाओं में हमेशा लग्न हुये हैं, [**निर्ग्रंथाः निर्मोहाः**] निर्ग्रंथ और निर्मोह हैं [**एतादृशाः साधवः भवंति**] ऐसे साधुगण होते हैं ।

टीका—निरंतर अखंडित परम तपश्चरण में निरत सर्व साधु के स्वरूप का यह कथन है ।

जो महान परमसंयमी त्रिकाल निरावरण निरंजन परम पारिणामिकभाव की भावना से परिणत हैं, इसलिये समस्त बाह्यव्यापार—बाह्यक्रियाओं से रहित हैं, ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना और परम तपश्चरणआराधना नामकी चार आराधनाओं में सदा अनुरक्त हैं, बाह्य और अभ्यन्तर समस्त परिग्रह के आग्रह से

---

१. चोविहार (क) पाठान्तर ।

रक्ताः । बाह्याभ्यन्तरसमस्तपरिग्रहाग्रहविनिर्मुक्तत्वान्निर्ग्रन्थाः । सदा निरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानाचरण प्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राभावान्निर्मोहाः च । इत्थंभूतपरमनिर्वाणसीमंतिनीचारुसीमंतसीमाशोभामसृणघसृणरजःपुंजपिंजरितवर्णालंकारावलोकनकौतूहलबुद्धयोऽपि ते सर्वेपि साधवः इति ।

विनिर्मुक्त होने से जो निर्ग्रन्थ हैं । और सदा निरंजन निजकारण समयसार के स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, परिज्ञान और आचरण, उसके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के अभाव हो जाने से जो निर्मोह—मोहकर्मरहित हैं । इसप्रकार के परम मोक्षरूपी स्त्री की सुन्दर मांग की शोभारूप स्निग्ध केशर के रजकणों से सुवर्ण-सदृश पीले रंग वाले अलंकार के अवलोकन में कुतूहल बुद्धि वाले होते हुए भी वे सभी साधु कहलाते हैं ।

विशेषार्थ—पंचमभावरूप पारिणामिकभाव की भावना में आत्मा का स्वरूप त्रिकाल निरावरण निरंजन है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से जीव द्रव्य त्रिकाल में भी आवरण से रहित होने से निरंजन है, शुद्ध है इस दृष्टि से त्रिकाल निरावरण का अर्थ लेना चाहिए । साधुजन शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के स्वरूप को सदा ही आवरण रहित भाते हैं और लौकिक क्रियाओं से शून्य होने से सकल व्यापार से विमुक्त रहते हैं चार आराधनाओं में लीन रहते हैं । दश प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ हैं । यद्यपि यहां ये निर्ग्रन्थ अवस्था बारहवें गुणस्थान में घटित होती है फिर भी जो छठे—सातवें गुणस्थान के योग्य उभय परिग्रह से रहित होने से यहां पर भी निर्ग्रंथ कहलाते हैं अथवा भावी नैगमनय की अपेक्षा सभी दिगम्बर साधु निर्ग्रंथ कहलाते हैं । निरंजन निजकारणसमयसार शब्द से—शुद्धनिश्चयनय से भी आत्मा का स्वभाव निरंजन है ऐसा निश्चय करके जो भेदरत्नत्रय के बल से अभेदरत्नत्रयस्वरूप—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परिणत अवस्था है उसीका नाम कारणसमयसार है क्योंकि वही कारण, कार्यसमयसार—अनंतचतुष्टय की व्यक्ति-रूप से परिणत होता है । निष्कर्ष यह निकला कि जो शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना से सहित, बाह्यप्रपंचों से रहित, चार आराधनाओं की आराधना करने वाले हैं, निर्ग्रंथ हैं निर्मोही हैं । वे, जिसकी सुन्दर केशर से मांग भरी हुई है ऐसी निर्वाणसुन्दरी का अवलोकन करने वाले हैं, फिर भी वे साधु हैं । यहां विरोधाभास भी है, जो स्त्री के रूप

(आर्या)

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबंधात् ।
मंक्षु विमंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः ॥१०६॥

एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

ईदृग्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्रम् ।
निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥७६॥

इस विध से जो तेरह प्रकार चरित हैं सही ।
श्री पंचगुरु भक्ति की भी भावना कही ॥
व्यवहार नय से होता चारित्र है यही ।
आगे कहूंगा चारित जो निश्चयनय से हो ॥७६॥

का अवलोकन करते हैं वे साधु नहीं कहे जा सकते हैं किन्तु फिर भी ये साधु कहलाते हैं। मतलब सर्वकर्मरहित जो मुक्त अवस्था है उसकी प्राप्ति की तरफ जिनका उपयोग लगा हुआ है। ऐसे वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

[अब टीकाकार मुनिराज साधुपरमेष्ठी की वंदना करते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(१०६) श्लोकार्थ—जो संसारी जीवों के संसार के सुख से विमुख है और सर्व संग के सम्बन्ध से रहित है वह साधु का मन हम सभी के लिए वंदनीय है। हे साधो ! आप उस मन को शीघ्र ही अपनी आत्मा में निमग्न करो ॥१०६॥

गाथा ७६

अन्वयार्थ—[**ईदृग्भावनायां**] ऐसी पूर्वोक्त भावना के होने पर [**व्यवहार-नयस्य**] व्यवहारनय का [**चारित्रं भवति**] चारित्र होता है। [**एतदूर्ध्वं**] इसके आगे [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनय के [**चारित्रं**] चारित्र को [**प्रवक्ष्यामि**] कहूंगा।

व्यवहारचारित्राधिकारव्याख्यानोपसंहारनिश्चयचारित्रसूचनोपन्यासोऽयम् । इत्थंभूतायां प्रगुप्तपंचमहाव्रतपंचसमितिनिश्चयव्यवहारत्रिगुप्तिपंचपरमेष्ठिध्यानसंयुक्तायाम् अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परमचारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपंचमाधिकारे परमपंचमभावनिरतपंचमगतिहेतुभूतशुद्धनिश्चयनयात्मपरमचारित्रं द्रष्टव्यं भवतीति ।

तथा चोक्तं मार्गप्रकाशे—

(वंशस्थ)

"कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं
भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम् ।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं
नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः ।।"

टीका—यह व्यवहार चारित्राधिकार के व्याख्यान का उपसंहार और निश्चयचारित्र की सूचना का कथन है ।

इसप्रकार से पूर्व में कथित पांचमहाव्रत, पांचसमिति, निश्चय–व्यवहार-रूप तीनगुप्ति तथा पांचपरमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त अतिप्रशस्त शुभ भावना के होने पर व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र होता है । अब आगे कहे जाने वाले पांचवें अधिकार में परम पंचमभाव–पारिणामिक भाव में लीन और पंचमगति के लिये कारणभूत ऐसे शुद्धनिश्चयनयस्वरूप परम चारित्र को देखना चाहिए, ऐसा कथन है ।

इसीप्रकार मार्गप्रकाश में कहा है—

श्लोकार्थ—"जिसके बिना–जिस चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों कोठार में रखे हुये बीज के सदृश हैं, सुर–असुर और मनुष्यों के द्वारा स्तुति को प्राप्त और जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित उसी चारित्र को मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूं ।"

भावार्थ—चारित्र के बिना सम्यक्त्व और ज्ञान गोदाम के बीज के समान हैं। चारित्र के द्वारा वे अंकुरित होकर मुक्तिरूपी फलरूप से फलित हो जाते हैं अर्थात् चारित्र से सहित हुये ये दर्शनज्ञान मुक्ति को प्राप्त करा देते हैं ।

तथा हि—

(आर्या)

शीलमपवर्गयोषिदनंगसुखस्यापि मूलमाचार्याः ।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः ॥१०७॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ व्यवहारचारित्राधिकारः चतुर्थः श्रुतस्कन्धः ॥

उसीप्रकार से— [टीकाकार श्री पद्मप्रभमुनिराज व्यवहारचारित्र की सफलता को सूचित करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१०७) श्लोकार्थ—आचार्यवर्य, शील—निश्चयचारित्र को मुक्तिरमणी के अतीन्द्रिय सुख का भी मूल कारण कहते हैं, और व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परंपराकारण है। अर्थात् व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र के लिये कारण है और निश्चयचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है, इसलिये व्यवहारचारित्र मोक्ष के लिये परम्पराकारण है।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए सूर्य, पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित, शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्या—टीका में व्यवहार चारित्राधिकार नामक चौथा श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

❀ व्यवहारचारित्र अधिकार समाप्त ❀

[५]

परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै ।
विनेयपंकेजविकासभानवे
विराजते माधवसेनसूरये ॥१०८॥

अथ सकलव्यावहारिकचारित्रतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरमचारित्रप्रतिपादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते । तत्रादौ तावत् पंचरत्नस्वरूपमुच्यते । तद्यथा—

[पंचम अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार श्रीपद्मप्रभमुनिराज श्रीमाधवसेनाचार्य को नमस्कार करते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(१०८) **श्लोकार्थ**—संयम और ज्ञान की मूर्तिस्वरूप, कामदेवरूपी हाथी के गण्डस्थल को विदारण करने वाले, और शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिये भास्करस्वरूप, शोभायमान जो माधवसेनसूरि हैं उन्हें मेरा नमोऽस्तु होवे ॥१०८॥

अब सकलव्यवहारचारित्र और फल की प्राप्ति के प्रतिपक्षभूत शुद्धनिश्चयनयात्मक परमचारित्र के प्रतिपादन में परायण ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमण के अधिकार को कहते हैं । उसमें सबसे प्रथम 'पंचरत्न' के स्वरूप को कहते हैं । वह इसप्रकार हैं—

अथ पंचरत्नावतारः ।

णाहं णारयभावो, तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७७।।
णाहं मग्गणठाणो, णाहं [1]गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७८।।
णाहं बालो बुड्ढो, ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ।।७९।।
णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ।।८०।।
णाहं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ।।८१।।

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।।७७।।

अब पांचरत्नों का अवतार होता है—

गाथा ७७ से ८१

अन्वयार्थ—[**अहं**] मैं [**नारकभावः तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः न**] नारक पर्याय, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्यायरूप नहीं हूं, [**कर्ता न हि कारयिता**] मैं उनका कर्ता नहीं हूं, कराने वाला नहीं हूं और [**कर्तृणां अनुमंता न एव**] करने वालों का अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूं ।

[**अहं मार्गणास्थानानि न**] मैं मार्गणास्थानरूप नहीं हूं, [**अहं गुणस्थानानि वा जीवस्थानानि न**] मैं गुणस्थानरूप अथवा जीवसमासरूप नहीं हूं, [**कर्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव**] मैं उनका करने वाला, कराने वाला और करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूं ।

---

१. गुणठाण तहेव जीवठाणाणि (क) पाठान्तर ।

नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि च ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।।७८।।

नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।।७९।।

नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।।८०।।

नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ।।८१।।

शंभु छंद

मैं नहीं नारकी नहिं तिर्यक् नहिं मनुज नहीं हूं देव कभी ।
नहिं इन पर्यायों का कर्ता नहिं इन्हें कराने वाला भी ।।
नहिं इनके करने वालों का अनुमोदन करने वाला हूं ।
मैं तो निश्चय से चिन्मूरत निजतनु से भिन्न निराला हूं ।।७७।।

मैं गति आदिक मार्गणा नहीं, नहिं गुणस्थान परिणामी हूं ।
नहिं चौदह जीवसमासरूप स्थानों का अनुगामी हूं ।।
मैं नहिं इन सबका कर्ता हूं और नहीं कराने वाला हूं ।
नहिं अनुमोदन कर्ता इनका मैं निजरस पीने वाला हूं ।।७८।।

[**अहं बालः वृद्धः न**] मैं बालक नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं, [**तरुणः एव च न**] और तरुण भी नहीं हूं [**न तेषां कारणं**] उनका कारण भी नहीं हूं । [**कर्ता नहि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव**] मैं उनका करने वाला नहीं हूं, कराने वाला भी नहीं हूं और करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूं ।

[**अहं रागः द्वेषः न**] मैं रागरूप नहीं हूं, द्वेषरूप नहीं हूं [**न च मोहः एव**] और मोहरूप भी नहीं हूं, [**न तेषां कारणं**] उनका कारण भी नहीं हूं । [**कर्ता नहि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव**] उनका करने वाला, कराने वाला और करते हुये की अनुमोदना करने वाला मैं नहीं हूं ।

मैं बालक नहिं मैं वृद्ध नहीं मैं नहीं तरुण हूं इस जग में।
नहिं इनका कारण हो सकता यह सब पुद्गल के रूप बने ॥
नहिं इन पर्यायों का कर्ता, नहिं कभी कराने वाला हूं।
नहिं इनका अनुमोदन कर्ता मैं सबसे भिन्न निराला हूं ॥७६॥
मैं राग नहीं मैं द्वेष नहीं मैं मोह नहीं निश्चयनय से।
मैं इनका कारण भी नहिं हूं ये होते हैं कर्मोदय से ॥
मैं नहिं इनका कर्ता सच में नहिं कभी कराने वाला हूं।
नहिं इनका अनुमोदन कर्ता, सुख शांति सुधारस वाला हूं ॥८०॥
मैं क्रोध नहीं मैं मान नहीं मैं नहिं माया मैं लोभ नहीं।
नहिं इनका कर्ता नहीं कराने वाला नहीं अनुमोदक ही ॥
ये सब कर्मोदय से होते और कर्म नहीं मेरे कुछ भी।
मैं निश्चयनय से पूर्ण शुद्ध नहिं किंचित् हुआ अशुद्ध कभी ॥८१॥

अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति। बह्वारंभपरिग्रहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि। संसारिणो जीवस्य बह्वारंभपरिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारकायुष्कहेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य। तिर्यक्पर्यायप्रायोग्यमायामिश्राशुभकर्माभावात्सदा तिर्यक्-

[अहं क्रोधः मानः न] मैं क्रोधरूप नहीं हूं मानरूप नहीं हूं, [अहं माया च एव लोभः न भवामि] मैं मायारूप नहीं हूं और मैं लोभरूप भी नहीं हूं, [कर्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव] मैं इनका करने वाला, कराने वाला और करते हुए को अनुमोदना देने वाला भी नहीं हूं।

टीका—यहां शुद्ध आत्मा के संपूर्ण कर्तृत्व का अभाव दिखलाते हैं।

बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के अभाव से मैं नारकपर्यायरूप नहीं होता हूं। संसारी जीव के व्यवहारनय से बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होता है, अतएव उस संसारी जीव के नरक आयु के लिए कारणभूत संपूर्ण मोह, राग और द्वेष विद्यमान हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकायस्वरूप मेरे में वे नहीं हैं। तिर्यंचपर्याय के योग्य माया से मिश्रित अशुभकर्म के अभाव से मैं सदा तिर्यंचपर्याय के कर्तृत्व से

पर्यायकर्तृत्वविहीनोऽहम् । मनुष्यनामकर्मप्रायोग्यद्रव्यभावकर्माभावान्न मे मनुष्यपर्यायः शुद्धनिश्चयतो समस्तीति । निश्चयेन देवनामधेयाधारदेवपर्याययोग्यसुरससुगन्धस्वभावात्मकपुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावान्न मे देवपर्यायः इति । चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते । मनुष्यतिर्यक्पर्यायकायवयःकृतविकारसमुपजनितबालयौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेकस्थूलकृशविविधभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति । सत्तावबोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वग्राहकशुद्ध द्रव्यार्थिकनयबलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते । सहजनिश्चयनयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्य सहजदृक्स्फूर्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथा-

---

रहित हूं । मनुष्यनामकर्म के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म के अभाव से शुद्धनिश्चयनय से मेरे मनुष्यपर्याय नहीं है । निश्चयनय से देवनाम के लिए आधारभूत ऐसी देवपर्याय के योग्य सुरस और सुगन्धित स्वभाव वाले पुद्गलद्रव्य के सम्बन्ध का अभाव होने से मेरे देवपर्याय नहीं है ।

चौदह भेद सहित मार्गणास्थान और उसीप्रकार–चौदह भेद सहित जीव समास अथवा चौदह भेद सहित गुणस्थान शुद्धनिश्चयनय से परमभाव स्वभाव वाले ऐसे मुझ में नहीं हैं ।

मनुष्य और तिर्यंचपर्याय के शरीर में उम्र के निमित्त से किये गये विकार रूप से उत्पन्न हुई बाल अवस्था, यौवन अवस्था, स्थविर अवस्था और वृद्धावस्था आदि तथा अनेक स्थूल और कृश से होने वाले विविध भेद, शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मुझमें नहीं है ।

सत्ता, ज्ञान, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन, विशिष्ट आत्मतत्त्व को ग्रहण करने वाला जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है उस नय के बल से मेरे में सकल मोह, राग और द्वेष नहीं हैं ।

सहज निश्चयनय से सदा निरावरणरूप, शुद्धज्ञानस्वरूप, सहजचैतन्यशक्तिमय, सहजदर्शन के स्फुरायमान से परिपूर्ण मूर्तिस्वरूप और स्वरूप में अविचल स्थिति

ख्यातचारित्रस्य मे निखिलसंसृतिक्लेशहेतवः क्रोधमानमायालोभाः स्युः । अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमंता वा कर्तृणां पुद्गलकर्मणामिति । नाहं नारकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये । नाहं तिर्यक्पर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये । नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये । नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये । नाहं चतुर्दशमार्गणास्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये । नाहं मिथ्यादृष्टयादिगुणस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये । नाहमेकेन्द्रियादिजीवस्थानभेदं कुर्वे, सहज-

---

रूप सहज यथाख्यात चारित्रवाले ऐसे मेरे में सकल संसार के क्लेश के कारणभूत ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हैं ।

अब इन विविधविकल्पों-भेदों से व्याप्त सभी विभाव पर्यायों का निश्चयनय से मैं करने वाला नहीं हूं, कराने वाला नहीं हूं और करने वाले पुद्गल कर्मों का मैं अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूं ।

मैं नरकपर्याय को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासरूप अपनी आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूं । मैं तिर्यंचपर्याय को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासरूप आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से चिंतवन करता हूं । मैं मनुष्य पर्याय को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही मैं सम्यक्चिंतवन करता हूं । देवपर्याय को मैं नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप ऐसी आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से चिंतवन करता हूं ।

मैं चौदह मार्गणास्थान के भेदों को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से चिंतवन करता हूं । मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान के भेदों को करने वाला नहीं हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूं । मैं एकेन्द्रिय आदि चौदह जीवसमास के भेदों को करने वाला नहीं हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूं ।

चिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। नाहं भावकर्मात्मकषायचतुष्कं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिंतये। इति पंचरत्नांचितोपन्यासप्रपंचनसकलविभावपर्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति।

मैं शरीर में होने वाली बाल्य आदि अवस्थाओं के भेदों को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक् अनुभव करता हूं। मैं रागादि भावस्वरूप भावकर्मों के भेदों को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से चिंतवन करता हूं। मैं भावकर्मस्वरूप चार कषायों को नहीं करता हूं, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप अपनी आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से चिंतवन करता हूं। (जैसे यहां कर्ता के विषय में घटित किया है वैसे ही कारयिता और अनुमोदनकर्ता के सम्बन्ध में भी घटित कर लेना चाहिए।)

इसप्रकार से पंचरत्न से शोभित कथन के विस्तार से संपूर्ण विभावपर्यायों के संन्यास-त्याग के विधान का कथन किया गया है।

भावार्थ—यहां आचार्यों का कहना है कि यद्यपि संसारी जीवों के संसार अवस्था में नरनारकादि पर्यायें तथा गुणस्थानादि परिणाम और रागादि विभाव भाव विद्यमान हैं फिर भी शुद्धनिश्चयनय से ये कुछ भी जीव में नहीं हैं इसलिए यह चिंतवन करना चाहिए कि शुद्धनिश्चयनय से मैं इन नरनारकादि पर्यायों का विभाव भाव आदि का न कर्ता हूं, न कराने वाला हूं और न ही अनुमति देने वाला हूं। मैं तो केवल चिच्चैतन्यस्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करने वाला हूं। इसप्रकार की भावना भाते-भाते ही एक दिन ऐसा आयेगा कि उस आत्मस्वरूप में पूर्णतन्मयता हो जावेगी और तभी मोहनीय कर्म का नाश होकर आत्मा में ज्ञान सूर्य का प्रकाश प्रगट हो जावेगा। इसलिए जब तक आत्मस्वरूप में पूर्णस्थिरता नहीं आती है तब तक यह भावना भाते ही रहना चाहिए।

[अब टीकाकार श्रीमुनिराज इन पांचरत्नों का मूल्यांकन करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(वसंततिलका)

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः ।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात् ।।१०९।।

एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं ।
तं दढकरणणिमित्तं, पाडिक्कमणादी[1] पवक्खामि ।।८२।।

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम् ।
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि ।।८२।।

इस विध से स्वपर भेद का जब, अभ्यास जीव कर पाता है ।
मध्यस्थ हुआ तब पूर्णतया, निज समरस अनुभव पाता है ।।
उससे जो चारित होता है वह वीतराग कहलाता है ।
उसके दृढ करने हेतु प्रतिक्रमणादि कहा यह जाता है ।।८२।।

(१०९) **श्लोकार्थ**—जो समस्त विषयों के आग्रह की चिन्ता से मुक्त हैं, द्रव्य गुणपर्यायात्मक अपने आत्मस्वरूप में जिन्होंने चित्त को लगाया है, वे भव्य जीव अपने स्वभाव से भिन्न सम्पूर्ण विभावों को छोड़करके इन पंचरत्नों के निमित्त से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—टीकाकार श्री मुनिराज ने भेदविज्ञान की भावनास्वरूप पूर्वोक्त पांच गाथाओं को पंचरत्न की संज्ञा दी है । क्योंकि इन पांच गाथा कथित भेदविज्ञान के द्वारा ही मुनिराज संपूर्ण विषय कषायों की चिन्ता से छूट सकते हैं और अपनी आत्मा में अपने आपको स्थिर कर सकते हैं । इसलिये जो भव्य इन पंचरत्न को ग्रहण करते हैं वे तीन लोक के साम्राज्य को हस्तगत कर लेते हैं ।

गाथा ८२

अन्वयार्थ—[**ईदृग्भेदाभ्यासे**] इसप्रकार के भेद का अभ्यास हो जाने पर [**मध्यस्थो भवति**] जीव मध्यस्थ होता है, [**तेन चारित्रं**] इसलिए चारित्र होता है ।

---

१. पडिक्कमणादि (क) पाठान्तर

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण निश्चयचारित्रं भवतीत्युक्तम् । पूर्वोक्तपंचरत्नांचितार्थपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां वास्तवं चारित्रं भवति । तस्य चारित्राविचलस्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिनिश्चयक्रिया निगद्यते । अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनां संभवश्चोक्तः इति ।

[**तद्दृढीकरणनिमित्तं**] उस चारित्र को दृढ़ करने में निमित्तभूत [**प्रतिक्रमणादि**] प्रतिक्रमण आदि को [**प्रवक्ष्यामि**] मैं कहूंगा ।

टीका—यहां भेदविज्ञान से क्रम से **निश्चयचारित्र** होता है ऐसा कहा है ।

पूर्वोक्त पंचरत्न से सुशोभित पदार्थों के ज्ञान से पंचमगतिरूप सिद्धगति के लिए कारणभूत ऐसा जीव और कर्मपुद्गल में भेद का अभ्यास हो जाने पर, उसी-भेद के अभ्यास में ही जो मुमुक्षु-महामुनि हमेशा संस्थित रहते हैं वे इसी हेतु से सतत भेदाभ्यास से मध्यस्थ होते हैं, और इसकारण से उन परमसंयमी मुनियों के निश्चय-चारित्र होता है । उस चारित्र में अविचलस्थिति के लिए प्रतिक्रमण आदि निश्चय-क्रियाओं को कहते हैं । अतीतकाल के दोषों का परिहार करने के लिये जो प्रायश्चित्त किया जाता है वह प्रतिक्रमण है । आदि शब्द से प्रत्याख्यान आलोचना आदि भी होते हैं ऐसा कहा गया है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त पंचरत्नस्वरूप पांच गाथाओं के मनन से जीव और पौद्गलिक कर्मों का भेद मालूम होता है । उस भेदविज्ञान के दृढ़तर अभ्यास से महा-मुनि संपूर्ण संकल्प, विकल्प से रहित वीतराग अवस्था को प्राप्त होकर अपने आत्म स्वरूप के ध्यान में तन्मय हो जाते हैं उस समय उन मुनियों के रत्नत्रय की एकाग्र परिणतिरूप निश्चय चारित्र होता है । उस अवस्था में ही निश्चय प्रतिक्रमण आदि क्रियायें घटित होती हैं । इसलिये निश्चयचारित्र में निश्चल स्थिर होने के लिये ही आचार्यदेव इन निश्चय क्रियाओं को बताते हैं । आदि शब्द से जो यहां प्रत्याख्यान आदि की सूचना की है उसको स्वयं श्री भगवान् कुंदकुंददेव के आगे छठे-सातवें आदि अधिकारों में निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चयआलोचना आदि का वर्णन किया है ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

तथा हि—

(मालिनी)

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः ।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहःकलंकः
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥११०॥

इस भेदविज्ञान के विषय में श्रीमान् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—'निश्चितरूप से जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं, और निश्चितरूप से जो कोई भी बंधे हुये हैं वे सभी जीव भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हुए हैं'।[1]

उसीप्रकार—[टीकाकार श्री मुनिराज भेदविज्ञान की महिमा के विषय में आश्चर्य प्रगट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(११०) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार से मुनिनाथ को उत्कृष्टरूप से भेदविज्ञान के हो जाने पर स्वयं यह (भेदविज्ञान) उपयोग से मोहरहित होता हुआ शोभायमान होता है, शमसमुद्र के प्रवाह से धो डाला है पापरूपी कलंक को जिसने, ऐसा जो भेद है वह निश्चित ही इस समयसार का कोई एक भेद है। अर्थात् वह भेदविज्ञान समयसार का कोई एक अद्भुत चमत्कारी भेद है।

भावार्थ—जिससमय महामुनि भेदविज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करते हैं उससमय उनके उपयोग में मोहभाव नहीं रहता है, यद्यपि मोहनीय कर्म का बंध और उदय दशवें गुणस्थान तक तथा सत्व ग्यारहवें गुणस्थान तक

---

१. समयसार कलश १३१।

मोत्तूणवयणरयणं, रागदो[1] भाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥८३॥

मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ॥८३॥

जो प्रतिक्रमण का पाठ वचन रचनामय उसको तज करके ।
रागादि भाव को छोड़ सर्वविध निर्विकल्प मन बन करके ॥
निज आत्मा को नित ध्याते हैं अतिशय एकाग्रचित्त करके ।
यह प्रतिक्रमण निश्चयसंज्ञक उनके होता है निश्चय से ॥८३॥

दैनं दैनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाङ्मयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षयहेतुभूत-सूत्रसमुदयनिरासोयम् । यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य

विद्यमान है फिर भी उपयोग में मोह के न रहने से वह भेदज्ञान कषायों की उपशमनारूप सागर के जल प्रवाह से पापरूपी पंक को धोकर स्वच्छ हो जाता है । यह भेद विज्ञानरूप परिणाम-समयसार का ही कोई एक अद्भुत प्रकार है । ऐसा समझना ।

गाथा ८३

अन्वयार्थ—[**वचनरचनां मुक्त्वा**] वचनरचनारूप प्रतिक्रमण को छोड़कर, [**रागादिभाववारणं कृत्वा**] रागादि भावों का निवारण करके [**यः**] जो साधु [**आत्मानं ध्यायति**] आत्मा को ध्याता है [**तस्य तु**] उसके [**प्रतिक्रमणं भवति इति**] प्रतिक्रमण होता है ।

टीका—प्रतिदिन मुमुक्षु जनों के द्वारा उच्चारण किये जाने वाला जो वचनमय प्रतिक्रमण इस नाम वाला है जो संपूर्ण पापों के क्षय करने में कारणभूत सूत्रों का समुदाय है, उसका यह निरास है अर्थात् उस वचनरचनारूप प्रतिक्रमण का यहां पर निराकरण किया गया है ।

जो परमतपश्चरण के कारणभूत सहज वैराग्यरूपी अमृत समुद्र के लिए पूर्णिमासी के पूर्ण चन्द्रमा हैं और जो अप्रशस्त वचनों की रचना से सर्वतः मुक्त होते

---

१. रागादि (क) पाठान्तर

राकानिशीथिनीनाथः अप्रशस्तवचनरचनापरिमुक्तोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रविषयवचनरचनां मुक्त्वा संसारलतामूलकंदानां निखिलमोहरागद्वेषभावनां निवारणं कृत्वाऽखण्डानंदमयं

हुए भी प्रतिक्रमण सूत्र की विषम-विविध वचनरचना को छोड़कर संसार लता के मूलकंदभूत संपूर्ण मोह, राग, द्वेष भावों का निवारण करके अखंड आनंदमय निजकारण परमात्मा का ध्यान करते हैं, उनके जो कि परमतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान के सन्मुख हुये हैं ऐसे साधु के निश्चितरूप से संपूर्ण वचन के विषयभूत व्यापारों से रहित निश्चय प्रतिक्रमण होता है।

विशेषार्थ—वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप अवस्था से परिणत हुये शुद्धोपयोगी महासाधुओं के पूर्णतया अंतर्जल्प भी रुक जाते हैं, उस समय संपूर्ण वचन का व्यापार समाप्त हो जाता है ऐसे निश्चय रत्नत्रय से परिणत एकाग्र अवस्था में निश्चय-प्रतिक्रमण घटित होता है।

अपने व्रतों में लगे हुए अतीत काल के दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण कहलाता है। इसमें प्रतिक्रमण के दण्डक सूत्रों का उच्चारण करते हुए भावपूर्वक 'मिच्छा मे दुक्कडं' मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ऐसा बार बार कहते हुए होता है। इन प्रतिक्रमण के सात[1] भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ। दिवस में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये सायंकाल में प्रतिक्रमण करना दैवसिक है। रात्रि में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये रात्रि के अंत में प्रतिक्रमण करना रात्रिक है। आहार को जाते समय या देववंदना, गुरुवंदना आदि के लिये अथवा मल मूत्रादि विसर्जन के लिये जाते-आते समय जो जीव बाधा हुई हो उससे निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण करना ऐर्यापथिक है। पंद्रह दिन में किया गया पाक्षिक, चार महिनों में किया गया चातुर्मासिक और आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को किया गया प्रतिक्रमण सांवत्सरिक कहलाता है तथा सल्लेखना ग्रहण करने के बाद अंतकाल में जो संपूर्ण दोषों का विशोधन किया जाता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इनमें से दैवसिक, रात्रिक और ऐर्यापथिक ये तीन प्रतिक्रमण तो साधु को प्रतिदिन ही करने पड़ते हैं। प्रमाद आदि के निमित्त से हुये दोषों की शुद्धि प्रतिक्रमण

---

१. मूलाचार पृ० ३१७।

निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्त्वश्रद्धानावबोधानुष्ठानाभिमुखस्य सकलबाह्यविषयव्यापारविरहितनिश्चयप्रतिक्रमणं भवतीति ।

से होती है। और यदि प्रतिक्रमण न करें तो उस आवश्यक क्रिया की विराधना से हुये दोषों की शुद्धि के लिये गुरुदेव से प्रायश्चित्त लेना होता है।

जो साधु शुद्धोपयोग में तो पहुंचे नहीं हैं और इस द्रव्य-भावरूप प्रतिक्रमण को भी छोड़ देते हैं वे तो महान् दोषी होते हैं। इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—यत्र[1] प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधाकुतः स्यात्। तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निःप्रमादः ॥१८९॥

अर्थ—हे भाई! जहां प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहां अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है? इसलिये यह जीव नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है? अर्थात् जहां प्रतिक्रमण को ही विषकुंभ कह दिया है ऐसे शुद्धोपयोग में स्थिर होनेरूप अवस्था में ही द्रव्यप्रतिक्रमण छूटकर निश्चयप्रतिक्रमणरूप अवस्था हो जाती है उसके पूर्व छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों को यह दंडक [2]सूत्रों के उच्चारणरूप प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

श्रावक के तो व्यवहार प्रतिक्रमण भी नहीं है अतः निश्चय प्रतिक्रमण की बात तो बहुत ही दूर है। श्रावक की षट् आवश्यक क्रियायें निम्नलिखित हैं—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इनमें भी 'दाणं [3]पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा' श्रावक धर्म में दान और पूजा मुख्य है इन दो क्रियाओं के बिना श्रावक धर्म नहीं हो सकता है ऐसा श्री कुंदकुंद भगवान का उपदेश है।

---

१. समयसार कलश १८९ पृ. ३९२।

२. आज जो क्रियाकलाप आदि में मुद्रित हो चुके हैं ऐसे वे दैवसिक 'रात्रिक' पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सूत्र श्री गौतमस्वामी रचित हैं ऐसा टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है।

३. रयणसार श्री कुंदकुंददेवकृत।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

"अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।"

तथा हि—

(आर्या)

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वार्जितं [कर्म] तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन् ।।१११।।

संपूर्ण विकल्पों से रहित होने पर ही ये निश्चय क्रियायें होती हैं ऐसा संकेत करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—"बहुत कुछ कहने से तथा बहुत कुछ दुर्विकल्प—आर्त रौद्र ध्यान रूप अशुभ विकल्पों से बस होवे, बस होवे, यहां इतना ही कहना बस है कि इस एक परमार्थस्वरूप का ही नित्य अनुभव करो। अपने आत्मा के रस के विस्तार से पूर्ण लबालब भरा हुआ जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार है, निश्चित-रूप से उससे बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है।"[1]

उसीप्रकार से [टीकाकार श्रीमुनिराज निश्चयप्रतिक्रमण में अपने आपको सन्मुख करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१११) **श्लोकार्थ**—अतितीव्र मोह के उत्पन्न होने से जो पूर्व में उपार्जित कर्म, उनका प्रतिक्रमण करके मैं सद्बोधस्वरूप ऐसी उस आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा नित्य ही रहता हूं। अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले जो मोह राग द्वेष आदि परिणाम हैं इन परिणामों के निमित्त से ही प्रतिक्षण कर्म आते रहते हैं

---

१. समयसारकलश, २४४।

आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण ।
सो पडिक्कमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

आराधनायां वर्तते मुक्त्वा विराधनं विशेषेण ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८४॥

जो साधु विशेषरूप से सर्व व्रत की विराधना तजते हैं ।
निज आराधन वा चउ आराधन में नित वर्तन करते हैं ॥
वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं ।
वे निश्चय प्रतिक्रमणकर्ता, मुनि आत्मध्यान में तन्मय हैं ॥८४॥

अत्रात्माराधनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम् । यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः निरंतराभिमुखतया ह्यस्खलदपरिणामसंतत्या साक्षात् स्वभावस्थितात्मारा-धनायां वर्तते अयं निरपराधः । विगतात्माराधनः सापराधः, **अत एव**

इसलिये इन रागद्वेषादि भावों से उपार्जित किये गये कर्मों को प्रतिक्रमण के द्वारा दूर करके मैं मेरे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही निवास करता हूं, यही निश्चयप्रतिक्रमण होता है ।

गाथा ८४

अन्वयार्थ—[**विशेषेण**] विशेषरूप से [**विराधनं मुक्त्वा**] विराधना को छोड़कर [**आराधनायां वर्तते**] जो आराधना में वर्तन करता है, [**सः प्रतिक्रमणं**] वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है, [**यस्मात्**] क्योंकि वह [**प्रतिक्रमणमयं भवेत्**] प्रतिक्रमणमय हो जाता है ।

टीका—यहां आत्मा की आराधना में वर्तन करते हुए जीव को ही प्रतिक्रमण-स्वरूप कहा है ।

जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरंतर अपनी तरफ उपयुक्त होने से अविच्छिन्न परिणाम संतति के द्वारा साक्षात् स्वभाव में स्थित होने रूप आत्मा की आराधना में वर्तन करते हैं वे निरपराधी हैं । जो आत्मा की आराधना से रहित हैं वे सापराधी हैं, इसीलिये "संपूर्णरूप से विराधना को छोड़कर" ऐसा गाथा में कहा है । 'विगत'—निकल

निरवशेषेण विराधनां मुक्त्वा । विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः । यस्मा-न्निश्चयप्रतिक्रमणमयः स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूपमुच्यते ।

तथा चोक्तं समयसारे—

"संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ।।"

उक्तं हि समयसारव्याख्यायां च—

(मालिनी)
"अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।

गई है, 'राध'–आराधना जिस परिणाम में वह परिणाम विराधनारूप कहलाता है। जिस हेतु से (विराधना रहित होने से) वह जीव निश्चय प्रतिक्रमणमय है उसी हेतु से वह प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है ।

भावार्थ—यहाँ आचार्यदेव ने व्रतों में विराधना से रहित और चतुर्विध आराधना से सहित साधु को ही प्रतिक्रमणमय स्वभाव कह दिया है क्योंकि वह साधु ही प्रतिक्रमणरूप से परिणत होने से प्रतिक्रमणमय हो रहा है ।

भगवान श्री कुंदकुंद ने समयसार में भी उसीप्रकार कहा है—

गाथार्थ—"संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाची शब्द हैं, निश्चित ही जो आत्मा राध–आराधना संसिद्धि आदि से अपगत–रहित है वह आत्मा अपराध–अपराधी है[1] ।"

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार की व्याख्या–आत्मख्याति नाम टीका में भी कहा है—

श्लोकार्थ—"अपराध सहित आत्मा निरंतर ही अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मों से बँधता है, और अपराधरहित आत्मा कदाचित् भी बंधन को स्पर्श नहीं

---

१. गाथा ३०४ ।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः ।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः ॥११२॥

मोत्तूण अणायारं, आयारे जो दु कुणदि थिरभावं ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

करता है । यह जीव नियम से अपने को अशुद्ध भजता हुआ अर्थात् अपने को अशुद्ध अनुभव करता हुआ सापराध-अपराधसहित है, और सम्यक्प्रकार से शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला-अनुभव करने वाला निरपराधी है[1] ।"

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज भी अपराध-निरपराध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(११२) **श्लोकार्थ**—जो जीव परमात्मा के ध्यान की सम्यक्भावना से रहित हैं, यहां पर नियम से वे भव से पीड़ित हुए सापराधी माने गये हैं । जो जीव सदा ही अखंड, अद्वैत चैतन्यभाव से युक्त हैं वे कर्म के त्याग में कुशल होने से निरपराधी होते हैं ।

गाथा ८५

अन्वयार्थ—[**यः तु अनाचारं मुक्त्वा**] जो साधु अनाचार को छोड़कर [**आचारे स्थिरभावं करोति**] आचार में स्थिरभाव को करता है, [**सः**] वह-साधु

---

१. समयसार कलश, १८७ ।

मुक्त्वानाचारमाचारे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८५॥

जो व्रत के सर्व अनाचारों को बुद्धीपूर्वक तजते हैं ।
निजभावों को स्थिर करके, निजआतम अनुभव करते हैं ॥
वे ही प्रतिक्रमण कहे जाते, क्योंकि प्रतिक्रमणरूप हैं वे ।
जो परमसमाधि में स्थित, निज में ही एकरूप हैं वे ॥८५॥

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं च भवतीत्युक्तम् । नियतं परमोपेक्षासंयमिनः शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्तः सर्वोप्यऽनाचारः, अत एव सर्वमनाचारं मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्विलासलक्षणनिरंजने निजपरमात्मतत्त्व-भावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभावं करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् परमसमरसीभावनापरिणतः सहजनिश्चयप्रतिक्रमण-मयो भवतीति ।

[प्रतिक्रमणं उच्यते] प्रतिक्रमण कहलाता है, **[यस्मात्]** क्योंकि वह **[प्रतिक्रमणमयो भवति]** प्रतिक्रमणमय होता है ।

टीका—यहां निश्चय चारित्रस्वरूप परमोपेक्षासंयमधारी मुनियों के निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप होता है, ऐसा कहा है ।

निश्चितरूप से परमोपेक्षासंयमी साधु के शुद्धात्मा की आराधना से अतिरिक्त सब कुछ अनाचार है, इसीलिए सभी अनाचार को छोड़कर सहज चैतन्य के विलास लक्षण वाले निरंजनरूप, निज परमात्मतत्त्व की भावनास्वरूप आचार में जो साधु सहजवैराग्यभावना से तन्मयरूप हुआ स्थिरभाव को करता है, वह परमतपोधन ही प्रतिक्रमणस्वरूप है इसप्रकार कहा जाता है । क्योंकि वह साधु परमसमरसी भावना से परिणत हुआ सहजनिश्चय प्रतिक्रमणमय होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज आत्मस्वरूप में स्थिर होने की प्रेरणा देते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(मालिनी)

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा ।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानंदभक्त्या
स्नपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः ॥११३॥

(स्रग्धरा)

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जननमृतिकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ ।
बाह्याचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्घसाक्षी ॥११४॥

(११३) **श्लोकार्थ**—आत्मा निजपरमानंदरूप एक-अद्वितीय अमृत से सान्द्र-आर्द्र-भीगे हुए या पूर्ण भरित और स्फुरायमान सहजबोधस्वरूप आत्मा को अपने परिणामों के उपशमरूप जल से अतिशय आनंद और भक्तिपूर्वक स्नान कराओ, बहुत से लौकिक वचन समूहों से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

भावार्थ—परिणामों में जो कषायों की मंदता या उपशमता है वही एक प्रकार का निर्मल जल है, उस जल में अपनी आत्मा को स्नान कराने से वह पवित्र हो जाती है, इसलिए साधुओं को प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि बहुत से बाह्य वचनों के आडम्बर से लोगों को प्रसन्न करने से कुछ भी निज कार्य सिद्ध नहीं होगा ।

(११४) **श्लोकार्थ**—जो आत्मा जन्म-मरण के करने वाले, सर्व दोषों के प्रसंगरूप ऐसे अनाचार को अत्यन्तरूप से छोड़कर, उपमारहित सहज आनन्द-सुख, सहज दर्शन, सहज ज्ञान और सहज वीर्यस्वरूप अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा स्थित होकर, बाह्य आचार से रहित होता हुआ, शमसमुद्र के जलबिंदुओं के समूह से पवित्र हो जाता है, सो वह—पुण्यरूप, पुराण-महापुरुष आत्मा, नष्ट कर दिया है मल-रूपी क्लेश को जिसने ऐसा, और लोक को उत्कृष्टरूप से साक्षात् करने वाला होता हुआ शोभायमान होता है ।

उम्मग्गं परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं ।
सो पडिक्कमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

उन्मार्गं परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८६॥

रत्नत्रय से विपरीत सर्व, उन्मारग को जो तज करके ।
जिनमारग में ही अहर्निशी, स्थिर परिणामों को करते ॥
वे ही प्रतिक्रमण कहे जाते, क्योंकि प्रतिक्रमण स्वरूप हुए ।
वे निश्चयप्रतिक्रमण धारी, निज में परिणत निजरूप हुए ॥८६॥

अत्र उन्मार्गपरित्यागः सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीकारश्चोक्तः । यस्तु शंकाकांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवमलकलंकपंकनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसद्दृष्टिः बुद्धावि-

---

भावार्थ—जो संसार की परंपरा के कारणभूत अनाचार हैं उनको छोड़कर जो साधु अनंत चतुष्टय स्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा में स्थिर हो जाते हैं, निर्विकल्प समाधि के द्वारा अपनी आत्मा में ही लीन हो जाते हैं। उस समय उनके बाह्य आवश्यक आदि सारी क्रियायें भी छूट जाती हैं पुनः अन्य अनर्गल क्रियाओं की बात तो बहुत ही दूर है, तब कषायों के पूर्ण उपशम तथा क्षयरूपी जल से आत्मा के कर्म-मल धुल जाते हैं और आत्मा पूर्णतया पवित्र होकर लोक को प्रत्यक्ष देखने-जानने वाला हो जाता है।

गाथा ८६

अन्वयार्थ—[**यः तु**] जो साधु [**उन्मार्गं परित्यज्य**] उन्मार्ग को छोड़ करके [**जिनमार्गे स्थिरभावं करोति**] जिनेंद्र भगवान के मार्ग में स्थिरभाव करता है, [**सः प्रतिक्रमणं उच्यते**] वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है [**यस्मात् प्रतिक्रमणमयो भवेत्**] क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

टीका—यहां पर उन्मार्ग के परित्याग और सर्वज्ञ वीतराग देव के मार्ग के स्वीकार करने को कहा है।

जो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव इन पांच अतिचार रूप मलकलंक पंक से रहित शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टि साधु बुद्ध,

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मार्गाभासमुन्मार्गं परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वरसर्वज्ञवीतरागमार्गे पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिपंचेन्द्रियनिरोधषडावश्यकाद्यष्टाविंशतिमूलगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्धगुणालंकृते सहजपरमचित्सामान्यविशेषभासिनि निजपरमात्मद्रव्ये स्थिरभावंशुद्धचारित्रमयं करोति, स मुनिर्निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परमार्थतत्त्वं प्राप्तं तस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं स एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम्—

(शार्दूलविक्रीडित)

"इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः ।

आदि प्रणीत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रात्मक मार्गाभासरूप का परित्याग करके व्यवहारनय की अपेक्षा से पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, पांच इन्द्रियों का निरोध और षट्आवश्यक क्रिया आदि अट्ठाईस मूलगुण-महादेवाधिदेव, परमेश्वर, सर्वज्ञ, वीतराग के मार्ग में स्थिरभाव करता है, और निश्चयनय की अपेक्षा से सहज ज्ञान-दर्शन आदि शुद्ध गुणों से अलंकृत, सहजपरम के सामान्य-विशेष प्रतिभासरूप ऐसे निज परमात्म द्रव्य में शुद्धचारित्रमय भाव को करता है, वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है ऐसा कहा जाता है। वह परमतत्त्व को प्राप्त हुआ निश्चय प्रतिक्रमण है और इस निश्चय प्रतिक्रमण वह तपोधन सदा शुद्ध है ।

उसी प्रकार प्रवचनसार की व्याख्या में भी कहा है—

"इसप्रकार से विशेष आदर वाले पुराण पुरुषों द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में विचरण करने वाले यति चारित्र को करके क्रमशः अतुल निवृत्ति करके सामान्य-विशेषरूप चैतन्य जिसका प्रकाश है निज द्रव्य में सब प्रकार से स्थिति करो[1] ।"

---

१. अमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वदीपिका नामक टीका, गाथा २३१ की टीका में श्लोक १५ ।

आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ॥"

तथा हि—

(मालिनी)

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः ।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते ॥११५॥

भावार्थ—भगवान् श्री कुंदकुंद देव ने प्रवचनसार ग्रन्थ में २०० गाथाओं तक ज्ञान और ज्ञेय तत्त्व का वर्णन करके २०१ से ३१२ गाथाओं तक चरणानुयोग चूलिका नाम से मुनियों के चारित्र का वर्णन किया है। उसमें शुद्धोपयोग और शुभोपयोग अथवा वीतराग चारित्र-सराग चारित्र, या उपेक्षासंयम-अपहृतसंयम अथवा उत्सर्ग चारित्र और अपवाद चारित्र इन दो प्रकार के नाम वाले चारित्र का वर्णन किया है। तथा निश्चय और व्यवहार चारित्र में परस्पर में मैत्री को बतलाते हुए इनको सापेक्षरूप से धारण करने का स्पष्ट आदेश दिया है। उसी उभय चारित्र के प्रकरण के उपसंहार में इस श्लोक के द्वारा साधुओं को प्रेरित करते हुए कहा है कि आप लोग प्रारम्भ में उभयचारित्र में बार बार विचरण करते हुए आगे केवल निवृत्तिरूप निश्चयचारित्रमय निज आत्मा में तन्मय हो जावो।

इसी प्रकार से—[अब टीकाकार मुनिराज निश्चय प्रतिक्रमण के उत्तम फल की ओर लक्ष्य दिलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(११५) श्लोकार्थ—जो विषय सुखों से विरक्त हैं, जो शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं, तपश्चरण में जिनका मन लीन है, जो शास्त्रों के समूह में मत्त-आनन्दित[1] हैं, गुण मणियों के समूह से युक्त हैं, और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं ऐसे परमतपोधन अमृतवधूटी-मुक्तिवधू के वल्लभ-प्रियतम क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् मुक्ति स्त्री के पति अवश्य होंगे।

---

१. मदी हर्षे–मद धातु हर्ष में भी है।

मोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

मुक्त्वा शल्यभावं निःशल्ये यस्तु साधुः परिणमति ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८७॥

जो माया मिथ्या औ निदान, त्रय शल्यभाव को तज करके ।
चिन्मय चिंतामणि निजस्वरूप निःशल्यभाव में परिणमते ॥
वे ही प्रतिक्रमण कहे जाते, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं ।
वे साधु शुद्ध आत्मध्यानी, निज में ही निर्विकल्पयम हैं ॥८७॥

इह हि निःशल्यभावपरिणतमहातपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः । निश्चयतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद् व्यवहारनयबलेन कर्मपंकयुक्तत्वात् निदानमायामिथ्याशल्यत्रयं विद्यत इत्युपचारतः । अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिःशल्यस्वरूपे तिष्ठति यो हि परमयोगी स निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् स्वरूपगतवास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति ।

गाथा ८७

अन्वयार्थ—[यः तु साधुः शल्यभावं त्यक्त्वा] जो साधु शल्यभाव का त्याग करके [निःशल्ये परिणमति] निःशल्य भाव में परिणमन करता है, [सः प्रतिक्रमणं उच्यते] वह प्रतिक्रमण कहा जाता है, [यस्मात्] क्योंकि [प्रतिक्रमणमयो भवेत्] वह प्रतिक्रमणमय होता है ।

टीका—निःशल्यभाव से परिणत महातपोधन ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है, ऐसा यहां पर कहा है ।

निश्चयनय से आत्मा निःशल्यस्वरूप परमात्मा है, फिर भी व्यवहारनय के बल से कर्मपंक से युक्त होने से उस आत्मा के निदान, माया और मिथ्या ये तीन शल्य विद्यमान हैं, ऐसा उपचार से कहा है । अतएव तीनों शल्यों का त्याग करके जो परम-योगी परम निःशल्यस्वरूप में स्थित होते हैं, वे निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं, ऐसा कहा जाता है, क्योंकि स्वरूप को प्राप्त होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है ।

(अनुष्टुभ)

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि ।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ॥११६॥

(पृथ्वी)

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः ।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ॥११७॥

[अब टीकाकार मुनिराज शल्यरहित शुद्ध आत्मा की भावना से प्रेरित हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(११६) श्लोकार्थ—तीनों शल्यों का परित्याग करके, शल्य रहित परमात्मा में स्थित होकर विद्वान्-साधु सदा स्पष्टरूप से शुद्ध आत्मा की भावना करे। अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से शल्यादि विकल्पों से रहित जो शुद्ध है उसमें तन्मय होकर अनुभव करे।

(११७) श्लोकार्थ—जो भव भ्रमण का कारण है, पुनः पुनः कामदेव के बाणों की अग्नि से दग्ध है और कषाय की कलि-मैल से रंगा हुआ है ऐसे चित्त को आप अत्यन्तरूप से छोड़ो, जो विधि-कर्म के वश से अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे स्वभाव से नियत स्वाभाविक सुख है वह अमलिन-निर्मल है। हे यति! तुम प्रबल संसार के भय से उस सुख का आश्रय लेवो।

भावार्थ—आचार्य का कहना है कि अशुभ भावों से मलिन हुये चित्त को शुभ भावों से निर्मल करके स्वभाव में निश्चित रहने वाले ऐसे सहज परम सुख का अनुभव करो।

चत्ता अगुत्तिभावं[1] तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

त्यक्त्वा ह्यगुप्तिभावं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८८॥

मन वचन काय की क्रियारूप, जो भाव अगुप्ती को तजकर ।
तीनों गुप्ती से गुप्त हुए, संपूर्ण विकल्पों को तजकर ॥
वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं, क्योंकि प्रतिक्रमणमय हैं वे ।
शुद्धोपयोग में रत साधू स्वयमेव साध्यरूप हो वे ॥८८॥

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत् । यः परमतपश्चरःसरसिरुहाकरचंडचंडरश्मिरत्यासन्नभव्यो मुनीश्वरः बाह्यप्रपंचरूपम् अगुप्ति-

---

गाथा ८८

अन्वयार्थ—[**यः साधुः**] जो साधु [**हि अगुप्तिभावं त्यक्त्वा**] निश्चितरूप अगुप्तिभाव का त्याग करके [**त्रिगुप्तिगुप्तः भवेत्**] तीन गुप्तियों से गुप्त-सहित-रक्षित होते हैं, [**सः प्रतिक्रमणं उच्यते**] वे-साधु प्रतिक्रमण कहलाते हैं. [**यस्मात्**] क्योंकि [**प्रतिक्रमणमयः भवेत्**] वे प्रतिक्रमणमय हो जाते हैं ।

टीका—तीन गुप्तियों से गुप्त लक्षण वाले परमतपोधन के निश्चयचारित्र का यह कथन है ।

जो परम तपश्चरण वो ही हुआ सरोवर जो कि कमलों का आकार-खान स्वरूप है उसके लिये प्रचंड किरण वाले सूर्य के समान, ऐसे अत्यासन्न भव्य-अतिनिकट भव्य मुनीश्वर बाह्यप्रपंचरूप अगुप्तिभाव-गुप्तिरहित अवस्था को छोड़कर त्रिगुप्ति से गुप्त निर्विकल्प परमसमाधि लक्षण से सहित अतिअपूर्व-जिसको पूर्व में कभी नहीं प्राप्त किया है ऐसी आत्मा का ध्यान करते हैं, वे जिस हेतु से प्रतिक्रमणमयी परमसंयमी हैं उसी हेतु से ही वे निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं ।

---

१. हि गुत्ति भावं (क) पाठान्तर ।

भावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति ।

भावार्थ—यहां पर उत्कृष्ट तपश्चरण को सरोवर के कमलों की उपमा दी है और अति निकट भव्य मुनिराज को सूर्य बनाया है । जैसे सूर्य की प्रचंड किरणें कमलों को प्रफुल्लित कर देती हैं वैसे ही वे मुनिराज तपश्चरण को विकसित करते हैं अथवा उग्र-उग्र तपश्चरणरूपी किरणों से अपनी आत्मारूपी कमलों को खिला देते हैं । वे मुनिराज तीन गुप्तियों से अपने आपको पूर्ण सुरक्षित करके निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते हैं, तभी अपूर्व-अपूर्व परिणामों से अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त होते हुए अपूर्व आत्मा के स्वरूप का अनुभव करते हैं वे ही तपोधन वीतरागचारित्र के साथ अविनाभावी ऐसे निश्चयरत्नत्रय से परिणत हुए निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हो जाते हैं ।

कहा भी है—"जो[1] कर्म अज्ञानी जीव लक्षकोटि भवों में खपाता है वह कर्म तीन गुप्तियों से गुप्त हुआ क्षपकश्रेणी वाला ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में क्षपित कर देता है ।" यहां पर त्रिगुप्ति से सहित साधु को ही ज्ञानी कहा है यह त्रिगुप्तावस्था वीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है ।

कोटिजन्म तपतपें ज्ञान विन कर्म झरें जे ।
ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते ।।

यहां पर जो 'त्रिगुप्ति तें' शब्द है वह भी ऐसे ध्यानपरिणत साधु को ही सूचित करता है । जब जो मुनि त्रिगुप्ति से परिणत नहीं हैं उन साधारण-छठे गुणस्थानवर्ती मुनि को भी यहां पर 'ज्ञानी' शब्द से नहीं लिया है फिर असंयत और देशसंयत श्रावकों की बात तो बहुत ही दूर है ।

गुप्ति के उदाहरण के लिये देखिये—

[2]राजा श्रेणिक ने जैन मुनियों की परीक्षा के लिये युक्तिपूर्वक से राजमन्दिर में एक गड्ढे में हड्डी, चर्म आदि भरवा दिये और रानी से कहा कि आप इस पवित्र

---

१. जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं । तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सास-मेत्तेण ।।२३८।। [प्रवचनसार]
२. श्रेणिकचरित, श्री शुभचन्द्रवि०, सर्ग ९, १० से ।

स्थान पर मुनियों को आहार देना। रानी चेलना ने राजा के अभिप्राय को जान लिया और धर्म का अपमान न होने पावे इस भाव से आहारार्थ आये हुये मुनियों को नमस्कार करके कहा--हे मनोगुप्ति आदि त्रिगुप्तिपालक पुरुषोत्तम मुनिराजों! आप आहारार्थ राजमन्दिर में विराजें। इतना सुनते ही तीनों मुनिराज दो उंगलियों को उठाकर वापस चले गये। अनंतर गुणसागर मुनिराज अवधिज्ञानी थे वे त्रिगुप्ति के धारक थे आ गये, वे भोजनालय तक गये किंतु अवधिज्ञान के बल से उन्हें शीघ्र ही अपवित्रता का ज्ञान हो गया और वे मौन छोड़कर स्पष्ट बात कहकर बिना आहार किये वन में चले गये।

अनन्तर राजा श्रेणिक ने प्रारम्भ में यायम गये मुनियों के पास जाकर विनम्र हो दो उंगली दिखाने के बारे में पूंछा। प्रथम धर्मघोष मुनिराज बोले राजन्! मैं एक समय कौशांबी नगरी के मंत्री गरुड़वेग के घर पर आहार कर रहा था उनकी पत्नी के हाथ से अकस्मात् एक बाबल नीचे गिर गया, उस समय मेरी दृष्टि नीचे गई, गरुड़दत्ता के पैर का अंगूठा देखकर मेरे मन में अचानक मेरी पत्नी लक्ष्मीमती के अंगूठे की याद आगई। उस समय से आज तक मेरे मनोगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है।

अनन्तर द्वितीय मुनि जिनपाल से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि—भूमि तिलक के राजा वसुपाल की वसुकांता कन्या के लिये चंडप्रद्योतन का वसुपाल के साथ युद्ध हो रहा था। वसुपाल धर्मात्मा था उसके हारने का प्रसंग देखकर एक मनुष्य ने कहा कि दर्शनार्थ आये हुये राजा को आप अभयदान दे दीजिये, परन्तु मैंने अपना कर्तव्य न समझ मौन रखा किंतु उस समय वनरक्षिका देवी ने दिव्य वाणी से अभयदान सूचक आशीर्वाद दे दिया। राजा ने तथा सबने मेरा आशीर्वाद ही समझा। कालांतर में इसका स्पष्टीकरण भी हो गया फिर भी उसी कारण से मुझे आज तक वचनगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है।

पुनः मणिमाली मुनिराज से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि—मैं उग्रतपस्वी सिद्धांत का ज्ञाता पृथ्वी पर अकेला विहार करता हुआ उज्जयिनी के श्मशान में मुर्दे के आसन से ध्यान में लीन था। एक मंत्रवादी वैताली विद्या की सिद्धि के लिये मुझे मृतक समझ मस्तक पर एक चूल्हा रखकर मृत कपाल में खीर पकाने लगा। अग्नि की ज्वाला से यद्यपि मैं नरकादि दुःखों को स्मरण करने लगा, तथा आत्मा को शरीर

(हरिणी)

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम् ।
भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत् ।।११८।।

से भिन्न चिंतवन करने लगा किंतु मेरा मस्तक हिलने से वह खीर गिर गई और अग्नि शांत हो गई। किंतु मंत्रवादी डरकर भाग गया। प्रातः गांव से जिनदत्त सेठ आकर मुझे ले गये और तुंकारी के यहां से लाक्षामूल तेल लाकर अनेकों औषधियों से मेरा उपचार किया। तबसे मुझे अभी तक कायगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है।

"जो मुनि त्रिगुप्ति के पालक होते हैं वे नियम से अवधिज्ञानी होते हैं। तीनों में से यदि एक भी गुप्ति नहीं है तो अवधि मन पर्यय और केवलज्ञान इनमें से एक ज्ञान भी प्रगट नहीं हो सकता है।"

[अब टीकाकार मुनिराज गुप्ति के महत्त्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(११८) श्लोकार्थ—मन, वचन और काय की विकृति को सदा छोड़कर भव्य मुनिराज सम्यग्ज्ञान की पुंजमयी इस सहज परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना से सहित उत्कृष्टरूप से भजो-सेवन करो, क्योंकि त्रिगुप्तिमय उन साधु के ही वह पवित्र शील होता है।

भावार्थ—जो मुनिराज पूर्णतया मन, वचन, काय के व्यापारों का निरोध कर देते हैं और शुद्ध आत्मतत्त्व में अपने उपयोग को स्थिर कर लेते हैं वे ही विशद शील अर्थात् निश्चय चारित्र को प्राप्त कर लेते हैं। अनंतर त्रिगुप्ति के प्रसाद से घातिया कर्मों का नाश करके अठारह हजार शील के भेदों को पूर्ण करके—

मोत्तूण अट्टरुद्दं, झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा ।
सो पडिकमणं उच्चइ, जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥८९॥

मुक्त्वार्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु ॥८९॥

जो चार प्रकार आर्तध्यानों, औ रौद्रध्यान को तज करके ।
चारों विध धर्मध्यान करते, या शुक्लध्यान धरते रुचि से ॥
जिनवर के भाषित सूत्रों में, वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं ।
प्रतिक्रमणरूप से परिणत हो, मुनि प्रतिक्रमण बन जाते हैं ॥८९॥

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्ध णिस्सेस आसवो जीवो ।
कम्मरय विप्पमुक्को गयजोगो केवली होई[1] ॥६५॥

अर्थ—जो अठारह हजार शील के भेदों के स्वामी हो चुके हैं, जिनके कर्मों के आने रूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है, तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सन्मुख हैं, वे योग रहित केवली चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहलाते हैं । अभिप्राय यह हुआ कि त्रिगुप्ति के बिना ध्यान की सिद्धि असंभव है और ध्यान की सिद्धि के बिना कर्मों का नाश करना असंभव है तथा कर्मों के नाश हुए बिना सिद्धपद को प्राप्त करना जो कि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा का ही स्वरूप है ऐसे आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्राप्त करना असंभव ही है ।

गाथा ८९

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**आर्तरौद्रं मुक्त्वा**] आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़करके [**धर्मशुक्लं वा ध्यायति**] धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है [**सः**] वह साधु [**जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु**] जिनेंद्रदेव द्वारा कथित सूत्रों में [**प्रतिक्रमणं उच्यते**] प्रतिक्रमण कहा जाता है ।

---

१. गोम्मटसार जीवकांड ।

ध्यानविकल्पस्वरूपाख्यानमेतत् । स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कमनीयकामिनीवियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम्, चौरजारशात्रवजनवधबंधनसनिबद्धहाद्वेषजनितरौद्रध्यानं च, एतद्द्वितयम् अपरिमितस्वर्गापवर्गसुखप्रतिपक्षं संसारदुःखमूलत्वान्निरवशेषेण त्यक्त्वा, स्वर्गापवर्गनिःसीमसुखमूलस्वात्माश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्पविरहितान्तर्मुखाकारसकलकरणग्रामातीतनिर्भेदपरमकलासनाथनिश्चयशुक्लध्यानं च ध्यात्वा यः परमभावभावनापरिणतः भव्यवरपुंडरीकः निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं भवति, परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति । ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, तृतीयं तावदुपादेयं, सर्वदोपादेयं च चतुर्थमिति ।

तथा चोक्तम्—

टीका—ध्यान के भेदों के स्वरूप का यह कथन है ।

अपने देश के त्याग से, द्रव्य के नाश से, मित्रजनों के विदेश चले जाने से, सुन्दर स्त्रियों के वियोग से अथवा अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होने वाला आर्तध्यान है, और चोर, जार, शत्रुजनों के मारने, बांधने से सम्बन्धित महान् द्वेष भाव से उत्पन्न होने वाला रौद्रध्यान है, ये दोनों ध्यान अपरिमित स्वर्ग-मोक्ष सुख के विरोधी हैं क्योंकि ये संसार के दुःखों के मूलकारणभूत हैं इसलिये इन दोनों ध्यानों को संपूर्णतया छोड़ करके, स्वर्ग और मोक्ष के असीम सुख का मूल ऐसा जो अपनी आत्मा के आश्रित निश्चयपरम धर्मध्यान है और ध्यान-ध्येय के विविध विकल्पों से रहित, अंतर्मुखाकार संपूर्ण इन्द्रिय समूह से अतीत, भेद रहित—अद्वैत स्वरूप परमकलाओं से सहित ऐसा निश्चय शुक्लध्यान है, इन दोनों ध्यानों को ध्याकर जो परमभावरूप पारिणामिकभाव की भावना से परिणत हैं ऐसे भव्यवरजनों में भी उत्तम साधु निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होते हैं, परमजिनेंद्रदेव के मुखकमल से निकले हुए द्रव्यश्रुतों में यह कथन किया गया है ।

यहां चार ध्यानों में आदि के दो ध्यान हेय हैं, तीसरा ध्यान प्रारम्भ में उपादेय है और चौथा ध्यान सदा उपादेय है ।

कहा भी है—

(अनुष्टुभ्)

"निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः ।।"

"श्लोकार्थ—जो ध्यान क्रिया रहित होने से निष्क्रिय है—अचल है, इन्द्रियों से अतीत-परे है, ध्यान ध्येय के विकल्प से रहित है और अंतर्मुख है उस ध्यान को योगीजन शुक्लध्यान कहते हैं ।"

विशेषार्थ—"उत्तम संहनन वालों के एकाग्रचिंता निरोध को ध्यान कहते हैं, वह उत्कृष्टतया अंतर्मुहूर्त तक हो सकता है[1] । अर्थात् गमन, भोजन, शयन, अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में भटकने वाली चिन्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध कहलाता है । द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या आत्मा आदि किसी अन्य अर्थ में चित्तवृत्ति को केंद्रित करना ध्यान है ।

इस ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ।

ऋत-दुःख-पीड़ा में उत्पन्न हुआ ध्यान आर्तध्यान है, इसके भी चार भेद हैं—विष, कंटक, शत्रु आदि अप्रिय वस्तुओं के मिल जाने पर ये मुझसे कैसे दूर हों इस प्रकार की सबल चिन्ता आर्तध्यान है अर्थात् स्मृति को दूसरे पदार्थ की ओर न जाने देकर बार-बार उसीमें लगाये रखना, ऐसा यह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है ।

इष्ट वस्तु के वियोग होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिये चिंता करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है ।

शरीर में रोग से वेदना होने पर आकुल होकर बार बार चिंतन करना वेदनाजन्य आर्तध्यान है ।

प्रीतिविशेष आदि से आगामी भव में कायक्लेश के बदले विषय सुखों की चाह करना निदान आर्तध्यान है ।

---

१. तत्त्वार्थ वा. अ. ९, सू. २७ से

रुद्र-क्रूर परिणामों से हुआ ध्यान रौद्रध्यान है, इसके भी चार भेद हैं हिंसा में आनन्द मानना हिंसानंदी, असत्य में आनन्द मानना मृषानंदी, चोरी में आ मानना चौर्यानंदी और परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना परिग्रहानंदी ऐसे ध्यान हैं।

धर्मयुक्त ध्यान धर्म्यध्यान है, इसके भी चार भेद हैं—सर्वज्ञप्रणीत आ को प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं होते हैं' इसप्र निश्चय करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

सर्वज्ञ के मार्ग से विमुख जीव सन्मार्ग से दूर होकर उन्मार्ग में भटक रहे कैसे ये सुपथगामी बनें ? इसप्रकार का चिंतन अपायविचय है।

कर्मों के फलों का विचार करना विपाकविचय है।

और लोक के स्वभाव, संस्थान, द्वीप, नदी आदि के स्वरूप का विचार क संस्थान विचय है।

जब तक इन विषयों में चिंतन धारा चलती है तब तक ये ज्ञान रूप हैं, जब उनमें चिंतन धारा एकाग्रचिंतानिरोधरूप से केन्द्रित हो जाती है तभी ये ध्या कहलाते हैं।

निर्मल गुणरूप आत्मपरिणति में शुक्लध्यान होता है उसके भी चार भेद पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवृत्ति।

इनमें से आदि के आर्तरौद्रध्यान संसार के ही कारण हैं। अंत के दो ध शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु हैं[1]। आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है परन्तु छठे निदान नहीं होता है। रौद्रध्यान पांचवें तक हो सकता है। धर्म्यध्यान चौथे से सा गुणस्थान तक है और प्रथम शुक्लध्यान आठवें से ग्यारहवें तक है, द्वितीय बारहवें है, ये दोनों शुक्लध्यान द्वादशांगपाठी [2]श्रुतकेवली को ही होते हैं। अन्तिम दोनों शुक्ल ध्यान केवली के होते हैं।

---

१. "परे मोक्षहेतू" ॥२९॥ तत्त्वा.। २. 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' ॥३७॥ तत्त्वा.

(वसन्ततिलका)

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे ।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ॥११९॥

शुद्धोपयोग में मुख्यरूप से शुक्लध्यान विवक्षित है। परमात्मप्रकाश में कहा भी है—"दिव्वजोओ" द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः कथंभूतः ? मोक्खदो मोक्षप्रदायकः द्वितीय शुक्लध्यान नामका वीतराग निर्विकल्पसमाधिरूप दिव्यमोक्ष का प्रदायक है।

[अब टीकाकार श्रीमुनिराज निश्चय-व्यवहारनय से ध्यान को बताते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(११९) **श्लोकार्थ**—व्यक्तरूप से सदाशिवमय-अनादिनिधन शिवस्वरूप परमात्मतत्त्व के होने पर शुद्धनय ध्यान समूह को भी नहीं कहता है। 'वह ध्यानावली है'-'ध्यान समूह है' इसप्रकार से हमेशा व्यवहार मार्ग कहता है। हे जिनेंद्र ! आपका यह तत्त्व, अहो ! महा इंद्रजाल स्वरूप है।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय से सभी संसारी जीवराशि सदा शुद्ध ही है किसी को कर्मलेप है ही नहीं, पुनः आत्मा के सदाशिवरूप सिद्ध हो जाने पर जब कर्म का सम्बन्ध ही नहीं है तब कर्मबन्ध के हेतु अथवा कर्मनाश के हेतुभूत ध्यान भी कैसे उदित होंगे ? इसलिए शुद्धनय ध्यान को उसके भेद प्रभेदों को मानता ही नहीं है। जो कुछ यह संसार-मोक्ष की या ध्यान आदि की व्यवस्था है उसको कहने वाला व्यवहारमार्गी, व्यवहारनय ही है। आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपका यह तत्त्व महान् इंद्रजालरूप आश्चर्यकारी है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि यह इंद्रजाल के समान मिथ्या है किंतु जैसे इंद्रजाल के खेल को समझना अत्यन्त कठिन है वैसे ही आपके इन नयचक्रों को समझना भी अत्यन्त गहन है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"इति विविध भंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवंति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः[1] ॥५८॥

अर्थ—इसप्रकार विविध भेदों से गहन सुदुस्तर जिनशासन में मार्ग से मूढ़ हुए जीवों को नयचक्र के संचार को जानने वाले गुरु महाराज ही शरण होते हैं ।

इसमें जो 'सदाशिव' शब्द आया है अन्य सम्प्रदायों में एक वैशेषिक संप्रदाय वाले हैं । जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं उनके यहां कहा है—"सदैव मुक्त सदैवेश्वरः पूर्वस्याः कोटेर्मुक्तात्मानमिवाभावात्" इत्यागमान्महेश्वरस्य सर्वदा कर्मणामभावप्रसिद्धेः—"वह ईश्वर सदा ही मुक्त है, सदा ही ऐश्वर्य से युक्त है क्योंकि जिस प्रकार मुक्तात्माओं के पूर्व-पहली बंधकोटि रहती है उसप्रकार ईश्वर के नहीं है" इस आगम से महेश्वर के सदा ही कर्मों का अभाव सिद्ध है ।

"शश्वत्कर्ममलैरस्पृष्टः परमात्माऽनुपायसिद्धत्वात्[2]" भगवान् परमात्मा सदा कर्ममलों से अस्पृष्ट हैं, क्योंकि अनुपायसिद्ध हैं—उपायपूर्वक तपस्या आदि करके मुक्त नहीं हुये हैं ।

इस वैशेषिक की मान्यता पर आचार्य श्री विद्यानंद महोदय कहते हैं—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन ।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—कोई सर्वज्ञ हमेशा कर्मों से अस्पृष्ट नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से अनुपायसिद्ध प्रतिपन्न नहीं होता है ।

यहां पर जैनाचार्य इन लोगों का खण्डन करके भी जो परमात्मा को स्वयं सदाशिव कह रहे हैं उसमें केवल शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कथन है चूंकि शुद्ध निश्चयनय औपाधिक अवस्था को मानता ही नहीं है, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ही कहता है ।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।
२. [योगाद. भाष्य. १–२४] आप्त परीक्षा पृ. ३०–३१, ३२ ।

(वसंततिलका)

सद्बोधमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपंचो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ।।१२०।।

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुव्वं जोवेण भाविया सुइरं ।
सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया होंति जोवेण ।।९०।।

मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः पूर्वं जीवेन भाविताः सुचिरम् ।
सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन ।।९०।।

मिथ्यात्व असंयत आदि भाव, जो भव के बीज बनाये हैं ।
पहले अनादि से लेकर के, अब तक कि जीव ने भाये हैं ।।
सम्यक्त्व विरति शुभ-शुद्ध भाव, मुक्ति के बीज बनाये हैं ।
उन भावों को अब तक भी तो, इन जीवों ने नहिं भाये हैं ।।९०।।

---

(१२०) **श्लोकार्थ**—सम्यग्ज्ञान का मंडन-आभूषणस्वरूप यह परमात्मतत्त्व संपूर्ण विकल्प के समूहों से सब तरफ से मुक्त है । यह समस्त नयों के समूह से होने वाला विस्तार इस परमात्मतत्त्व में नहीं है, पुन आप ही कहिये वह ध्यानसमूह यहां कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—जब अनादि निधन परमात्मतत्त्व स्वयं सिद्धस्वरूप है तब साधन स्वरूप ध्यान के भेदों की उसे क्या आवश्यकता है ? यद्यपि व्यवहार नय से सयोग केवली और अयोग केवली के भी ध्यान माने हैं । क्योंकि उनके कर्मनाशरूप कार्य को देखकर कारण का अस्तित्व माना गया है, किन्तु वहां पर भी ध्यान उपचार से ही है ।

गाथा ९०

अन्वयार्थ—[**जीवेन**] जीव ने [**पूर्वं सुचिरं**] पूर्व में चिरकाल तक [**मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः भाविताः**] मिथ्यात्व आदि भाव भावित किये हैं, (किन्तु) [**सम्यक्त्वप्रभृति भावाः**] सम्यक्त्व आदि भाव [**जीवेन**] जीव ने [**अभाविताः भवंति**] भावित नहीं किये हैं ।

आसन्नानासन्नभव्यजीवपूर्वापरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम् । मिथ्यात्वाव्रतकषाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पास्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं' इति वचनात्, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिगुणस्थानचरमसमयपर्यंतस्थिता इत्यर्थः ।

अनासन्नभव्यजीवेन निरंजननिजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानविकलेन पूर्वं सुचिरं भाविताः खलु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवेनानासादितपरमनैष्कर्म्यचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि भवन्तीति । अस्य मिथ्यादृष्टेर्विपरीतगुणनिचयसंपन्नोऽत्यासन्नभव्यजीवः । अस्य सम्यग्ज्ञानभावना कथमिति चेत्—

टीका—आसन्न भव्य और अनासन्न भव्य जीव के पूर्वापर परिणामों के स्वरूप का यह कथन है ।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ये परिणाम सामान्यप्रत्यय-सामान्य कर्म बंध के कारण कहलाते हैं, उनके तेरह भेद होते हैं, "मिथ्यादृष्टि आदि से लेकर सयोग केवली पर्यंत होते हैं"[1] ऐसा परमागम का वचन है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोग केवली गुणस्थान के चरमसमय पर्यंत स्थित हैं, यह अर्थ हुआ ।

निरंजन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धान से रहित हुये दूरवर्ती भव्य जीव ने पूर्व में चिरकाल तक निश्चितरूप से सामान्यप्रत्ययों की भावना की है । जिसने परम नैष्कर्म-निश्चल चारित्र को प्राप्त नहीं किया है ऐसे स्वरूप के ज्ञान से रहित उस बहिरात्मा जीव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भावित नहीं किया है । और इस मिथ्यादृष्टि जीव से विपरीत गुण समूहों से संपन्न हुआ जीव अत्यासन्न-अतिनिकट भव्यजीव है ।

इस अतिनिकट भव्यजीव के सम्यग्ज्ञान की भावना किसप्रकार से होती है? ऐसा प्रश्न करने पर—

---

१. सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
"मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं" ॥११०॥ (समयसार)

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

"भावयामि भवावर्तेभावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥"

तथा हि—

उसीप्रकार श्री गुणभद्रस्वामी ने कहा है—

"श्लोकार्थ—भव के आवर्त में पहले नहीं भायी हुई ऐसी भावना को मैं भाता हूं। और जिन की भावना की है उनको नहीं भाता हूं, क्योंकि इसप्रकार की भावनायें भव का अभाव करने वाली हैं[1] ।"

भावार्थ—पुनः पुनः जिनका चित्त में चिंतवन किया जाता है उन्हें भावना कहते हैं पूर्व में जिनको नहीं भाया है ऐसी सम्यग्दर्शन आदि भावनायें हैं, और जिनको पहले से भाया है ऐसी मिथ्यादर्शन आदि भावनायें हैं। इस संसार भंवर में फंसकर मैंने जिन सम्यग्दर्शन आदि भावनाओं का चिंतवन नहीं किया है उनका अब चिंतवन करता हूं और जिन मिथ्यादर्शन आदि भावनाओं का बार बार चिंतवन कर चुका हूं उनको अब छोड़ता हूं। पूर्व भावित भावनाओं को छोड़कर अपूर्व भावनाओं को भाता हूं क्योंकि इस प्रकार की भावनायें संसार के नाश का कारण होती हैं।

उसीप्रकार—

[टीकाकार श्री मुनिराज अपूर्व अद्वैत एक ज्ञानभावना को भाने के लिये प्रेरित करते हुए श्लोक कहते हैं—]

---

१. आत्मानुशासन श्लो० २३८ ।

(मालिनी)

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत् ।
तदपि भवभवेषु श्रूयते वाह्यते वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ।।१२१।।

---

(१२१) श्लोकार्थ—इस संसार समुद्र में डूबे हुये जीव ने पूर्व में निर्वाण के कारण रूप ऐसे कुछ भी जो वचनमात्र हैं उन वचनमात्र को भव भव में सुना है अथवा धारण भी किया है, किन्तु बड़े दुःख की बात है कि सर्वदा एक ज्ञानस्वरूप को नहीं सुना है और न धारण ही किया है ।

भावार्थ—अर्थात् जिनवचन मात्र को भावों से रहित होकर इस जीव ने सुना भी होगा और कुछ न कुछ अंश में धारण भी किया होगा किंतु मोक्ष के लिये साक्षात् कारण ऐसे अभेद रत्नत्रय स्वरूप एक अद्वैतरूप ज्ञान को नहीं प्राप्त किया है। समयसार में कहा भी है—

"तहि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतराग-सम्यक्त्वं च लभ्यते इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिरोधसिद्धिः[1] ।"

उस भेदज्ञान में ठंडई के समान अभेदनय से वीतरागचारित्र और वीतराग-सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, इसलिये सम्यग्ज्ञान से ही बंध के निरोध की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् जहां पर ज्ञानमात्र से बंध का अभाव होता है ऐसा कहा है वहां पर उस ज्ञान के साथ वीतरागचारित्र और वीतरागसम्यक्त्व अविनाभावी हैं, मतलब वह निश्चयरत्नत्रयरूप अवस्था विशेष का ज्ञान है ।

यहां पर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव महामुनि को भी वही ज्ञान विवक्षित है ।

---

१. गाथा ७२, टीका जयसेनाचार्यकृत पृ० ११७ ।

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण ।
सम्मत्तणाणचरणं, जो भावइ सो पडिक्कमणं ।।९१।।

मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।
सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिक्रमणम् ।।९१।।

मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान, मिथ्याचरित्र भव के कारण ।
इनको संपूर्णतया तजकर, जो करते अशुभ भाव वारण ।।
जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित को निशदिन भाते रहते हैं ।
वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं, क्योंकि वे निज में रहते हैं ।।९१।।

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषस्वीकारेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिक्रमणं भवति इत्युक्तम् । भगवदर्हत्परमेश्वर-मार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं, तत्रैवावस्तुनि वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानं, तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च, एतत्त्रितयमपि निरवशेषं त्यक्त्वा, अथवा स्वात्मश्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेवमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकरत्नत्रयम्, एतदपि त्यक्त्वा ।

गाथा ९१

अन्वयार्थ—[**मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं**] मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र को [**निरवशेषेण**] संपूर्ण रूप से [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**सम्यक्त्वज्ञानचरणं**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को [**यः**] जो-साधु [**भावयति**] भावित करता है, [**सः प्रतिक्रमणं**] वह-साधु प्रतिक्रमणरूप है ।

टीका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को संपूर्णतया स्वीकार करने से और मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र को परिपूर्णरूपतया त्याग करने से परम मुमुक्षु—महामुनि के निश्चयप्रतिक्रमण होता है, यहाँ पर ऐसा कथन किया है ।

भगवान् अर्हंत परमेश्वर के मार्ग के प्रतिकूल जो मार्गाभास है उसमें मार्गरूप से श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है, उसी अवस्तु में वस्तु की बुद्धि होना मिथ्याज्ञान है, और उनके कथित मार्ग का आचरण करना मिथ्याचारित्र है, इन तीनों का संपूर्णरूप से त्याग करके अथवा अपने आत्मस्वरूप का श्रद्धान उसी का परिज्ञान और उसी में अनुष्ठानस्थिरतारूप से चारित्र ऐसे निश्चयरत्नत्रय से विमुख होना ही मिथ्यादर्शन,

त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकलक्षणनिरंजननिजपरमपारिणामिकभावात्मककारणपरमात्मा ह्यात्मा, तत्स्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं हि निश्चयरत्नत्रयम्, एवं भगवत्परमात्मसुखाभिलाषी यः परमपुरुषार्थपरायणः शुद्धरत्नत्रयात्मकम् आत्मानं भावयति स परमतपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः ।

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी ।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे ॥१२२॥

मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप रत्नत्रय है, इनको भी छोड़कर, त्रिकाल में निरावरण नित्य ही एक स्वरूप निरंजन निज परमपारिणामिक भावात्मक जो कारण परमात्मा है, वह आत्मा ही है, उसके स्वरूप का श्रद्धान, परिज्ञान और उसी में आचरणस्वरूप ऐसा जो निश्चयरत्नत्रय है । इसप्रकार जो भगवान् परमात्मा के सुख के अभिलाषी महामुनि परमपुरुषार्थ-मोक्ष पुरुषार्थ में तत्पर हुए उस शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप आत्मा की भावना करते हैं वे परम तपोधन ही निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं ऐसा कहा है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निश्चयरत्नत्रय में प्रेरित करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२२) **श्लोकार्थ**—संपूर्ण विभावभावों को और व्यवहारमार्ग के रत्नत्रय को छोड़कर जो निजतत्त्व का अनुभव करने वाला बुद्धिमान–साधु शुद्धात्मतत्त्व में नियत–निश्चित ऐसा जो एक निजबोध है, अन्यरूप-निश्चय श्रद्धान है और अपर-निश्चयरूप जो चारित्र है उनको प्राप्त कर लेता है ।

विशेषार्थ—यहां पर विभावभावों को छोड़ने का उपदेश दिया है वैसे ही व्यवहाररत्नत्रय को भी छोड़ने का कथन है, क्योंकि उसको छोड़े बिना निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती है । किंतु इस पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय छोड़ा नहीं जाता है किंतु निर्विकल्पध्यान की अवस्था में निश्चय-

उत्तमअट्ठं आदा, तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥९२॥

उत्तमार्थं आत्मा तस्मिन् स्थिता घ्नन्ति मुनिवराः कर्म ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमणम् ॥९२॥

उत्तमपदार्थ यह आत्मा ही, जो उसमें स्थिर बसते हैं ।
वे मुनिवर उत्तमार्थ प्रतिक्रम, करके कर्मों को हनते हैं ॥
इसलिये ध्यान ही वास्तव में, बस उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहा ।
जो निर्विकल्प ध्यानी साधू, उनने ही परमानंद लहा ॥९२॥

रत्नत्रय के होने पर वह स्वयं ही छूट जाता है वहां पर बुद्धिपूर्वक छोड़ना या ग्रहण करना नहीं होता है । सो ही समयसार में टीकाकार श्री जयसेनाचार्य ने कहा है—

"निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति[1]" निर्विकल्प समाधि के समय व्रत और अव्रत का स्वयं ही प्रकरण नहीं रहता है । और भी कहा है कि "निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः किंतु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः[2] ।"

निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयरत्नत्रय में स्थित होने पर व्यवहार त्याग करने योग्य है, किंतु उस तीन गुप्ति से सहित अवस्था में व्यवहार स्वयं ही नहीं है ऐसा यहां तात्पर्य है ।

इसलिये जैसे मिथ्यात्व अविरति आदि को छोड़ा जाता है, वैसे ही व्यवहार रत्नत्रय को छोड़ने का प्रसंग नहीं आता है किंतु उत्कृष्ट ध्यान में लीन होने पर स्वयं ही व्यवहाररत्नत्रय छूट जाता है । ऐसा समझना ।

गाथा ९२

अन्वयार्थ—[**उत्तमार्थः**] उत्तम अर्थ–पदार्थ [**आत्मा**] आत्मा है, [**तस्मिन् स्थिताः मुनिवराः**] उस उत्तमार्थ में स्थित हुए मुनिवर [**कर्म घ्नंति**] कर्म का घात

---

१. गाथा १५४ टीका पृ. २१९ । २. गाथा २७६, २७७ की टीका में पृ. ३५७ ।

अत्र निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम्। इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखनासमये हि द्विचत्वारिंशद्धुराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्मो व्यवहारेण, निश्चयेन नवार्थेषूत्तमार्थो ह्यात्मा तस्मिन् सच्चिदानंदमयकारणसमयसार-स्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधनास्ते नित्यमरणभीरवः, अत एव कर्मविनाशं कुर्वन्ति। तस्मादध्यात्मभाषयोक्तभेदकरणध्यानध्येयविकल्पविरहितनिरवशेषेणान्तर्मुखाकारसकलेन्द्रियागोचरनिश्चयपरमशुक्लध्यानमेव निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणमित्यवबोद्धव्यम्। किं च, निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यशुक्लध्यानमयत्वादमृतकुम्भस्वरूपं भवति, व्यवहारोत्तमार्थप्रतिक्रमणं व्यवहारधर्मध्यानमयत्वाद्विषकुम्भस्वरूपं भवति।

तथाचोक्तं समयसारे—

कर देते हैं, [**तस्मात् तु**] इसलिए [**ध्यानं एव**] ध्यान ही [**हि**] निश्चितरूप से [**उत्तमार्थस्य**] उत्तमार्थ का [**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमण है।

टीका—यहां पर निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण के स्वरूप को कहा है।

यहां पर श्री जिनेश्वर के मार्ग में मुनियों की सल्लेखना के समय में निश्चितरूप से व्यालीस आचार्यों के द्वारा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण इस नाम से दिया जाने से देहत्यागरूप धर्म व्यवहार में होता है। अर्थात् सल्लेखना के समय आचार्य मुनि को उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुनाकर चतुर्विध आहार का त्याग कराते हैं वह व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। और निश्चयनय से नव अर्थ-नव पदार्थों में उत्तम पदार्थ आत्मा ही है, जो तपोधन सच्चिदानंदमय कारण समयसार रूप उस आत्मा में स्थित होते हैं वे नित्य ही मरण से भीरु हैं, इसीलिए वे कर्म का विनाश करते हैं। अतः अध्यात्मभाषा से कहे गये जो भेद को करने वाले ध्यान और ध्येय के विकल्प हैं उनसे रहित, निरवशेष रूप से अंतर्मुखाकार, संपूर्ण इंद्रियों से अगोचर निश्चय परम शुक्लध्यान ही निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ऐसा समझना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि यह निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अपने आत्मा के आश्रयभूत निश्चय धर्मध्यान, शुक्लध्यानमय होने से अमृत कुंभस्वरूप होता है, और व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहार धर्मध्यानमय होने से विषकुंभस्वरूप होता है।

समयसार में कहा है—

"पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो ।।"

तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम्—

(वसन्ततिलका)

"यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।

गाथार्थ—[1]"प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं ।"

उसीप्रकार से समयसार की व्याख्या में भी कहा है—

श्लोकार्थ—[2]"जहां पर प्रतिक्रमण ही विषरूप कहा है, वहां अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकेगा ? तो फिर जन-साधु नीचे-नीचे गिरते हुए प्रमाद क्यों करते हैं ? क्यों नहीं प्रमाद रहित होकर ऊपर-ऊपर चढ़ते हैं ?

विशेषार्थ—यहां गाथा में श्री कुंदकुंद देव ने निश्चयरूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण को शुद्धोपयोगी महामुनियों में घटित किया है । अतः व्यवहार उत्तमार्थ के लक्षण को आचार शास्त्रों से समझ लेना भी जरूरी है । ऐर्यापथिक आदि सात प्रकार के प्रतिक्रमणों में यह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अंतिम कहलाता है । अनगार धर्मामृत में इसका लक्षण ऐसा है—

"[3]उत्तमार्थो निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थो यावज्जीवं चतुर्विधाहार-परित्यागः" निःशेष दोषों की आलोचनापूर्वक शरीर के त्याग में समर्थ ऐसा जो जीवन-पर्यंत के लिये चार प्रकार के आहार का परित्याग करना वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । इस प्रतिक्रमण को करने वाले मुनियों की सल्लेखना के प्रसंग में यहां पर टीकाकार ने

---

१. समयसार गाथा ३०६ । २. समयसार कलश, १८६ ।

३. अनगार धर्मामृत पृ. ५७८ ।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥"

ब्यालीस आचार्यों के द्वारा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कराने का विधान बतलाया है। अन्यत्र आचार ग्रंथों में इसी प्रसंग में ४८ निर्यापकों का विधान है। वह इस प्रकार है—सल्लेखना ग्रहण करने वाले आचार्य अपने संघ को छोड़कर पर संघ में जाकर अन्य आचार्य की शरण लेते हैं वे सल्लेखना कराने में कुशल आचार्य निर्यापकाचार्य कहलाते हैं।

"[1]वह क्षपक निर्यापकाचार्य पर अपना सम्पूर्ण भार सौंपकर संस्तर पर आरोहण करता है और विधिवत् सल्लेखना को प्रारम्भ करता है। स्थिर बुद्धि वाले, धर्मप्रेमी, पापभीरु आदि अनेक गुणों से सम्पन्न और प्रत्याख्यान के ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपक की शुश्रूषा के योग्य माने गये हैं ऐसे निर्यापक यति अड़तालीस होते हैं। ये ४८ निर्यापक यति क्या-क्या उपकार करते हैं उसे बताते हैं—

निर्यापकाचार्य क्षपक की शरीर सेवा के लिये चार परिचारक मुनि नियुक्त करते हैं, चार मुनि धर्मकथा सुनाते हैं, चार मुनि क्षपक के आहार की व्यवस्था करते हैं, चार मुनि क्षपक के योग्य आहार के पेय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं, चार मुनि निष्प्रमादी हुये आहार की वस्तुओं की देखभाल करते हैं, चार मुनि क्षपक के मल-मूत्रादि विसर्जन, वसतिका, उपकरण, संस्तर आदि को स्वच्छ करते हैं, चार मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं अर्थात् असंयत आदि अयोग्यजनों को भीतर आने से रोकते हैं, चार मुनि उपदेश मंडप के द्वारों के रक्षण करने का भार लेते हैं, निद्राविजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण का कार्य करते हैं, चार मुनि जहां संघ ठहरा है उसके आसपास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते हैं, चार मुनि आये हुये दर्शनार्थी जनों को सभा में उपदेश सुनाते हैं, चार मुनि धर्मकथा कहने वाले मुनियों की सभा की रक्षा का भार लेते हैं। ऐसे ये ४८ मुनि क्षपक की सल्लेखना में पूर्ण सहायता करते हैं।

---

१. मूलाराधना पृ. ८४५ से ८६४ तक।

[1]आचार्य कहते हैं कि यदि भरतादि क्षेत्र में कदाचित् उत्कृष्ट रूप से इतने निर्यापक यति संभव न हों तो क्रम से ८४ भी हो सकते हैं अथवा देश काल के अनुसार उपर्युक्त गुणों से युक्त ४० भी होते हैं ऐसे चार-चार कम करते हुए, अंतिम चार निर्यापक तो अवश्य होना चाहिए। कदाचित् चार मुनि इन निर्यापक गुणों से युक्त नहीं मिल सके तो दो तो अवश्य होना चाहिए। क्योंकि एक निर्यापक का विधान आगम में नहीं है, बल्कि एक निर्यापक से असमाधि आदि अनेक हानि होने की संभावना हो सकती है।" इसप्रकार से मूलाराधना में वर्णन है, विशेष जिज्ञासुओं को वहां से देख लेना चाहिए।

इसप्रकार जो व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में समर्थ ऐसे पूर्ण निष्णात महामुनि हैं उन्हीं के निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण होता है। यहां पर टीकाकार ने तो निश्चयपरम शुक्लध्यान को ही निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहा है जो कि आज पंचमकाल में है ही नहीं क्योंकि शुक्लध्यान उत्तम संहनन धारी के श्रेणी में ही होता है ऐसा आगम का कथन है। ऐसे निर्विकल्प धर्मध्यान और शुक्लध्यानमय प्रतिक्रमण को टीकाकार ने अमृतकुंभ कहा है और उससे अतिरिक्त व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहा है। तथा उद्धरण में समयसार की गाथा दी है। इस समयसार गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि और श्री जयसेनाचार्य के अभिप्राय को भी देखिये—

"प्रश्न—[2]शुद्धात्मा की उपासना से क्या लाभ है जबकि प्रतिक्रमण आदि से ही यह जीव निरपराधी हो जाता है क्योंकि व्यवहाराचार सूत्र में भी कहा है कि "[3]अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि ऐसे आठ प्रकार के लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त न करना सो विषकुंभ है और इनसे विपरीत प्रतिक्रमणादि हैं उनसे लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करना वह अमृतकुंभ है ऐसा व्यवहारनय वाले का तर्क है।

---

१. अष्टचत्वारिंशत्संख्या। णिज्जवगा निर्यापकायतयः। मूलाराधना पृ. ८४८।

२. अमृतचन्द्रसूरिकृत टीका का सार, पृ. ३८९, ३९०।

३. अपडिक्कमणं ....२ गाथायें।

उत्तर—यहां निश्चयनय के प्रकरण में आचार्य कहते हैं कि "प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा आदि ये आठ विषकुंभ हैं इनसे विपरीत अप्रतिक्रमण आदि आठ अमृतकुंभ हैं।"

टीका में जो अज्ञानी जनों में साधारण अप्रतिक्रमण आदि हैं वे शुद्धात्मा की सिद्धि के अभाव स्वभाव वाले होने से स्वयं ही अपराध रूप हैं अतः विषकुंभ ही हैं उनके विचार करने का यहां क्या प्रयोजन है ? किन्तु द्रव्य प्रतिक्रमण आदि हैं वे संपूर्ण दोषों को दूर करने वाले होने से अमृतकुंभ होते हुए भी प्रतिक्रमण, अप्रतिक्रमण के विकल्प से परे ऐसे वीतराग निर्विकल्प ध्यानी मुनियों के लिये विषकुंभ हैं न कि छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिए।.....इसलिये ऐसा नहीं समझना कि ये आगम प्रतिक्रमण आदि को त्याग करने के लिये कह रहे हैं, किंतु ध्यानरूप कोई एक शुद्धात्म सिद्धि लक्षण दुष्कर अवस्था को प्राप्त कराना चाहते हैं ऐसा यहां अभिप्राय है। श्री जयसेनाचार्य कृत टीका में—

"किये हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है, सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा प्रतिसरण है, मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण परिहार है, पंचनमस्कारादि-मंत्र, प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के अवलम्बन से चित्त का स्थिर करना धारणा है, बाह्य विषय कषायों की इच्छा में रहते हुए चित्त को मोड़ना निवृत्ति है, आत्मसाक्षी से दोष प्रगटना निंदा है, गुरु की साक्षी से दोष प्रगट करना गर्हा है और दोषों के लगने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना शुद्धि है। ये आठ प्रकार का शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्व विषय कषायादि की परिणति रूप अशुभोपयोग की अपेक्षा से सविकल्प रूप सराग चारित्र की अवस्था में अमृतकुंभ है फिर भी ये रागद्वेषादि विभाव परिणामों से शून्य निर्विकल्प शुद्धोपयोग लक्षण जो तृतीय भूमि है उसकी अपेक्षा से वीतराग चारित्र में स्थित महामुनियों के लिए विषकुंभ ही है।" सारांश यह है कि यह व्यवहार प्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण के लिए साधक है, सविकल्प अवस्था में करना ही पड़ेगा और निर्विकल्प अवस्था में स्वयं छूट जावेगा।

---

१. पडिकमणं पडिसरणं..... ॥ ३०६ ॥
अपडिकमणं..... ॥ ३०७ ॥ } समयसार

२. जयसेनाचार्य कृत टीका पृ. ३८९, ३९०।

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपःकल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्वा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥१२३॥

झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

ध्याननिलीनः साधुः परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥९३॥

उसी प्रकार [टीकाकार श्री मुनिराज आत्मध्यान की प्रेरणा देते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२३) **श्लोकार्थ**—आत्मा के ध्यान से भिन्न अन्य सभी कुछ घोर संसार का मूलकारण है और ध्यान-ध्येय भेद हैं प्रमुख जिसमें ऐसा जो सम्यक् तप है वह भी कल्पना मात्र से सुन्दर है ऐसा समझकर बुद्धिमान् साधु सहज परमानन्दरूपी अमृत के पूर में डुबकी लगाते हुए ऐसे एक सहज परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—तपश्चरण के बारह भेदों में ध्यान तप अंतिम है वह निर्विकल्प रूप-एकाग्रस्थिति रूप होता है । यदि ध्याता में ध्यान और ध्येय के विकल्प विद्यमान हैं तो वह ध्यानरूप तप ध्यान नाम को प्राप्त तो हो रहा है किन्तु वास्तविक कार्य की सिद्धि नहीं कर पाता है इसलिये इसे कल्पना मात्र से ही सुन्दर कह दिया है । वास्तव में वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुक्लध्यान से ही कर्मों का नाश होकर सहज परमात्मारूप अर्हंत अवस्था प्रगट होती है अन्यथा नहीं, यहां यह अभिप्राय है ।

गाथा ९३

अन्वयार्थ—[**ध्याननिलीनः**] ध्यान में अतिशयरूप से लीन हुए [**साधुः**] साधु [**सर्वदोषाणां**] संपूर्ण दोषों का [**परित्यागं**] परित्याग [**करोति**] कर देते हैं

जब ध्यानमग्न साधु होते, गुणरूप स्वयं परिणमते हैं।
वे ही तो वीतराग होकर, संपूर्ण दोष को तजते हैं॥
इसलिये ध्यान ही वास्तव में, सर्वातिचार प्रतिक्रमण कहा।
यह निश्चय ध्यान शुक्ल संज्ञक, जिन पाया उनने कर्म दहा॥९३॥

अत्र ध्यानमेकमुपादेयमित्युक्तम्। कश्चित् परमजिनयोगीश्वरः साधुः अत्यासन्नभव्यजीवः अध्यात्मभाषयोक्त स्वात्माश्रितनिश्चयधर्म्यध्याननिलीनः निर्भेदरूपेण स्थितः, अथवा सकलक्रियाकांडाडंबरव्यवहारनयात्मकभेदकरणध्यानध्येयविकल्पनिर्मुक्तनिखिलकरणग्रामागोचरपरमतत्त्वशुद्धान्तस्तत्त्वविषयभेदकल्पनानिरपेक्षनिश्चयशुक्लध्यानस्वरूपे तिष्ठति च, स च निरवशेषेणान्तर्मुखतया प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाणां परित्यागं करोति, तस्मात् स्वात्माश्रितनिश्चयधर्म्यशुक्लध्यानद्वितयमेव सर्वातिचाराणां प्रतिक्रमणमिति।

[**तस्मात् तु**] इसलिये [**ध्यानं एव**] ध्यान ही [**हि**] निश्चित रूप से [**सर्वाति चारस्य**] सर्वातिचार का [**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमण है।

टीका—एक ध्यान ही उपादेय है ऐसा यहां पर कहा है।

कोई परमजिन योगीश्वर साधु जो कि अतिनिकट भव्य जीव हैं वे अध्यात्मभाषा से कथित अपने आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान में निश्चित रूप से लीन हुए अभेदरूप से स्थित होते हैं अथवा संपूर्ण क्रियाकांड के आडम्बर रूप व्यवहारनयात्मक और भेद के करने वाले जो ध्यान-ध्येय के विकल्प हैं उनसे रहित सकल इन्द्रियों के समूह के अगोचर, परमतत्त्वरूप शुद्धचैतन्यतत्त्व विषयक भेद कल्पना से निरपेक्ष जो निश्चय शुक्लध्यान का स्वरूप है उसमें स्थित होते हैं, वे साधु निरवशेषरूप से अंतर्मुख होने से प्रशस्त और अप्रशस्त रूप समस्त मोह, राग-द्वेष को परित्याग कर देते हैं। इसलिये अपने आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों ध्यान ही संपूर्ण अतिचारों के लिए प्रतिक्रमण हैं ऐसा अर्थ हुआ है।

विशेषार्थ—यहां पर सर्वातिचार प्रतिक्रमण के विषय में निश्चयप्रतिक्रमण को कहते हुए उसे निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान की संज्ञा दी है। व्यवहार

(अनुष्टुभ्)

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥१२४॥

पडिकमणणामधेये, सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं ।
तह णच्चा जो भावइ, तस्स तदा होवि पडिकमणं ॥९४॥

प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथा वर्णितं प्रतिक्रमणम् ।
तथा ज्ञात्वा यो भावयति तस्य तदा भवति प्रतिक्रमणम् ॥९४॥

सर्वातिचार प्रतिक्रमण का लक्षण "[1]सर्वातिचारा दीक्षाग्रहणात्प्रभृति सन्यासग्रहणकालं यावत्कृता दोषाः" दीक्षाग्रहण काल से लेकर संन्यासग्रहण कालपर्यंत जितने दोष हुए हैं वे सर्वातिचार हैं उनका शोधन भी अंतसमय में ही होता है यह प्रतिक्रमण उत्तमार्थ में ही सम्मिलित होता है। व्यवहार प्रतिक्रमण के बल से जब निश्चय प्रतिक्रमण रूप ध्यान का अवलम्बन ले लेता है तब साधु कर्मों का भी नाश करके केवलज्ञान रूप ज्योति को प्रगट कर लेता है ऐसा अभिप्राय है।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज शुक्लध्यान के महत्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२४) **श्लोकार्थ**—यह शुक्लध्यानरूपी प्रदीप जिसके मनरूपी गृह में सुशोभित हो रहा है वह योगी है उसके स्वयं शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है।

भावार्थ—शुक्लध्यान के बल से ही आत्मा में शुद्ध परमात्मा प्रगट हो जाता है अन्यथा नहीं ऐसा अभिप्राय है।

गाथा ९४

अन्वयार्थ—[**प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे**] प्रतिक्रमण नाम वाले सूत्र में [**यथा प्रतिक्रमणं वर्णितं**] जिसप्रकार से प्रतिक्रमण का वर्णन किया है [**तथा ज्ञात्वा**] उसी

---

१. अनगार धर्मामृत पृ. ५७९।

प्रतिक्रमण नाम के सूत्रों में, जैसा वर्णित है प्रतिक्रमण ।
इस युग में श्री गौतम स्वामी, द्वारा विरचित वह प्रतिक्रमण ।।
उनको वैसे ही जान पुनः जो उसको भाते रहते हैं ।
उनके ही प्रतिक्रमण होता, जो उभय प्रतिक्रम करते हैं ।।९४।।

अत्र व्यवहारप्रतिक्रमणस्य सफलत्वमुक्तम् । यथा हि निर्यापकाचार्यैः समस्तागमसारासारविचारचारुचातुर्यगुणकदम्बकैः प्रतिक्रमणाभिधानसूत्रे द्रव्यश्रुतरूपे व्यावर्णितमतिविस्तरेण प्रतिक्रमणं, तथा ज्ञात्वा जिननीतिमलंघयन् चारुचरित्रमूर्तिः सकलसंयमभावनां करोति, तस्य महामुनेर्बाह्यप्रपंचविमुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमगुरुचरणस्मरणात्तचित्तस्य तदा प्रतिक्रमणं भवतीति ।

प्रकार से जानकर [**यः भावयति**] जो साधु उसको भाता है [**तस्य तदा प्रतिक्रमणं भवति**] उस साधु के उस काल में प्रतिक्रमण होता है ।

टीका—यहां पर व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता को कहा है ।

संपूर्ण आगमज्ञान से सारासार विचार में श्रेष्ठ चतुरता आदि गुण समूह के धारक ऐसे निर्यापकाचार्यों के द्वारा द्रव्यश्रुत रूप प्रतिक्रमण नामक सूत्रों में प्रतिक्रमण का जैसे अतिविस्तार से वर्णन किया गया है वैसे ही उसको जानकर जिनेन्द्रभगवान की नीति का उलंघन न करते हुए उत्तम चारित्र की मूर्तिस्वरूप ऐसे मुनिराज सकल संयम की भावना को करते हैं, बाह्यप्रपंचों से विमुख पंचेन्द्रिय के विस्तार से रहित देहमात्र परिग्रह को धारण करने वाले और परमगुरु के चरणों के स्मरण में अनुरक्त चित्तवाले ऐसे उन महामुनि के उसकाल में प्रतिक्रमण होता है ऐसा समझना ।

विशेषार्थ—यहां पर प्रतिक्रमणदण्डक के उच्चारण में जो निर्यापकाचार्य का वर्णन है उसके विषय में सल्लेखना कराने वाले निर्यापकों के अतिरिक्त अन्य भी निर्यापक कहलाते हैं ऐसा प्रवचनसार में कहा है—

"[1]लिंगग्गहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेस्सा णिज्जावगा समणा ।।२१०।।"

---

१. प्रवचनसार पृ. ५०७ ।

गाथार्थ—लिंगग्रहण-दीक्षाग्रहण के समय जो दीक्षादायक हैं वह उनके दीक्षा गुरु हैं और छेदद्वय में उपस्थापक हैं वे श्रमण निर्यापक हैं।

प्रव्रज्यादायक के समान ही अन्य भी निर्यापक संज्ञक गुरु हैं। दीक्षादायक गुरु दीक्षागुरु हैं, शेष श्रमण निर्यापक हैं वे शिक्षागुरु हैं। एक देशव्रत में या सर्वदेश व्रत में छेद होने पर प्रायश्चित्त देकर संवरण करते हैं वे निर्यापक शिक्षागुरु हैं और श्रुतगुरु हैं।

वर्तमान में जो दैवसिक, पाक्षिक प्रतिक्रमण के सूत्र हैं वे श्री गौतमगणधर द्वारा रचित हैं ऐसा कथन श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने किया है। दूसरी बात यह है कि "जो पाक्षिक प्रतिक्रमण है तथा चातुर्मासिक और संवत्सरिक और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण हैं उनमें बहुत से पाठ ऐसे हैं जो आचार्य और सर्व शिष्यगण मिलकर करते हैं। कुछ पाठ ऐसे हैं जो केवल शिष्यवर्ग ही पढ़ते हैं और बहुत से दण्डक पाठ वे हैं जिन्हें केवल आचार्य ही पढ़ते हैं शेष सभी मुनि आदि शिष्यगण ध्यान मुद्रा से बैठे हुए श्रवण करते हैं यहां पर ऐसी विवक्षा है।"

यहां पर जो "जिननीति अलंघन" ऐसा पाठ है उसका अर्थ यह है कि जिनेंद्र-देव का वर्तमान के साधुओं के लिए समय-समय पर प्रतिक्रमण करने का जो आदेश है उसे पालन करना ही चाहिए। यथा—"[1]आजकल के साधु दुःषम काल के निमित्त से वक्र और जड़ स्वभाव वाले हैं, स्वयं भी किये हुये व्रतों के अतिचारों का स्मरण नहीं रख पाते हैं और चंचलचित्त होने से प्रायः बार-बार अपराध करते हैं। इसलिये ईर्यापथ दैवसिक आदि प्रसंगों में दोष होवें या न होवें किन्तु उन साधुओं को सर्वातिचार की विशुद्धि के लिये सभी प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करना ही चाहिए। उनमें से जिस किसी में भी चित्त स्थिर हो जाता है तो संपूर्ण दोषों का विशोधन हो जाता है। कहा भी है—"[2]आदि जिनेन्द्र और अंतिम जिनेन्द्र के समय (शासन) के शिष्यों को यथासमय प्रतिक्रमण करना ही चाहिए चाहे दोष होवें या न होवें किन्तु मध्यम २२ तीर्थंकरों के शिष्यों के लिये अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण का आदेश है।"

---

१. अनगार धर्मामृत पृ. ५८२, ५८३।

२. सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधे प्रतिक्रांतिर्मध्यमानां जिनेशिनाम्॥ अनगार धर्मामृत पृ. ५८३॥

(इन्द्रवज्रा)

निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता-
मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम् ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्
तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ॥१२५॥

(वसंततिलका)

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो-
र्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम् ॥१२६॥

[टीकाकार मुनिराज संयमी मुनि और श्री वीरनंदि मुनि को नमस्कार करते हुए दो श्लोकों द्वारा इस प्रतिक्रमण अधिकार को पूर्ण करते हुए कहते हैं—]

(१२५) **श्लोकार्थ**—निर्यापक आचार्यों की निरुक्ति-व्याख्या सहित (प्रतिक्रमण आदि संबंधी) कथन को सदा सुनकर जिनका हृदय समस्त चारित्र का निवासगृह हो चुका है ऐसे उन संयमधारी मुनि को मेरा नमस्कार होवे ।

(१२६) **श्लोकार्थ**—जिन मुमुक्षु के सदा प्रतिक्रमण ही है और अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है । अतिशय रूप से सकलसंयम ही है भूषण जिनका ऐसे उन श्री वीरनंदि नाम के मुनिराज को नित्य ही मेरा नमस्कार होवे ।

भावार्थ—यहां पर टीकाकार श्री मुनिराज ने संयम के स्थान स्वरूप ऐसे श्री वीरनंदि मुनिराज को नमस्कार किया है । ये इनके शिक्षा गुरु आदि कोई गुरु अवश्य ही होंगे ऐसा प्रतीत होता है । इसप्रकार से यहां इस अधिकार में निश्चय प्रतिक्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हुए अंतिम गाथा में श्री आचार्य देव ने व्यवहार प्रतिक्रमण को भी करने का आदेश स्पष्ट किया है ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल-धारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रतिक्रमणाधिकारः पंचमः श्रुतस्कन्धः ॥

इस प्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्यस्वरूप पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित गात्र मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चयप्रतिक्रमण अधिकार नामक पंचम श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।

[६]

निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार

अथेदानीं सकलप्रव्रज्यासाम्राज्यविजयवैजयन्तीपृथुलदंडमंडनायमानसकलकर्म निर्जराहेतुभूतनिःश्रेयनिश्रेणीभूतमुक्तिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूतनिश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः कथ्यते । तद्यथा—

अत्र सूत्रावतारः ।

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥९५॥

अब निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार को कहते हैं—जो कि सफल प्रव्रज्या मुक्ति दीक्षा रूपी साम्राज्य की विजय पताका के विशाल दण्ड को विभूषित करने वाले मुख्य के समान है, सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा में हेतुभूत है, मोक्षमहल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान है, और मुक्तिसुन्दरी से प्रथम मिलन में भेंट रूप है, ऐसा यह निश्चय प्रत्याख्यान है । उसी को कहते हैं—यहां पर गाथा सूत्र का अवतार होता है—

गाथा ९५

अन्वयार्थ—[यः] जो-साधु [**सकलजल्पं**] सम्पूर्ण जल्प को [मुक्त्वा] छोड़कर [**अनागत शुभाशुभ निवारणं कृत्वा**] अनागत शुभ-अशुभ का निवा

मुक्त्वा सकलजल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य ॥९५॥

गीताछंद

जो मुनि अंतर्बाह्य, सकल जल्प को तजके ।
भावी शुभ वा अशुभ, भाव निवारण करके ॥
परम ध्यान में लीन, आत्मा को ध्याते हैं ।
निश्चय प्रत्याख्यान, उनके मुनि गाते हैं ॥९५॥

निश्चयनयप्रत्याख्यानस्वरूपाख्यानमेतत् । अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं प्रत्याविष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचयः, एतद् व्यवहार-प्रत्याख्यानस्वरूपम् । निश्चयनयतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनाप्रपंचपरिहारेण शुद्धज्ञानभावनासेवाप्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणां संवरः प्रत्याख्यानम् । यः सदान्तर्मुखपरिणत्या परमकलाधारभूतमपूर्वमात्मानं ध्यायति तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति ।

करके [आत्मानं ध्यायति] अपनी आत्मा का ध्यान करता है, **[तस्य]** उस साधु के **[प्रत्याख्यानं]** प्रत्याख्यान **[भवेत्]** होता है ।

टीका—निश्चयनय के प्रत्याख्यान के स्वरूप का यह कथन है ।

यहां पर, व्यवहारनय के कथन से मुनिगण प्रतिदिन भोजन करके पुनः योग्य कालपर्यन्त अन्नपान, खाद्य और लेह्य की रुचिवाले ऐसे चार प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं, यह व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है । निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त रूप संपूर्ण वचन व्यापार के विस्तार को छोड़करके शुद्धज्ञान भावना की सेवा के प्रसाद से नवीन शुभ-अशुभरूप द्रव्यकर्म और भावकर्मों का संवर होना वह प्रत्याख्यान (निश्चय प्रत्याख्यान) है । जो सदा अन्तर्मुख परिणति से परमकला के आधारभूत ऐसे अतिशय-अपूर्व आत्मा का ध्यान करता है उस साधु के नित्य ही प्रत्याख्यान होता है । ऐसे ही समयसार में कहा है ।

तथा चोक्तं समयसारे—

"सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।।"

तथा समयसारव्याख्यायां च—

(आर्या)

"प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।"

"गाथार्थ"—जिस हेतु से सभी भावों को अपने से भिन्न सभी पदार्थों को 'ये पर हैं' इस प्रकार से जानकर त्याग करता है, उसी हेतु से 'पर हैं' ऐसा जानना ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा नियम से जानना चाहिये ।"

इसी प्रकार समयसार टीका में भी कहा है—

"श्लोकार्थ—भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके जिसका मोह-राग द्वेष नष्ट हो चुका है ऐसा मैं निष्कर्म-सम्पूर्ण कर्मों से रहित चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा नित्य ही वर्तता हूं—रहता हूं ।"

भावार्थ—आचार्य श्री ने निश्चयप्रत्याख्यान का वर्णन किया है । टीकाकार ने पहले व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप बतला दिया है । साधु आहार के अनन्तर तत्क्षण वहीं पर सिद्धभक्तिपूर्वक अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग कर देते हैं पुनः गुरु के पास आकर गोचार प्रतिक्रमण करके सिद्धभक्ति और योगिभक्ति पूर्वक गुरु से प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं अर्थात् गुरु उन्हें अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग दे देते हैं । यह मूलाचार के अनुसार प्रत्याख्यान है । निश्चयप्रत्याख्यान उस अवस्था में होता है जब साधु के समस्त शुभ अशुभरूप अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प समाप्त हो जाते हैं, अन्तर्मुख परिणति ऐसी हो जाती है कि

---

१. गाथा ३४

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः ।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चै-
स्तं वंदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ॥१२७॥

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो, सो हं इदि चिंतए णाणी ॥९६॥

बाहर का कुछ भी भान नहीं रहता है अर्थात् आत्मा का उपयोग अपने स्वरूप में तन्मय हो जाता है ऐसी शुद्धोपयोग की अवस्था विशेषरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में ही यह प्रत्याख्यान घटित होता है ।

उसीप्रकार से—[टीकाकार श्री मुनिराज प्रत्याख्यान स्वरूप मुनिराज की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२७) श्लोकार्थ—जो सम्यग्दृष्टि संपूर्ण कर्म और नोकर्म के समूह को छोड़ देता है, उस सम्यग्ज्ञान की मूर्तिस्वरूप साधु के निश्चित ही प्रत्याख्यान होता है और उसके ही पापसमूह को नष्ट करने वाले ऐसे सम्यक्चारित्र भी अतिशयरूप से होते हैं, ऐसे उन रत्नत्रय स्वरूप मुनिराज को मैं भव के परिभव तिरस्कार स्वरूप क्लेश का नाश करने के लिये नित्य ही वंदन करता हूं ।

भावार्थ—यहां पर सम्यग्दृष्टि शब्द से वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व से सहित निश्चय सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया गया है, क्योंकि उसी के ही सामायिक आदि से यथाख्यात पर्यन्त सभी चारित्र हो सकते हैं ऐसे मुनिराज ही अपने तथा हमारे भव के पराभव से होने वाले दुःखों को नाश करने में समर्थ होते हैं, इसीलिए यहां उनको नमस्कार किया है ।

गाथा ९६

अन्वयार्थ—[**केवलज्ञान स्वभावः**] केवलज्ञान स्वभाव वाला, [**केवलदर्शन स्वभावः**] केवलदर्शन स्वभाव वाला, [**सुखमयः**] सुखस्वरूप और [**केवलशक्ति**

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुखमयः ।
केवलशक्तिस्वभावः सोहमिति चिंतयेत् ज्ञानी ॥९६॥

केवलज्ञान स्वभाव, केवलदर्श स्वभावी ।
केवलसौख्य स्वभाव, केवलशक्ति स्वभावी ॥
जो इन चारस्वरूप, सो हीं मैं हूं इसविध ।
चिंतन करते नित्य, सो ज्ञानी मुनि निश्चित ॥९६॥

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोयम् । समस्तबाह्यप्रपंचवासनाविनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्तर्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता । कथंकारम् ? *साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण, शुद्धस्पर्शरसगंधवर्णनामाधारभूतशुद्धपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा यः सोहमिति भावना कर्तव्या ज्ञानिनेति, निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोहम्, सहजदर्शनस्वरूपोहम्, सहजचारित्रस्वरूपोहम्, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोहम्, इति भावना कर्तव्या चेति—

स्वभावः] केवलवीर्य स्वभाव वाला, [**सः अहं**] वह मैं ही हूं [**इति ज्ञानी**] इसप्रकार से ज्ञानी साधु [**चिंतयेत्**] चिंतवन करें ।

टीका—अनन्तचतुष्टय स्वरूप अपनी आत्मा के ध्यान के उपदेश का यह कथन है ।

समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से रहित, संपूर्णतया अन्तर्मुख हुए परमतत्त्व ज्ञानी जीव को शिक्षा दी गई है । किसप्रकार से ? सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से शुद्ध स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गल परमाणु के सदृश 'केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य से युक्त जो परमात्मा है, वह मैं ही हूं' ज्ञानी को इस प्रकार से भावना करनी चाहिये, यहां यह अर्थ है और निश्चयनय से मैं सहजज्ञान स्वरूप हूं, मैं सहज दर्शन स्वरूप हूं, मैं सहज चारित्रस्वरूप हूं, तथा मैं चैतन्य शक्तिस्वरूप हूं, ऐसी भावना करनी चाहिए, ऐसा समझना ।

---

* अनाद्य (पुराने संस्करण में आद्य के स्थान पर 'अनाद्य' शब्द है)

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

"केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ।।"

तथा हि—

(मालिनी)

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ।।१२८।।

इसी प्रकार एकत्व सप्तति में भी कहा है—

"**श्लोकार्थ**—[1]वह परमतेज केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसौख्य स्वभावी है । उसके जान लेने पर क्या नहीं जाना गया ? उसके देख लेने पर क्या नहीं देखा गया ? और उसके सुन लेने पर क्या नहीं सुना गया है ?"

उसीप्रकार से—[टीकाकार श्री मुनिराज उसी परमतत्त्व की भावना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२८) श्लोकार्थ—सकल मुनिजनों के मन सरोज का हंस स्वरूप ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकल विमल दर्शनरूप, शाश्वत आनन्द-सौख्यरूप और सहज परमचैतन्य वीर्यरूप परमात्मा है वह जयशील होता है ।

भावार्थ—स्वाभाविक अनन्तचतुष्टय से युक्त परमात्मा निश्चयनय से अथवा शक्तिरूप से मुनियों के हृदयकमल में विराजमान है वो ही कारण परमात्मा है क्योंकि शुद्धोपयोगी साधु ही ऐसी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हुए उसमें तन्मय हो जाते हैं, ऐसे कारण परमात्मा को यहां पर टीकाकार ने जयवन्त कहा है ।

---

१. पद्मनंदिपंचवि० के एकत्वसप्तति अ. में श्लो. २० ।

णियभावं णवि मुच्चइ[1], परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सो हं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

निजभावं नापि मुंचति परभावं नैव गृह्णाति कमपि ।
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चिंतयेद् ज्ञानी ॥९७॥

ज्ञानादि निज भाव, जो मुनि कभी न तजते ।
किस ही भी परभाव, को जो ग्रहण न करते ॥
निजपर ज्ञेय स्वरूप, सबको देखें जाने ।
सो ही मैं हूं नित्य, ज्ञानी इसविध माने ॥९७॥

अत्र परमभावनाभिमुखस्य ज्ञानिनः शिक्षणमुक्तम् । **यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीरवैरिसेनाविजयवंजयन्तीलुंटाकं त्रिकालनिरावरणनिरंजननिजपरमभावं क्वचिदपि नापि मुंचति, पंचविधसंसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यसंयोगसंजातं रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरंजनसहजज्ञानसहज-**

गाथा ९७

अन्वयार्थ—[**निजभावं**] जो निजभाव को [**न अपि मुंचति**] नहीं छोड़ता है और [**कम् अपि परभावं**] किसी भी परभाव को [**न एव गृह्णाति**] ग्रहण नहीं करता है, (मात्र) [**सर्वं**] सब को [**जानाति पश्यति**] जानता देखता है, [**सः अहं**] वह मैं हूं [**इति**] इसप्रकार से [**ज्ञानी चिंतयेत्**] ज्ञानी चिंतवन करे ।

टीका—यहां पर परभावना के अभिमुख हुए ऐसे ज्ञानी को शिक्षण दिया है ।

जो कारणपरमात्मा, सम्पूर्ण पापरूपी वीर वैरी की सेना की विजयपताका के लूटने वाले तीनों कालों में निरावरण निरञ्जन निज परमभाव को कहीं पर भी—किसी अवस्था में भी नहीं छोड़ता है, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप ऐसे पांच प्रकार के संसार की प्रकृष्ट वृद्धि के लिए कारणभूत, विभाव पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए ऐसे रागादि परभावों को ग्रहण नहीं करता है, और निश्चयनय से अपने निरावरण परमज्ञान के द्वारा, निरंजन रूप, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशील

---

१. मुंचइ (क) पाठान्तर

दृष्टिसहजशीलादिस्वभावधर्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदामुक्तं सहजमुक्ति-भामिनीसंभोगसंभवपरतानिलयं कारणपरमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

"यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।"

तथा हि—

(वसंततिलका)

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा
जानाति पश्यति च पंचमभावमेकम् ।
तत्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम् ।।१२९।।

आदि स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों से निर्मुक्त होते हुए भी सदा युक्त, सहज मुक्तिरूपी सुन्दरी के संयोग से उत्पन्न हुए सौख्य के स्थानभूत ऐसे ऐसे कारणपरमात्मा को जानता है और उसीप्रकार के सहजदर्शन के द्वारा देखता है, वह कारणसमयसार मैं हूं, सम्यग्ज्ञानियों को सदा ऐसी भावना करनी चाहिए ।

उसीप्रकार से श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—जो अग्राह्य—नहीं ग्रहण करने योग्य को तो ग्रहण नहीं करता है और ग्रहण किये हुए—अपने स्वाभाविक स्वभाव को नहीं छोड़ता है तथा सबको सभी प्रकार से जानता है वह स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानने योग्य मैं हूं ।"

उसीप्रकार से—[टीकाकार भी विभावभाव को छोड़कर स्वभाव में स्थिर होने के लिए प्रेरणा देते हुए चार श्लोक कहते हैं—]

(१२९) श्लोकार्थ—आत्मा अपने आत्मगुणों से समृद्ध, पंचमभावरूप—परम पारिणामिक भाव स्वरूप ऐसी एक आत्मा को अपनी आत्मा में जानता है और देखता है, उस सहज, पंचमभाव स्वरूप आत्मा को आत्मा ने छोड़ा ही नहीं है, तथा निश्चित रूप से जो पौद्गलिक विकाररूप अन्य परभाव हैं उनको ग्रहण ही नहीं करता है,

(शार्दूलविक्रीडित)

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा-
वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम् ।
तच्चित्रं न विशुद्धपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे
देवानाममृताशनोद्भवरुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने ॥१३०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
तान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम् ।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम् ॥१३१॥

अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है पुनः स्वभाव को छोड़ने और परभाव को ग्रहण करने की कुछ बात ही नहीं उठती है। निश्चयनय के अवलम्बन से ऐसे निज के स्वभाव को समझकर उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

(१३०) **श्लोकार्थ**—यह मेरा मन अन्य द्रव्य के आग्रह करने से या अन्य द्रव्य को आ–समंतात् सब तरफ से ग्रहण करने से उत्पन्न हुए इस शरीर को या विग्रह। राग-द्वेषादि कलह को छोड़कर इससमय विशुद्धपूर्ण, सहज ज्ञानस्वरूप सुख के लिये चिन्मात्र चिन्तामणि स्वरूप ऐसे मुझ में हमेशा लीन हो गया है, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि अमृत भोजन से उत्पन्न स्वाद को जानकरके देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ—एक बार अमृत का आस्वाद आ जाने पर कौन ऐसा है कि जो अन्य खारा जल पीना चाहेगा ? उसीप्रकार से एक बार जिनको अपने ही घट में विराजमान भगवान् आत्मा के अनुभव का आनन्द आ चुका है वह साधु क्या पर संकल्प विकल्पों में या ऐसे निकृष्ट शरीर में आनन्द मानेगा ? नहीं मानेगा, वह तो अपने स्वरूप में ही तन्मय होकर कर्मों का नाश करके रहेगा।

(१३१) **श्लोकार्थ**—द्वन्द्व रहित, उपद्रव रहित, उपमा रहित, नित्य अपनी आत्मा मे उत्पन्न होने वाले, और अन्य द्रव्य की विभावना–विकल्प से उत्पन्न न होने

(आर्या)

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात् ।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चनासमुद्भूतम् ॥१३२॥

वाले निर्मल सुखरूपी अमृत को पीकरके जो सुकृतात्मा-पुण्यात्मा इससमय इस सुकृत पुण्य को भी छोड़कर प्रगटरूप से अद्वितीय और अतुल ऐसे चिन्मात्र चिंतामणि को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—लोक में चिंतामणि रत्न चिंतित वस्तु को देने वाला होता है वैसे ही यह चिन्मात्र चिन्तामणि रत्नस्वरूप आत्मा अपने इस देह रूपी देवालय में विराजमान है, जो उसको प्राप्त करते हैं उनको सम्पूर्ण अलौकिक अचिन्त्य ऐसे अनन्तगुण रूप फल मिल जाते हैं, पुनः चिंतित की तो बात ही क्या है ? वे पुण्यात्मा पुण्य की राशिस्वरूप हैं फिर भी पुण्य को छोड़कर ऐसे फल को प्राप्त करते हैं अर्थात् पुण्य पापरूपी सभी कर्मों के निरोध से ही पूर्णतया कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है, यह पुण्य का छूटना वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयध्यान में ही होता है उसके पूर्व नहीं ।

(१३२) **श्लोकार्थ**—गुरु के चरणों की सम्यक्प्रकार अर्चना से उत्पन्न हुई ऐसी निजमहिमा को जानते हुए कौन विद्वान ऐसा कहता है कि यह परद्रव्य मेरा ही है ? अर्थात् कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं कहता है, अज्ञानी ही कहते हैं ।

भावार्थ—वास्तव में गुरुदेव के चरणकमलों की उपासना से ही अपने आत्मस्वरूप का सही बोध होता है, जो गुरुचरणों का आश्रय नहीं लेते हैं वे शास्त्र के सच्चे मर्म को न समझकर एकान्त से निश्चयाभासी बन जाते हैं । गुरुपरम्परागत अर्थ को समझने के लिये और आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के प्रयत्नों का अभ्यास सीखने के लिये गुरुओं का आश्रय लेना चाहिये । और तो क्या ? तीर्थंकर भी पूर्वभवों में गुरुओं के पादमूल में दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों आदि का अध्ययन कर तथा गुरुओं के पादमूल में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं । गुरुओं के पादमूल के अतिरिक्त तीर्थंकर प्रकृति का बंध और क्षायिक सम्यक्त्व हो नहीं सकते हैं ऐसा नियम है । गुरुओं के आश्रय की अचिन्त्य महिमा है ।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा ।
सो हं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥९८॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैर्विवर्जित आत्मा ।
सोहमिति चिंतयन् तत्रैव च करोति स्थिरभावम् ॥९८॥

प्रकृति स्थिति अनुभाग, और प्रदेश कहाये ।
इन बंधों से शून्य, आत्मा शुद्ध कहाये ॥
सो ही मैं हूं नित्य ऐसा चिन्तन करते ।
उसमें ही थिर भाव, वे साधू नित धरते ॥९८॥

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् । शुभाशुभमनोवाक्कायकर्मभिः प्रकृतिप्रदेशबंधौ स्याताम्; चतुर्भिः कषायैः स्थित्यनुभागबन्धौ स्तः, एभिश्चतुर्भिर्बन्धैर्निर्मुक्तः सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरन्तरं भावना कर्तव्येति ।

गाथा ९८

अन्वयार्थ—[**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः विवर्जितः**] प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध इन बंधों से रहित, [**आत्मा**] जो आत्मा है, [**सः अहं**] वह मैं हूं, [**इति चिंतयन्**] ऐसा चिंतवन करते हुए ज्ञानी [**तत्र एव च**] उसी आत्मा में [**स्थिरभावं**] स्थिर भाव को [**करोति**] करता है ।

टीका— बंध से निर्मुक्त आत्मा की भावना करना चाहिये, इसप्रकार भव्य को यहां शिक्षा दी है ।

शुभ तथा अशुभ मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रियाओं से प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध होते हैं तथा चार कषायों से स्थितिबंध और अनुभागबन्ध होते हैं, इसप्रकार के बंधों से रहित सदा उपाधिरहित स्वरूपवाला ही जो आत्मा है वह मैं हूं इसप्रकार से सम्यग्ज्ञानी को निरन्तर भावना करनी चाहिए ।

[अब टीकाकार चिच्चमत्कार मात्र में बुद्धि लगाने का उपदेश देते हुए कहते हैं—]

(मंदाक्रांता)

प्रेक्षावद्भिः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वचःसारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ॥१३३॥

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे ॥९९॥

ममत्वं परिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि ॥९९॥

मैं ममत्व का त्याग, करता हूं सब परका ।
सुस्थित होता हूं, निर्ममत्व में रुचि से ॥
मेरा आत्मा एक, मेरा आलम्बन है ।
तजता हूं सब शेष, जो दुख के साधन हैं ॥९९॥

---

(१३३) **श्लोकार्थ**—बुद्धिमानजनों को मुक्ति साम्राज्य के मूलकारण, निरुपम, सहजपरमानन्दमय चैतन्यस्वरूप यह एक आत्मा ही सम्यक्प्रकार ग्रहण करने योग्य है, इसलिये हे मित्र ! तुम भी सारभूत ऐसे मेरे वचनों को सुनकरके अतिशयरूप से चिच्चमत्कार मात्र इस आत्मा में शीघ्र ही अपनी बुद्धि लगाओ ।

भावार्थ—यह आत्मा चिच्चमत्कार मात्र है इसके ध्यान करने से अलौकिक तीनों लोकों को और तीनों कालों को एक साथ जानने वाला परम चमत्कारिक दिव्य-ज्योतिरूप केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

गाथा ९९

अन्वयार्थ—[**ममत्व परिवर्जयामि**] मैं ममत्व को छोड़ता हूं, और [**निर्ममत्वं उपस्थितः**] *निर्ममत्व में स्थित होता हूं,* [***आत्मा च मे आलम्बनं***] *आत्मा ही मेरा* **आलम्बन है,** [**अवशेषं च [1]व्युत्सृजामि**] अवशेष सभी को मैं छोड़ता हूं ।

---

१. मुद्रित प्रतियों में विसृजामि है ।

अत्र सकलविभावसंन्यासविधिः प्रोक्तः । कमनीयकामिनीकांचनप्रभृतिसमस्तपरद्रव्यगुणपर्ययेषु ममकारं संत्यजामि । परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्म्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाद्यनेकविभावपरिणतिं परिहरामि ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(शिखरिणी)

"निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममृतं तत्र निरताः ॥"

टीका—यहां पर सम्पूर्ण विभाव के त्याग की विधि का कथन है । सुन्दर कामिनी, कांचन सुवर्ण आदि सम्पूर्ण परद्रव्य और उनकी गुणपर्यायों में मैं ममकार भाव को छोड़ता हूं । परमोपेक्षा लक्षण से लक्षित निर्ममकार स्वरूप आत्मा में स्थिर होकर और निश्चितरूप से आत्मा का ही अवलम्बन लेकर संसाररूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न हुए सुख दुःखादि रूप अनेक विभाव परिणति का मैं त्याग करता हूं ।

उसी प्रकार से अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—[1]निश्चितरूप से पुण्य और पापरूप सम्पूर्ण कर्मों के निषिद्ध हो जाने पर—छूट जाने पर तथा निष्कर्मरूप बाह्य क्रियाओं से शून्य अवस्था के हो जाने पर वास्तव में मुनिराज अशरणरूप नहीं हैं । उस काल में ज्ञान में आचरण—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों के लिये शरण है, वे उस ज्ञान में लीन होते हुए स्वयं परम अमृत का अनुभव करते हैं ।"

भावार्थ—वीतरागी मुनि जब शुद्धोपयोग रूप ध्यान में लीन हो जाते हैं तब उनके पुण्य और पाप की क्रियाओं का सम्पूर्ण व्यापार रुक जाता है, उस निर्विकल्प

---

१. समयसार क. १०४ ।

तथा हि—

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्काय[कृत्स्नेन्द्रियेच्छो
भवभवनधिसमुत्थं मोहयादःसमूहम् ।
कनकयुवतिवांच्छामप्यहं सर्वशक्त्या
प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि ॥१३४॥

अवस्था में वे योगी एकाकी होते हुए भी अशरणरूप नहीं हैं किंतु ज्ञानस्वरूप में परिणत आत्मा ही उनके लिए शरणभूत है। उस वीतराग निर्विकल्प ध्यान के पूर्व निष्कर्मरूप निश्चल अवस्था नहीं होती है और न ही पुण्यरूप आवश्यक क्रियाएं ही छूटती हैं।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज मन इन्द्रिय आदि पर नियन्त्रण करने का उपदेश देते हुए कहते हैं—]

(१३४) **श्लोकार्थ**—मन, वचन, काय सम्बन्धी और सम्पूर्ण पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी इच्छाओं का जिसने नियन्त्रण कर दिया है ऐसा मैं अब भव समुद्र में उत्पन्न हुए ऐसे मोह रूप मत्स्य[1] के समूह को तथा कनक और कामिनी की वाञ्छा को भी प्रबलतर विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से छोड़ता हूं।

भावार्थ—सम्पूर्ण इच्छाओं के निरोध से ही मोह के निमित्त से होने वाली पर वस्तु की चाह रूप विभाव भावनाएं छोड़ी जा सकती हैं अन्यथा एक पर एक इच्छाएं तो होती ही जाती हैं। यहां पर टीकाकार ने ऐसा संकेत किया है कि इन वांछाओं के त्याग करने में सर्वशक्ति लगा देनी चाहिए, क्योंकि तप और त्याग दान शक्ति के अनुसार कहे गये हैं किंतु विभाव भावों को छोड़ने में सारी शक्ति लगा देनी चाहिए अर्थात् अत्यधिक पुरुषार्थ करके वांछाओं का दमन करना चाहिए।

---

१. यादो वैशारिणो भव इति-यादस्-मत्स्य।

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥१००॥

निश्चित मेरे ज्ञान, में मेरा ही आत्मा ।
मेरे दर्शन और चारित, में भी आत्मा ॥
त्याग-सुप्रत्याख्यान, में है मेरा आत्मा ।
मेरे संवर योग, में भी मेरा आत्मा ॥१००॥

अत्र सर्वत्रात्मोपादेय इत्युक्तः । अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजसौख्यात्मा ह्यात्मा । स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतनापरिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च प्रांचितपरमपंचमगतिप्राप्तिहेतुभूतपंचमभावभावनापरिणतस्य मम सहजसम्यग्दर्शनविषये च, साक्षान्निर्वाणप्राप्त्युपायस्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रपरिणतेर्मम सहजचारित्रेऽपि स परमात्मा सदा संनिहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभपुण्यपापसुख-

गाथा १००

अन्वयार्थ—[**खलु मम ज्ञाने आत्मा**] निश्चित रूप से मेरे ज्ञान में आत्मा है, [**मे दर्शने चरित्रे च आत्मा**] मेरे दर्शन और चारित्र में आत्मा है, [**प्रत्याख्याने आत्मा**] प्रत्याख्यान में आत्मा है और [**मे संवरे योगे आत्मा**] मेरे संवर तथा योग में आत्मा है ।

टीका—सर्वत्र आत्मा ही उपादेय है ऐसा यहां पर कथन है । अनादि अनन्त अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभाव वाली शुद्ध सहज सौख्यस्वरूप ही आत्मा है । वास्तव में वह आत्मा सहज शुद्ध ज्ञान चेतना से परिणत हुए ऐसे मेरे सम्यग्ज्ञान में है और पूर्व जो परम पंचमगति-सिद्धगति उसकी प्राप्ति के लिए कारणभूत पंचम भाव रूप भावना से परिणत हुए ऐसे मेरे सहजसम्यग्दर्शन के विषय में वही आत्मा है । साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति के लिये उपायभूत अपने स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परम चारित्र की परिणति से परिणत हुए ऐसे मेरे सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदैव सन्निहित अर्थात् विद्यमान है ।

दुःखानां षण्णां सकलसंन्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य, मम सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः स्वरूपगुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसंवरयोश्च, अशुभोपयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य मम परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धोपयोगेपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति ।

भेद विज्ञानी, परद्रव्य से पराङ्मुख और पञ्चेन्द्रियों के व्यापार से रहित शरीर मात्र परिग्रहधारी ऐसे मेरे निर्ग्रन्थ मुनि के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख इन छहों के सम्पूर्णतया त्याग रूप ऐसे निश्चय प्रत्याख्यान में वह आत्मा सदा आसन्न स्थित है—पास में विद्यमान है। सहज वैराग्यमयी महल के शिखर का शिखामणि स्वरूप अपने स्वरूप में गुप्त लीन हुए, पापरूपी वन को जलाने के लिये पावक-अग्नि-सदृश ऐसे मेरे शुभ और अशुभ कर्म के संवर में वह परमात्मा ही है। अशुभयोग से पराङ्मुख हुए, शुभोपयोग में भी उदासीन रूप और साक्षात् शुद्धोपयोग के अभिमुख होते हुए तथा परमागमरूपी मकरन्द-पुष्परस झर रहा है जिसके मुख से ऐसे मुझ पद्मप्रभ मुनिराज के शुद्धोपयोग में भी वही परमात्मा सनातन स्वभाव वाला होने से विराजमान है।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए अपनी निर्ग्रन्थ रूप महामुनि अवस्था का बे मालूम बहुत ही सुन्दर परिचय दे दिया है। उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया है कि मैं भेद विज्ञानी हूं, पंचेन्द्रियों के विषय व्यापार से रहित हूं, गात्र मात्र परिग्रह धारी-नग्न दिगम्बर मुनि हूं, तथा वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि हूं। आगे यहां तक कह दिया है कि अशुभोपयोग से सर्वथा रहित हूं, शुभोपयोग में भी उदासीन हूं तथा शुद्धोपयोग के सन्मुख हूं क्योंकि दो-तीन घन्टे लगातार बैठकर ग्रंथ लिखने वाले उन मुनिराज को बीच-बीच में ही छठे से सातवां गुणस्थान होता था, परिवर्त्तन चलता ही रहता था, कारण छठे और सातवें गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है। दो-तीन घन्टे तक वे छठे में रह नहीं सकते थे तथा चौथे पांचवें गुणस्थान में उनके जाने का सवाल ही नहीं है ऐसे अध्यात्मयोगी ग्रंथ रचना के समय कोई एक अपूर्व ही आत्मा का आनन्द ले रहे होंगे।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

"तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ।।

(अनुष्टुभ्)

नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ।।

(अनुष्टुभ्)

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया ।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः ।।"

पुनः वे स्वयं कह रहे हैं कि परमागमरूपी मकरन्द का झरना मेरे मुख से झर रहा है, ओहो ! सचमुच में उनके मुखरूपी कमल से परम सुगन्धि से युक्त यह नियमसार की टीका रूप अमृतमयी रस का झरना झरा है जो कि प्रत्येक भव्य जीवों की आत्मा को सुरभित और अजरामर करने वाला है, परमतृप्तिदायी है । धन्य हैं ये टीकाकार मुनिराज जिन्होंने श्री कुन्दकुन्द देव की गाथा रूपी सूर्य की किरणों के सदृश इस टीका रूपी किरणों के आलोक से भव्य जीवों के हृदयभुवन को आलोकित कर दिया है ।

उसी प्रकार से एकत्व सप्तति में भी कहा है—

श्लोकार्थ—'वही एक-चैतन्य ज्योति ही परमज्ञान है, वही एक पवित्र निर्मल दर्शन है, वही एक चारित्र है और वही एक निर्मल तप है ।

श्लोकार्थ—सत्पुरुष-साधु पुरुषों के लिये वही एक नमस्कार करने योग्य है वही एक मंगलरूप है, वही एक उत्तम है और वही एक शरणभूत है ।

श्लोकार्थ—अप्रमत्त योगी के लिये वही एक आचार है, वही आवश्यक क्रिया है और वही एक स्वाध्याय है ।

---

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका के एकत्वसप्तति अ. में श्लोक ३६, ४०, ४१ ।

तथा हि—

(मालिनी)

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसंन्यासकाले ।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोप्यन्योस्ति मुक्त्यै पदार्थः ॥१३५॥

(पृथ्वी)

क्वचित्प्रलसति निर्मलं क्वचन चित्तदानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत् ।
तदेव निजबोधदीपनिहताघमूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्मनि च संस्थितं निश्चलम् ॥१३६॥

उसीप्रकार से—[टीकाकार मुनिराज उसी शुद्धात्म तत्त्व की विशेषता को दिखलाते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(१३५) **श्लोकार्थ**—मेरे सहज शुद्धदर्शन में, शुद्धज्ञान में, चारित्र में, पुण्य-पापरूपी कर्मद्वय के त्याग रूप—प्रत्याख्यान के समय में, संवर में और शुद्धयोग शुद्धध्यान रूप शुद्धोपयोग में वह परमात्मा ही है, क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति के लिये इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है—नहीं है ।

भावार्थ—वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में लीन होने पर यह आत्मा ही कारण परमात्मा रूप से स्थित है, वही परमात्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और ध्यान रूप है । क्योंकि वही उस समय निश्चय रत्नत्रय की एकाग्र परिणति में परिणत हो रहा है । उस निश्चयरूप एकाग्र अवस्था में ही ये निश्चय दर्शनादि घटित होते हैं, अन्यत्र नहीं, इसीलिए इस आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी अनुष्ठान में मोक्ष की प्राप्ति असंभव है ।

(१३६) **श्लोकार्थ**—जो क्वचित्—कहीं पर—किसी अवस्था में निर्मल शोभित हो रहा है—दिखाई दे रहा है, कहीं पर निर्मलानिर्मल—उभय से मिश्रित रूप दिखाई दे रहा है, कहीं पर अनिर्मल—मलिन ही दिखाई दे रहा है, ऐसा जो यह आत्मा है वह

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं ।
एगस्स जादि मरणं, एगो सिज्झदि णीरयो ॥१०१॥

एकश्च म्रियते जीवः एकश्च जीवति स्वयम् ।
एकस्य जायते मरणं एकः सिध्यति नीरजाः ॥१०१॥

इस जग में यह जीव, एकाकी मरता है ।
स्वयं अकेला आप, पुनः जनम धरता है ॥
स्वयं अकेले को ही, होता जनम मरण नित ।
स्वयं कर्मरज हीन, होता सिद्धवधू प्रिय ॥१०१॥

अज्ञानी लोगों के लिये समझने में गहन ही है—अत्यन्त कठिन है । अपने ज्ञान रूपी दीपक से जिसने पापरूपी अंधकार को नष्ट कर दिया है ऐसा वही आत्मा सज्जन पुरुष-साधुओं के हृदय कमलरूपी महल में निश्चलरूप से विराजमान है ।

भावार्थ—यह आत्मा सिद्धावस्था में पूर्णतया निर्मल हो चुका है, अर्हन्त अवस्था में चार अघातिया कर्मों के शेष रहने से कथंचित् असिद्धत्व अवस्था की अपेक्षा से अनिर्मल भी होने से निर्मलानिर्मल है अथवा वीतरागी मुनि के शुद्धोपयोग रूप ध्यान में-उपयोग में निर्मल होने से भी निर्मलानिर्मल है अथवा चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक सराग अवस्था होते हुए पुण्य जीव कहलाने से और अंश-अंशरूप अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि कषायों का अभाव होने से निर्मल भी है अतः उनकी आत्मा भी निर्मलानिर्मल है । और पहले गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान तक पापी जीव होने से अनिर्मल ही है ।

अथवा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से संसारी जीव भी शुद्ध ही है अतः इस नय की अपेक्षा में सभी जीव राशि निर्मल हैं, व्यवहारनय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि आत्मा से लेकर संयत आदि आत्मा निर्मलानिर्मल है और शेष संसारी जीव अनिर्मल हैं ।

गाथा १०१

अन्वयार्थ—[**जीवः एकः च म्रियते**] जीव अकेला ही मरता है, [**स्वयं च एकः जीवति**] और स्वयं अकेला ही जन्मता है, [**एकस्य मरणं जायते**] अकेले के ही मरण होता है [**एकः नीरजाः सिध्यति**] अकेला ही रज-कर्म धूलि रहित सिद्ध होता है ।

इह हि संसारावस्थायां मुक्तौ च निःसहायो जीव इत्युक्तः। नित्यमरणे तद्भव-मरणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चैक एव म्रियते, सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभाव-व्यंजनपर्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवो-ज्जीवत्येव। सर्वैर्बंधुभिः परिरक्ष्यमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्रार्थितमपि स्वयमेव जायते मरणम्, एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजाः सन् सद्यो निर्वाति।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुभ्)

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥"

उक्तं च श्रीसोमदेवपंडितदेवैः—

टीका—संसार अवस्था में और मुक्ति में यह जीव असहाय है ऐसा यहां पर कहा है। जो प्रतिसमय आयु के निषेक उदय में आकर खिर रहे हैं उसे नित्य मरण कहते हैं तथा उस भव की आयु के समाप्त होने को तद्भव मरण कहते हैं। इस नित्य मरण और तद्भव मरण में यह जीव व्यवहारनय से सहाय के बिना अकेला ही मरता है, सादिसान्त मूर्तिक विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय रूप नर नारकादि पर्यायों की उत्पत्ति के समय निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन से स्वयं ही यह जीव जन्म लेता है। सभी बंधुवर्गों के द्वारा रक्षित किया जाने पर भी महाबल और पराक्रम वाले इस जीव के नहीं चाहते हुए भी स्वयं ही मरण हो जाता है, और एक ही यह जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुए ऐसे आत्मा के आश्रित निश्चय शुक्लध्यान के बल से अपनी आत्मा का ध्यान करके रज-ज्ञानावरण, दर्शनावरण रूप कर्म रज से रहित होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—

श्लोकार्थ—आत्मा स्वयं ही कर्म को करता है, स्वयं ही उसके फल को भोगता है, स्वयं ही संसार में भ्रमण करता है और स्वयं ही उस संसार से मुक्त भी हो जाता है।

ऐसे ही आचार्य श्री सोमदेव पंडितदेव ने भी कहा है—

(वसन्ततिलका)

"एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम् ।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम् ।
भूयो भुंक्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ।।१३७।।

श्लोकार्थ—हे जीव ! तू अकेला-असहाय ही अपने द्वारा किये हुए पुण्य-पाप रूप कर्मों के सुख और दुःख रूप फलों का सम्बन्ध भोगने के लिये स्वयं जन्म गर्भवास में और मरण में प्रवेश करता है । दूसरा कोई कभी भी तेरे सुख-दुःख रूप कर्मफल के भोगने में अथवा तुझे सुखी या दुखी करने में सहायक नहीं है । तेरे ये पुत्र कलत्रादि समूह अपनी जीवन रक्षा के लिये विटपेटक-शत्रुसमूहसदृश ही आकर तुझे मिल गये हैं ।

उसीप्रकार से [श्री टीकाकार मुनिराज ने भी जीव के एकाकीपन को दिखलाते हुए कहा है—]

(१३७) **श्लोकार्थ**—यह जीव अकेला ही प्रबल दुरघात से जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है, तथा अकेला ही सदा तीव्र मोह के निमित्त से स्वसुख से विमुख होता हुआ कर्मद्वन्द्व-पुण्य पापरूप दो प्रकार के कर्मोदय के फल रूप सुन्दर सौख्य और दुःख को पुनः पुनः भोगता है और अकेला ही गुरुदेव के प्रसाद से कोई एक अपूर्व तत्त्व-स्वात्मतत्त्व को प्राप्त करके उसीमें स्थित हो जाता है ।

एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०२॥

मेरा आत्मा शुद्ध, शाश्वत एक अकेला ।
दर्शन ज्ञान स्वरूप, नहिं उसमें कुछ भेला ॥
शेष सभी पर भाव, मुझसे बाह्य बताये ।
वे सब जड़ संयोग, से उत्पन्न कहाये ॥१०२॥

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदम् । अखिलसंसृतिनंदनतरुमूलालवालांभःपूरपरिपूर्णप्रणालिकावत्संस्थितकलेवरसम्भवहेतुभूतद्रव्यभावकर्माभावादेकः, स एव निखिलक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहजशुद्धज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुंजानः सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूपेण तिष्ठति, यस्त्रिकालनिरुपाधि-

---

गाथा १०२

अन्वयार्थ—[**मे आत्मा एकः शाश्वतः**] मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है, [**ज्ञानदर्शन लक्षणः**] ज्ञान और दर्शनस्वरूप है, [**शेषाः**] शेष, [**संयोगलक्षणाः**] संयोग से उत्पन्न होनेरूप लक्षण वाले, [**सर्वेभावाः**] सभी भाव-पदार्थ [**मे बाह्याः**] मेरे से बाह्य हैं ।

टीका—एकत्व भावना से परिणत हुए सम्यग्ज्ञानी के स्वरूप का यह कथन है ।

सकल संसाररूपी नंदनवन के वृक्षों की जड़ के आसपास की क्यारियों के सिंचन हेतु जल के पूर से भरी हुई नाली के समान प्राप्त हुए शरीर के उत्पन्न करने में कारणभूत ऐसे जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं उनके अभाव से (मेरा आत्मा) एक है और वही सम्पूर्ण क्रियाकांड के आडम्बररूप विविध विकल्पों के कोलाहल से रहित सहजशुद्धज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप से अनुभव करता हुआ शाश्वत अविनाशीरूप होकर मेरे लिये उपादेयरूप से विद्यमान है, जो कि तीनों कालों में उपाधिरहित

स्वभावत्वात् निरावरणज्ञानदर्शनलक्षणलक्षितः कारणपरमात्मा, ये शुभाशुभकर्मसंयोग संभवाः शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाः स्वस्वरूपाद्बाह्यास्ते सर्वे, इति मम निश्चयः।

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः ।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः [समृद्धः]
किमिह बहुविकल्पैर्मे फलं बाह्यभावैः ॥१३८॥

स्वभाव होने से आवरण रहित ऐसे ज्ञान और दर्शनरूप लक्षण से लक्षित कारण परमात्मा है। शेष जो शुभ-अशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाले बाह्य और अभ्यन्तररूप परिग्रह हैं, वे सभी मेरे अपने स्वरूप से बहिर्भूत हैं, ऐसा मेरा निश्चय है।

विशेषार्थ—निश्चयनय से इस जीव में शरीर के लिए कारणभूत ऐसे द्रव्यकर्म, भावकर्म नहीं हैं इसलिये यह आत्मा एक-असहाय-अकेला है तथा सदा ही सहज शुद्धज्ञान चेतना का अनुभव कर रहा है, इसलिये शाश्वत है। वैसे ही शुद्धनिश्चयनय से इस जीव को न कभी कर्मोपाधि हुई थी, न है, न होगी इसीलिये वह पूर्णज्ञानदर्शन स्वरूप है। इसे मेरी आत्मा के वर्तमान में जो भी भाव दीख रहे हैं वे सब व्यवहारनय से कर्मोपाधिजन्य होने से मुझ से भिन्न ही हैं।

[टीकाकार मुनिराज इसी बात को कलश काव्य से दिखाते हैं—]

(१३८) श्लोकार्थ—मेरा परमात्मा शाश्वत है, कोई एक अद्भुत है, सहज परम चैतन्य चिंतामणिरूप है, नित्य ही शुद्ध है और अनन्त निजदिव्य ज्ञानदर्शन से समृद्ध है, इस अवस्था में पुनः बहुत से भेदरूप इन बाह्य भावों से मुझे क्या फल है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय के अवलम्बन से चिंतामणि स्वरूप आत्मा को समझ लेने के बाद मुझे बाह्य पदार्थों से कुछ भी नहीं होगा।

जं किंचि मे दुच्चरित्तं, सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥

यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि ।
सामायिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥१०३॥

दुश्चरित्र मय दोष, जो कुछ होता मुझसे ।
तजता हूं उन सर्व, को मैं मनवचतन से ॥
सामायिक त्रय भेद, कहीं आप में जो भी ।
करता हूं मैं शुद्ध, निराकार सबको ही ॥१०३॥

आत्मगतदोषानमुं वत्युपायकथनमिदम् । भेदविज्ञानिनोऽपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोदयबलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किंचिदपि दुश्चरित्रं भवति चेतत् सर्वं मनोवाक्कायसंशुद्धया संत्यजामि । सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धयभिधानभेदात्त्रिविधम् । अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि,

---

गाथा १०३

अन्वयार्थ—[**यत्किंचित् मे चरित्रं**] जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित्र है [**सर्वं त्रिविधेनव्युत्सृजामि**[1]] उस सभी को मैं मन वचन और काय से छोड़ता हूं [**तु त्रिविधं सामायिकं**] और त्रिविध सामायिक चारित्र को [**सर्वं निराकारं करोमि**] सभी को निराकार करता हूं ।

टीका—आत्मगत दोषों से निर्मुक्त होने के उपाय का यह कथन है । मैं परमतपोधन भेदविज्ञानी हूं फिर भी मेरे पूर्वसंचित कर्मोदय के बल से चारित्रमोह का उदय होने पर जो कुछ भी दुश्चरित्र-चारित्र में दोष यदि हो जाता है, तो मैं उस सभी दुश्चरित्र का मन, वचन, काय की सम्यक् शुद्धिपूर्वक त्याग करता हूं । यहां पर सामायिक शब्द से चारित्र को कहा है, ऐसे सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार-विशुद्धि इन नाम वाले तीन भेद से यह चारित्र तीन प्रकार है अथवा मैं जघन्य रत्नत्रय

---

१. अन्यत्र विसृजामि पाठ है ।
किंतु ऐसा ही ठीक प्रतीत होता है ।

नवपदार्थपरद्रव्यश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं, तत् स्वस्वरूपश्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः। किं च, भेदोपचारचारित्रम् अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहजनिश्चय-चारित्रं, निराकारतत्त्वनिरतत्वान्निराकारचारित्रमिति।

को उत्कृष्ट करता हूं, नवपदार्थ रूप जो परद्रव्य है उनका श्रद्धान परिज्ञान और आचरण रूप जो साकार रत्नत्रय है वह व्यवहार रत्नत्रय है, उसको अपने स्वरूप के श्रद्धानज्ञान तथा अनुष्ठानरूप स्वभाव रत्नत्रय की स्वीकृति पूर्वक निराकार-शुद्ध करता हूं अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के बल से निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करता हूं।

और दूसरी तरह से—भेदोपचार चारित्र को अभेदोपचार रूप करता हूं और अभेदोपचार चारित्र को अभेदानुपचार चारित्ररूप करता हूं, इस तरह तीन प्रकार के सामायिक को उत्तरोत्तर स्वीकार पूर्वक सहजपरमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र होता है, वही निराकार चारित्र कहलाता है क्योंकि वह निराकार तत्त्व में निरत है।

विशेषार्थ—यहां पर निश्चय रत्नत्रय को निराकार सामायिक रूप कहा है। वास्तव में वीतराग निर्विकल्प समाधि की अवस्था में सम्पूर्ण बाह्य विकल्पों का अभाव हो जाने से आत्मा निर्विकल्प-निराकार हो जाता है, उस अवस्था में उसी आत्म तत्त्व में तल्लीन होने से यह चारित्र भी निराकार संज्ञक हो जाता है। टीकाकार ने "त्रिविधं सामायिकं उत्तरोत्तर स्वीकारेण" इस पद से क्रम को स्पष्ट कर दिया है अर्थात् भेदोपचार नामवाले व्यवहाररत्नत्रय से अभेदोपचाररूप निश्चयरत्नत्रय प्रारम्भ होता है पुनः उस अभेदउपचार से अभेदअनुपचार रूप निश्चयरत्नत्रय परिणति हो जाती है। ये क्रम से पूर्व-पूर्व के आगे-आगे के लिये बनते हैं।

ऐसे ही अन्यत्र भाषाकारों ने कहा है—

"भेदोपचाररूप चारित्रव्यवहार महाव्रतादि पालन है, अभेदोपचार[1]

---

१. ब्र. शीतलप्रसाद कृत हिंदी में पृ. २३०।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम् ।

(वसंततिलका)

"द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥"

तथा हि—

चारित्र शुद्धात्मा की भावना स्वरूप है और अभेद अनुपचार चारित्र स्वभाव में निश्चल अवस्थारूप स्थितिमयी है ।

पंचमहाव्रत आदि भेदोपचार चारित्र है जो कि छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के होता है । स्वस्थान अप्रमत्त वाले सप्तम गुणस्थानवर्ती के अभेदोपचार चारित्र होता है और सातिशय अप्रमत्तनामक सप्तम गुणस्थान से लेकर बारहवें तक अभेदानुपचार चारित्र होता है, ऐसा समझना ।

उसीप्रकार से प्रवचनसार की व्याख्या में भी कहा है—[1]

"श्लोकार्थ—'चरण-चारित्र, द्रव्य का—आत्मतत्त्व का अनुसरण करने वाला होता है और द्रव्य, चरण का अनुसरण करनेवाला होता है । ये दोनों परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा को रखने वाले है, इसलिये मुमुक्षु-साधु द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग में आरोहण करो ।"

भावार्थ—आत्मद्रव्य को सिद्ध करनेवाला चारित्र है और चारित्र के अनुसार आप्त होने वाला आत्मद्रव्य है । जहां आत्मद्रव्य है वहीं पर चारित्र होता है, आत्मद्रव्य के अवलम्बन के बिना चारित्र नहीं होता है, इसीलिये आचार्यश्री ने कह दिया है कि चाहे द्रव्य का अवलम्बन लेवो चाहे चारित्र का, दोनों ही मोक्ष के कारण हैं ।

उसीप्रकार—[टीकाकार मुनिराज यतियों को संयम में सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

---

१. प्रव. की श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका का १२ वां श्लोक ।

(अनुष्टुभ्)

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम् ।
यतंते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥१३९॥

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं, समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचित् ।
आशाम् उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ॥१०४॥

सब जीवों प्रति नित्य, समता भाव हमारा ।
नहीं किसी के साथ, वैर विरोध हमारा ॥
सब आशा को आज, निश्चित मैं तजता हूं ।
भाव विशुद्ध समाधि, उसे प्राप्त करता हूं ॥१०४॥

---

(१३९) **श्लोकार्थ**—चैतन्यतत्त्व की भावना में जिनकी मति असक्त है ऐसे यतिगण, यातना-कष्ट देने के स्वभाव वाले यमराज के नाश में कारणभूत ऐसे यम-संयम में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त होते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारसंयम के बिना निश्चयसंयम की सिद्धि असंभव है, अतएव आत्मतत्त्व की सिद्धि के इच्छुक मुमुक्षुजन पहले सम्यक्त्व सहित व्यवहारसंयम को निरतिचार पालते हैं पुनः उसी के बल से निश्चयचारित्ररूप ध्यान के द्वारा यमराज इस अपरनाम वाले आयुकर्म को भी समाप्त कर मृत्युंजयी भगवान बन जाते हैं ।

गाथा १०४

अन्वयार्थ—[**मे सर्वभूतेषु साम्यं**] मेरा सभी जीवों में समभाव है, [**मह्यं केनचित् वैरं न**] मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है, [**नूनं**] निश्चित रूप से मैं, [**आशां उत्सृज्य**] आशा को छोड़कर [**समाधिः प्रतिपद्यते**] समाधि को प्राप्त करता हूं ।

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता । विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मे भेदविज्ञानिष्वज्ञानिषु च समता; मित्रामित्रपरिणतेरभावान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं, सहजवैराग्यपरिणतेः न मे काप्याशा विद्यते; परमसमरसीभावसनाथपरमसमाधिमहमेवाहमिति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः—

(वसंततिलका)

"मुक्त्वालसत्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः
स्मृत्वा परांच समतां कुलदेवतां त्वम् ।
संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्ण-
मज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपुप्रमर्दि ।"[1]

टीका—अन्तर्मुख हुए तपोधन की भाव शुद्धि का यहां पर कथन है ।

समस्त इन्द्रियों के व्यापार रहित ऐसे मुझ भेदविज्ञानी और अज्ञानी सभी जनों में समताभाव है, मित्र और शत्रुरूप परिणति का अभाव होने से मेरा किसी प्राणी के साथ वैर नहीं है, सहज वैराग्य भाव से परिणत होने से मुझे कुछ भी आशा नहीं है मैं परम समरसी भाव से सहित ऐसी परम समाधि को प्राप्त होता हूं ।

इसीप्रकार से श्री योगेन्द्र देव ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—'हे वत्स ! तुम आलस्य को छोड़कर सत्त्वसहित और पराक्रम से सहित होते हुए, उत्कृष्ट ऐसी 'समता' रूपी कुलदेवता का स्मरण करके, अज्ञानरूपी मंत्री से सहित ऐसे मोहराजा रूप शत्रु का उपमर्दन करने वाले इस सम्यग्ज्ञान रूपी चक्र को शीघ्र ही ग्रहण करो ।"

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान रूपी चक्ररत्न से मोहराजा को मार करके तीन लोक का आधिपत्यरूप साम्राज्य पद प्राप्त किया जाता है । जो मुनिराज निष्प्रमादी होकर समता देवी की उपासना करते हैं वे देवी के प्रसाद से सम्यग्ज्ञानरूपी चक्ररत्न को प्राप्त कर लेते हैं, यह अभिप्राय है ।

---

१. अमृताशीति श्लोक २१ ।

तथा हि—

(वसंततिलका)

मुक्तांगनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम् ॥१४०॥

(हरिणी)

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखाम्भोधिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा ।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चैः सालंक्रिया जगतामपि ॥१४१॥

उसीप्रकार से—[टीकाकार मुनिराज समता के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(१४०) श्लोकार्थ—मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर सदृश, निर्वाण सौख्य के लिए मूलकारण, दुर्भावनारूपी अंधकार समूह के लिये चन्द्रमा की चांदनी स्वरूप ऐसी उस समता की मैं अतिशय रूप से सम्यक् प्रकार भावना करता हूं, जो कि संयमी साधुओं को हमेशा ही सम्मत अर्थात् मान्य है ।

भावार्थ—जीवन, मरण, शत्रु, मित्र, सुख, दुःख और लाभ, अलाभ में रागद्वेष का अभाव होना, हर्ष विषाद परिणति नहीं करना, मध्यस्थ भावना से स्थित रहना समता है । इस समता के बिना दुर्भावों का विनाश नहीं हो सकता है पुनः संकल्प-विकल्पों के होते रहने से निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि असंभव है अतः हमेशा साम्यभाव का अवलम्बन लेना चाहिए ।

(१४१) श्लोकार्थ—जो योगियों को भी दुर्लभ है, अपने अभिमुख होने से उत्पन्न हुए सुख समुद्र की अतिशय वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्रमा की चांदनीरूप है, परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री की प्रिय सहेली है तथा मुनि समूह के लिये और जगत् के लिए भी अतिशयरूप से अलंकार स्वरूप है, वह समता नित्य ही जयशील हो रही है ।

णिक्कसायस्स दंतस्स[1] सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

निःकषायस्य दान्तस्य शूरस्य व्यवसायिनः ।
संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत् ॥१०५॥

निष्कषाय और शूर, इन्द्रिय दमन करे हैं ।
निजहित का व्यवसाय, ही जो नित्य करे हैं ॥
भव दुःख से भयभीत, ध्यान लीन जो होवें ।
निश्चय प्रत्याख्यान, उनको सुख से होवें ॥१०५॥

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलकषायकलंकपंकविमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपार्जितपरमदान्तरूपस्य अखिलपरीषहमहाभटविजयोपार्जित-निजशूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरणनिरतशुद्धभावस्य संसारदुःखभीतस्य व्यवहारेण

भावार्थ—इस समभाव के बिना अंतः सुख प्रगट नहीं हो सकता है, तथा इसके बिना मुनिराज सुशोभित नहीं होते हैं इसलिये जैसे यह मुनिवरों का भूषण है वैसे ही जगत् का भी भूषण है । वीतरागता के बिना जगत में शान्ति का लेश नहीं हो सकता है ।

गाथा १०५

अन्वयार्थ—[**निःकषायस्य**] कषाय रहित, [**दान्तस्य**] इन्द्रियों का दमन करने वाले, [**शूरस्य व्यवसायिनः**] शूरवीर, उद्यमशील और [**संसार भय भीतस्य**] संसार से डरने वाले ऐसे साधु के [**सुखं प्रत्याख्यानं**] सुखमय प्रत्याख्यान, [**भवेत्**] होता है ।

टीका—निश्चय प्रत्याख्यान के योग्य ऐसे जीव के स्वरूप का यह कथन है ।

सम्पूर्ण कषाय कलंक रूपी पंक से विमुक्त, संपूर्ण इन्द्रियों के व्यापार के विजय से उपार्जित की है परम दमनशीलता जिन्होंने, अखिल परीषह रूपी महायोद्धाओं के विजय से प्रगट किया है अपना शूर गुण जिन्होंने निश्चय परम तपश्चरण में लीन

---

१. दांतस्स (क) पाठान्तर

चतुराहारविवर्जनप्रत्याख्यानम् । किं च पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्रमोहोदयहेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित्संभवति । अत एव निश्चयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभव्यजीवानाम्; यतः स्वर्णनामधेयधरस्य पाषाणस्यो-पादेयत्वं न तथांधपाषाणस्येति । ततः संसारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानम्, अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धनिश्चयप्रत्या-ख्यानम् इति ।

होने से उत्पन्न हुए शुद्धभाव से सहित तथा संसार के दुःखों से भयभीत हुए ऐसे मुनिराज के व्यवहारनय से चतुराहार त्याग रूप प्रत्याख्यान होता है ।

किन्तु यह व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्यादृष्टि पुरुषों के भी चारित्रमोह के उदय में कारणभूत द्रव्य और भावकर्म के क्षयोपशम से क्वचित् कदाचित् संभव है, इसलिये अति निकट भव्य जीवों के लिए निश्चय प्रत्याख्यान ही हितरूप है, क्योंकि स्वर्ण नामको धरने वाला ऐसा स्वर्णपाषाण ही उपादेयभूत है न कि उसीप्रकार से अंधपाषाण । अतः संसार शरीर और भोगों से निर्वेगता-विरक्तता निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है, और पुनः भविष्यकाल में होने वाले सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष आदि विविध विभावों का त्याग होना परमार्थ प्रत्याख्यान है, अथवा भविष्यकाल में होने वाले विविध अन्तर्जल्पों का परित्याग शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है ।

विशेषार्थ—यहां ऐसा बताया है कि व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है इसलिये निश्चय प्रत्याख्यान सर्वथा हितरूप है । इसमें ऐसा भी समझ लेना है कि व्यवहार प्रत्याख्यान के बिना आज तक निश्चय प्रत्याख्यान न हुआ है और न होगा ही, हां, इतना अवश्य है कि व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य समझना चाहिए । यहां पर वैसे चार प्रकार का प्रत्याख्यान बताया गया है । प्रथम व्यवहार प्रत्याख्यान है जिसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की कोई विवक्षा नहीं है, मात्र चतुराहार त्यागरूप है । दूसरा संसार शरीर और भोगों के त्यागरूप जो कि निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है । तीसरा भविष्य में समस्त विभावों के त्यागरूप है जो कि परमार्थ प्रत्याख्यान नाम वाला है, यह सातवें से प्रारम्भ हो जाता है और चौथा

(हरिणी)

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतन्निर्व्वाणसौख्यकरं परम् ।
सहजसमतादेवीसत्कर्णभूषणमुच्चकैः
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम् ॥१४२॥

एवं भेदब्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कवि, धरिदुं सो संजदो णियमा ॥१०६॥

एवं भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम् ।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात् ॥१०६॥

भविष्य कालीन समस्त अन्तर्जल्पों से भी शून्य निर्विकल्परूप है जो कि शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान कहलाता है । यह श्रेणी में ही संभव है ।

[अब टीकाकार प्रत्याख्यान की विशेषता प्रगट करते हुए कहते हैं—]

(१४२) **श्लोकार्थ**—जिनेन्द्र भगवान के मत में होने वाला प्रत्याख्यान सदैव जयशील हो रहा है । यह परम संयमियों के लिये निर्वाण सौख्य को करने वाला है, उत्कृष्ट है, और अतिशयरूप से सहज समता देवी के सुन्दर कानों का आभूषण है । हे मुनिपते ! सुनो, यह आपकी दीक्षारूपी प्रिय पत्नी के अतिशयरूप यौवन का कारण है ।

भावार्थ—यौवन से सहित स्त्री अपने पति को जितना सुख प्राप्त कराती है उतना बाला स्त्री या वृद्धा स्त्री से नहीं होता है, इसीलिये टीकाकार ने प्रलोभन रूप शब्दों में कहा है कि हे मुनिराज ! यह प्रत्याख्यान तुम्हारी दीक्षा के जीवन में अत्यधिक हितकर होने से अत्यधिक सुखदायी है ।

गाथा १०६

अन्वयार्थ—[**एवं यः**] इसप्रकार से जो साधु, [**नित्यं**] नित्य ही, [**जीव-कर्मणोः भेदाभ्यासं**] जीव और कर्म के भेद का अभ्यास, [**करोति**] करता है, [**सः**

इसविध से जो नित्य, जीव और कर्मों में।
करते भेदाभ्यास, भिन्न ग्रहें निज मन में॥
वे संयत गुरुदेव, बाह्य त्याग के बल से।
निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चित ही कर सकते॥१०६॥

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोयम्। यः श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षमः, अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोरनादिबन्धनसंबन्धयोर्भेदाभ्यासबलेन करोति, स परमसंयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति।

(स्वागता)
भाविकालभवभावनिवृत्तः
सोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं
स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै॥१४३॥

संयतः] वह संयमी, [**नियमात्**] नियम से [**प्रत्याख्यानं धर्तुं शक्तः**] प्रत्याख्यान को धारण करने में समर्थ होता है।

टीका—निश्चय प्रत्याख्यान अध्याय के उपसंहार का यह कथन है। जो श्रीमान् अरहन्तदेव के मुख कमल से विनिर्गत ऐसे परमागम के विचार में समर्थ है, अनादिकाल के बंधन से सम्बन्धित ऐसे अशुद्ध चैतन्य तत्त्व और कर्म पुद्गल में भेदाभ्यास के बल से भेद को करता है, वह परमसंयमी निश्चय और व्यवहार इन दोनों प्रत्याख्यानों को स्वीकार करता है, ऐसा समझना।

[अब टीकाकार मुनिराज इस प्रत्याख्यान प्रकरण को समाप्त करते हुए नौ श्लोकों से इसकी महिमा को स्पष्ट करते हैं—]

(१४३) श्लोकार्थ—जो भविष्यकाल में भव को करने वाले ऐसे भावों से रहित हो चुके हैं 'सो ही मैं हूं' मुनियों के नाथ ऐसे महामुनि मल से मुक्त होने के लिये समस्त सौख्य का निधान और अमल-निर्दोष ऐसे अपने स्वरूप की प्रतिदिन भावना करें।

(स्वागता)

घोरसंसृतिमहार्णवभास्व-
द्यानपात्रमिदमाह जिनेंद्रः ।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं
भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥१४४॥

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानन्दचिन्निष्ठबुद्धेः ।
नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां
भूयो भूयो भवति भविनां संसृतिर्घोररूपा ॥१४५॥

भावार्थ—जो संसार में भ्रमण कराने वाले ऐसे भावों से पूर्ण प्रत्याख्यान स्वरूप हो चुके हैं ऐसे पूर्ण शुद्ध सिद्ध भगवान हैं। शुद्धनिश्चयनय से 'वही मैं हूं' अर्थात् मैं भी समस्त विभाव भावों से रहित ही हूं ऐसी भावना के द्वारा नित्य ही अपने स्वरूप का चिंतवन करना चाहिए।

(१४४) श्लोकार्थ—घोर संसाररूपी महासमुद्र में यह देदीप्यमान जलयान-जहाज है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, अतएव मोह को जीत लिया है जिसने ऐसा मैं परमार्थ से इस परमतत्त्व को नित्य ही भाता हूं।

(१४५) श्लोकार्थ—भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से सहज परमानन्दमय चैतन्य में तल्लीन है बुद्धि जिनकी, तथा जो शुद्ध चारित्र की मूर्तिस्वरूप ऐसे साधु के सतत ही प्रत्याख्यान होता है, किंतु अपर समय-अन्य सम्प्रदाय में स्थान रखने वाले ऐसे अन्य योगियों के वह नहीं होता है प्रत्युत उन संसारी जीवों के पुनः पुनः घोर संसार ही होता है।

भावार्थ—[1]अन्य प्रति में पाठ भेद होने से अन्य भाषाकार ने उसका अर्थ भी वैसा ही किया है। जैसे—"चिन्निष्ठ बुद्धेः" की जगह 'चिन्नष्ट बुद्धेः' है जिसने... चैतन्य शक्ति के द्वारा विकल्परूप बुद्धि को नष्ट कर दिया है। आगे 'योगिनामास्पदानां'

---

१. ब्र. शीतलप्रसाद कृत हिंदी सहित मुद्रित प्रति.....

(शिखरिणी)

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे ।
अमी विद्वान्सोपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहताः
कथं कांक्षंत्येनं बत कलिहतास्ते जडधियः ॥१४६॥

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्रं दुरघतरुसंद्राटवीवह्निरूपम् ।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं
यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम् ॥१४७॥

की जगह 'योगिनामाभ्यदानं' पाठ होने से उसका अर्थ—"अन्य आगम में लीन अन्य योगियों का मुखदान (उपयोग) इस ओर नहीं हो सकता है, ऐसा अर्थ देखा जाता है।

(१४६) **श्लोकार्थ**—जो महान आनन्द से भी अधिक आनन्दरूप ऐसा महान आनन्द आनन्दस्वरूप जगत में प्रसिद्ध है, शाश्वतमय है, वह अतिशयरूप से निर्मल गुणों से सहित सिद्धात्माओं में निश्चितरूप से निवास करता है, किन्तु ये विद्वान लोग भी जो कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल हैं, ऐसे इस परमतत्त्व की वाञ्छा कैसे करते हैं ? अहो ! बड़ा आश्चर्य है, कि वे जड़ बुद्धि जीव पाप से नष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ—जो परमतत्त्व मुक्त जीवों के पास है, संसारी प्राणी सम्पूर्ण विभाव विकल्पों से रहित उन्हीं सिद्धों में तन्मय-एक रूप होकर उसे प्राप्त कर सकते हैं किंतु जो विषय वासना में लिप्त हैं उनके लिये चाहने पर भी वह तत्त्व दुर्लभ है, नहीं मिलता है। इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख एक साथ असंभव है। विषय सुख भी मिले और परमार्थ सुख भी ऐसा कभी किसीने न देखा है और न सुना ही है। साधुजन जब पूर्ण ब्रह्मचर्य के अवलम्बन से अंतः शुद्ध करते हैं उन्हें अंशात्मक आत्मा का आनंद आता है, वह आनन्द भोगी गृहस्थी को स्वप्न में भी दुर्लभ है।

(१४७) **श्लोकार्थ**—जो सम्यक्चारित्र संयमियों में प्रगटरूप है शुद्ध में भी शुद्ध अत्यन्त शुद्ध है, और दुष्ट पाप कर्मरूपी वृक्षों से सघन ऐसे वन को जलाने

(मालिनी)

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत् ।
तदपि सहजतेजः प्रास्तमोहान्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रम् ॥१४८॥

(पृथ्वी)

अखंडितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम् ।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदवथह्निकीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा ॥१४९॥

लिए अग्नि के सदृश है वह चारित्र प्रत्याख्यान से ही होता है, अतः हे भव्योत्तम ! तुम शीघ्र ही अपनी बुद्धि में उस तत्त्व को नितप्रीति धारण करो । जो कि कैसा है ? सहजसुख को देने वाला ऐसा मुनियों के शील-चारित्र का मूल है ।

भावार्थ– प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग, इसके बिना सम्यक्चारित्र ही असम्भव है अतएव यह त्याग ही मुनियों के सम्पूर्ण चारित्र वृक्ष की जड़ स्वरूप है । ऐसा समझना ।

(१४८) श्लोकार्थ—सहजतत्त्व जयशील हो रहा है जो कि तत्त्व में निष्णात बुद्धि वाले ऐसे महामुनि के हृदयकमल के मध्य में विराजमान है । अस्त कर दिया है मोहरूपी अंधकार को जिसने ऐसा वह सहज तेज (स्वाभाविक ज्योति) अपने रस–अनुभव के विस्तार से देदीप्यमान ज्ञान का स्फुरण मात्र–प्रकाश मात्र है ।

(१४९) श्लोकार्थ—जो अखण्डित–अखण्ड एक, अनारत–अविछिन्न, सकल दोषों से दूर, उत्कृष्ट, संसार समुद्र में डूबे हुए जीव समूह के लिये जहाज स्वरूप, प्रबल दुर्ग-संकट समूहरूपी दावानल को बुझाने के लिये जल के सदृश है, ऐसे उस सहज तत्त्व को ही मैं हर्ष से पुनरपि सतत नमस्कार करता हूं ।

(पृथ्वी)

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम् ।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः
नमामि सुखमन्दिरं सहजतत्त्वमुच्चैरदः ॥१५०॥

(पृथ्वी)

प्रनष्टदुरितोत्करं प्रहृतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम् ।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं
प्रवृद्धगुणमंदिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुमः ॥१५१॥

---

(१५०) श्लोकार्थ—जो जिनप्रभु के मुखकमल से विश्रुत है, स्वरूप में स्थित है—अपने आपमें ही विराजमान है, मुनीश्वरों के मनरूपी महल के भीतर रखे हुए सुन्दर रत्नदीप के समान है, दर्शनमोह को जीतने वाले योगियों के द्वारा इस जगत में नमस्कार करने योग्य है ऐसे सुख के मन्दिर उस सहजतत्त्व को मैं अतिशयरूप से नमस्कार करता हूं ।

(१५१) श्लोकार्थ—जिसने प्रकर्षरूप से पापसमूह को नष्ट कर दिया है, जिसने पुण्य कर्म के समूह को भी प्रकर्षरूप से मार दिया है, जिसने कामदेव आदि को प्रकर्षरूप से समाप्त कर दिया है, जो प्रबल–अर्थात् प्रकृष्ट बलशाली ज्ञान–केवलज्ञान का निवास गृह है, जिसको तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं, जो प्रकृष्टरूप से करण–इन्द्रियों का नाश करने वाला है अथवा जो प्रकरण करने योग्य कार्य के नाश स्वरूप-कृतकृत्य है, जो प्रकृष्ट रूप से वृद्धिगत गुणों के रहने के लिये स्थान स्वरूप है और जिसने प्रकर्ष रूप से मोहरात्रि को नष्ट कर दिया है ऐसे उस सहज परमतत्त्व को हम नमस्कार करते हैं ।

भावार्थ—यहां काव्य के प्रकाण्ड विद्वान पद्मप्रभमलधारी मुनिराज ने प्रत्येक पद के प्रारम्भ में 'प्र' शब्द का प्रयोग किया है जो कि आठ बार आया है जिससे शब्द में ही नहीं बल्कि अर्थ में भी लालित्य आ गया है ।

विशेषार्थ—साधु देववंदना, गुरुवंदना करके शरीर की शुद्धि करके आहार के लिए जाते हैं। श्रावक के द्वारा पड़गाहन होने पर वे उनके घर में प्रवेश करते हैं, पश्चात् नवधाभक्ति होने के बाद वे सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान की निष्ठापना करते हैं और चतुरंगुल पाद के अंतराल से खड़े होकर आहार करते हैं। यथा—'सभी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकने पर सिद्ध भक्तिपूर्वक पूर्व दिन के ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान का त्याग करके.....खड़े होकर आहार करते हैं अर्थात् कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि गुरु के पास से प्रत्याख्यान त्याग करके आहारार्थ जावें सो गलत है क्योंकि मार्ग में प्रत्याख्यान बिना रहना उचित नहीं है, इसी बात को यहां स्पष्ट किया है। जैसे वहां प्रत्याख्यान का निष्ठापन कर आहार ग्रहण करें वैसे ही वहीं पर शीघ्र ही भोजन के अनन्तर लघु सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेवें, पुनः आकर गुरु के पास लघु सिद्धयोगि भक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान लेवें। यदि वहां ग्रहण नहीं करे और मार्ग में जाते हुए अकस्मात् किसी कारण से मरण हो जावे तो [२]अप्रत्याख्यान हो जावेगा।

यहां इस अधिकार में व्यवहार प्रत्याख्यान करने वाले ऐसे महामुनियों के निश्चय प्रत्याख्यान का वर्णन है और यह निश्चय रत्नत्रय में ही घटित होता है। व्यवहार प्रत्याख्यान जिनके है उनके निश्चय है और नहीं भी है, किंतु जिनके निश्चय प्रत्याख्यान है उनके व्यवहार प्रत्याख्यान अवश्य हो चुका है, क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं हो सकता है। इस अधिकार को पढ़कर नित्य ही निश्चय प्रत्याख्यानरूप शुद्ध आत्मा की भावना करनी चाहिये।

---

१. वर्णी पूर्णप्रतिज्ञोऽथ सिद्ध भक्ति विधाय तत्।
प्रत्याख्यानं विनिष्ठाप्य प्रेरितो भक्तदातृभिः ॥११६॥ [आचारसार पृ. १३४]
हेयं त्याज्यं साधुनः निष्ठाप्यमित्यर्थः किं तत्? प्रत्याख्यानादिकं मुपोषितं वा।
क्व? अशनादौ भोजनारंभे। कया सिद्ध भक्त्या। .....सिद्ध भक्त्या प्रतिष्ठाप्यं साधुनाः....
[अनगार धर्मामृत पृ. ६४६]

२. प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थं पृथु चंडवत् ॥३०॥ [अन० धर्मामृत पृ. ६५०]

**इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल
धारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः ष
श्रुतस्कन्धः ॥**

इसप्रकार से सुकवि समूहरूपी कमल के लिये सूर्य के समान, पंचेन्द्रियों के व्यापार से रहित, गात्र मात्र परिग्रहधारी—परम निर्ग्रन्थ तपोधन श्री पद्मप्रभमलधारी देव विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार नामका छठा श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।

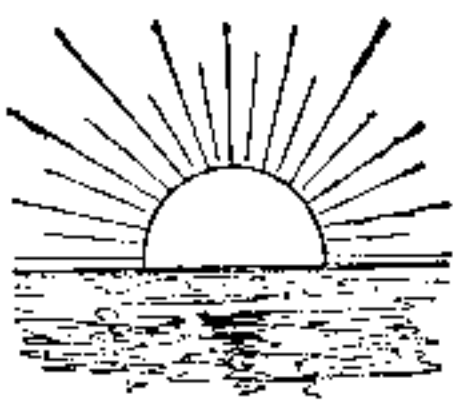

[७]

परम-आलोचना अधिकार

आलोचनाधिकार उच्यते—

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि ॥१०७॥

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्व्यतिरिक्तम् ।
आत्मानं यो ध्यायति श्रमणस्यालोचना भवति ॥१०७॥

अखिलगीछंद

कर्म नोकर्म से हीन जो शुद्ध है ।
गुण व पर्याय वैभाव से रिक्त है ॥
जो उसी आतमा को सदा ध्यावते ।
वे श्रमण ही तो आलोचना पावते ॥१०७॥

अब आलोचना अधिकार को कहते हैं—

गाथा १०७

अन्वयार्थ—[**नोकर्मकर्मरहितं**] नोकर्म और द्रव्यकर्म से रहित [**विभाव-गुणपर्ययैः व्यतिरिक्तं**] विभावगुण पर्यायों से रहित [**आत्मानं**] आत्मा का [**यः ध्यायति**] जो ध्यान करता है [**तस्य**] उस [**श्रमणस्य**] श्रमण के [**आलोचना भवति**] आलोचना होती है ।

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत् । औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि हि नोकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणांतराय मोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्माणि । कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्तामात्रग्राहकशुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम् । मतिज्ञानादयो विभावगुणा नरनारकाविव्यंजनपर्यायाश्चैव विभावपर्यायाः । सहभुवो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाश्च, एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं, स्वभावगुणपर्यायैः संयुक्तं त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनाप्रपंचपराङ्मुखः सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः -

(आर्या)

"मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।"

टीका—यह निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन है ।

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांचों शरीर ही नोकर्म हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नाम वाले ये आठ द्रव्य कर्म हैं । कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष सत्तामात्र ग्राहक जो शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिकनय है उसकी अपेक्षा से जीव इन नोकर्म और द्रव्यकर्मों से निर्मुक्त है । मतिज्ञान आदि विभावगुण हैं और नर नारकादि व्यंजन पर्यायें विभाव पर्यायें हैं, क्योंकि सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायें होती हैं, इन समस्त विभावगुण-पर्यायों से रहित तथा स्वभाव गुण और स्वभाव पर्यायों से सहित, त्रिकाल निरावरण निरंजनरूप ऐसी परमात्मा का जो परमश्रमण–महामुनि नित्य ही अनुष्ठान के समय में वचन रचना के प्रपंच से पराङ्मुख होते हुए ध्यान करते हैं, उन भावश्रमण के सतत निश्चय आलोचना होती है ।

उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—[1]मोह के विलास से विस्तार को प्राप्त और उदय में आता हुआ

---

१. समयसार कलश, २२७ ।

उक्तं चोपासकाध्ययने—

(आर्या)

"आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ।।"

तथा हि—

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे ।

जो यह सकल कर्म है उसकी आलोचना करके कर्मों से शून्य और चैतन्य स्वरूप ऐसी अपनी आत्मा में मैं नित्य ही अपनी आत्मा के द्वारा 'निवास करता हूं' ।

भावार्थ—भूतकालीन दोषों के त्याग को प्रतिक्रमण, भविष्यकालीन दोषों के त्याग को प्रत्याख्यान और वर्तमानकालीन दोषों के त्याग को आलोचना कहते हैं तथा संपूर्ण दोषों की उत्पत्ति का मूलकारण द्रव्यकर्म है इसलिये यहां उन्हीं उदय में आते हुए द्रव्यकर्मों की आलोचना की गई है ।

[1]उपासकाध्ययन में भी कहा है—

श्लोकार्थ—"कृत, कारित, अनुमोदना से हुये ऐसे सम्पूर्ण पापों की निष्कपट-वृत्ति से आलोचना करके मरणकालपर्यंत संपूर्ण महाव्रतों को आरोपित करे-ग्रहण करे ।"

भावार्थ—जब कोई भी श्रावक सल्लेखना हेतु गुरु के पास जाता है तब वह संपूर्ण दोषों की आलोचना करके शेष जीवन तक के लिये गुरुदेव से महाव्रत लेकर मुनि हो जाता है ।

उसीप्रकार से [श्री टीकाकार मुनिराज आलोचना का फल बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१५२) श्लोकार्थ—घोर संसार के लिये मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृत की नित्य ही बार-बार आलोचना करके उपाधि रहित गुणों से युक्त ऐसी अपनी शुद्ध आत्मा

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार स्वामी समंतभद्र विरचित श्लोक १२५ ।

पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ॥१५२॥

आलोयणमालुंछण, वियडीकरणं च भावशुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खणं समए ॥१०८॥

आलोचनमालुंछनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिश्च ।
चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समये ॥१०८॥

का अपनी आत्मा के द्वारा ही मैं अवलम्बन लेता हूं । अनन्तर द्रव्यकर्म स्वरूप समस्त प्रकृतियों को अत्यन्तरूप से नाश करके सहज विलासरूप ऐसी बोध—केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करता हूं ।

भावार्थ—जो पुण्य-पाप इन दोनों की आलोचना हो रही है वह अवस्था शुद्धोपयोगी परमवीतरागी मुनियों की होती है कि जहां पर—दशवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का जड़मूल से नाशकर पुनः शीघ्र ही बारहवें गुणस्थान के अन्त में शेष घातिया कर्मों का नाश कर देते हैं और तत्क्षण ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं । छठे गुण स्थान तक मुनियों के केवल पापकर्मों की आलोचना होती है पुण्य की नहीं । तथा यह जो पुण्य को भी घोर संसार का मूल कहा है वह सामान्य कथन है किन्तु विशेष कथन में सम्यक्त्व सहित पुण्य परंपरा से मोक्ष का कारण है और सम्यक्त्व रहित पुण्य कदाचित् सम्यक्त्व आदि में कारण है । कदाचित् वापस सुख भोग के अनन्तर पाप निवृत्ति कराकर संसार में भ्रमाता ही रहता है । अतः सर्वथा एकांत नहीं समझना क्योंकि "[1]पुण्णफला अरिहंता" ऐसा श्री कुंदकुंद देव का ही कथन है ।

गाथा १०८

अन्वयार्थ—[आलोचनं] आलोचना [**आलुञ्छनं**] आलुंछन [**अविकृतिकरणं**] अविकृतिकरण [च] और [**भावशुद्धिः च**] भावशुद्धि ये [**चतुर्विधं**

---

१. प्रवचनसार गाथा–४५, अधिकार–१ ।

नाम आलोचना और आलुंछना।
और अविकृतिकरण भावशुद्धी भणा ॥
ये चतुर्विध कहे श्रेष्ठ जिनशास्त्र में।
सर्व आलोचना के ही लक्षण हैं ये ॥१०८॥

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत् । भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनतार्तिसुभगसुन्दरानन्दनिष्यन्दनक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमलविनिर्गतचतुरसंदर्भगर्भीकृतराद्धांतादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमालोचनायाश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त इति ।

(इन्द्रवज्रा)
आलोचनाभेदममुं विदित्वा
मुक्त्यंगनासंगमहेतुभूतम् ।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः
तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥१५३॥

आलोचनलक्षणं] चार प्रकार आलोचना का लक्षण [**इह समये**] यहां आगम में [**परिकथितं**] कहा है।

टीका—आलोचना के स्वरूप के भेदों का यह कथन है।

भगवान् अर्हंतदेव के मुखकमल से निकली हुई, संपूर्ण जनता के कर्ण के लिये मनोहर और सुन्दर आनन्द को झराने वाली ऐसी जो अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि है उसके जानने में कुशल चतुर्थ–मनःपर्यय ज्ञानधारी श्री गौतमगणधर महर्षि के मुख सरोज से निकले हुये चतुर वचनों की रचना से गर्भित ऐसे जो सिद्धांत आदि सकल शास्त्र हैं उन शास्त्रों के अर्थ समुदाय के सार में भी सर्वस्वरूप यह शुद्ध निश्चय परम आलोचना है उसके चार भेद होते हैं। वे चारों भेद आगे कही गई गाथाओं से कहे जाते हैं।

[टीकाकार श्री मुनिराज आलोचना से परिणत मुनि श्रद्धावनत नमस्कार करते हुए तथा निश्चय आलोचना में अपनी प्रगाढ़ रुचि प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–]

(१५३) श्लोकार्थ—मुक्ति सुन्दरी के संगम के कारणभूत ऐसे इन आलोचना के भेदों को जानकर भव्य जीव निश्चितरूप से अपनी आत्मा में ही स्थिति को प्राप्त

जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिवि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०९॥

यः पश्यत्यात्मानं समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥१०९॥

जो स्वपरिणाम को साम्य में थापके ।
स्वात्म में शुद्ध आत्मा को अवलोकते ॥
उन मुनि के हि आलोचना जानिये ।
ये हि उपदेश अर्हंत का मानिये ॥१०९॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता । यः सहजवैराग्यसुधासिंधुनाथोंडीरपिंडपरिपांडुरमंडनमंडलोप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशीथिनीनाथः सदान्तर्मुखाकार-

---

होते हैं । उन अपनी आत्मा में निष्ठित–विराजमान साधु को मेरा नमस्कार होवे ।

भावार्थ—इससे मुनिराज की साधुओं के गुणों में अनुरागरूप विशेष भक्ति प्रगट हो रही है क्योंकि जो जिस गुण का इच्छुक होता है वह उस गुण से युक्त की उपासना अवश्य करता है ।

गाथा १०९

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**सभभावे परिणामं संस्थाप्य**] समताभाव में अपने परिणाम को संस्थापित करके [**आत्मानं पश्यति**] अपनी आत्मा का अवलोकन करता है [**आलोचनं**] वह आलोचना है [**इति**] ऐसे [**परमजिनेन्द्रस्य उपदेशं**] परमजिनेन्द्र के उपदेश को [**जानीहि**] तुम जानो ।

टीका—यहां पर आलोचना के स्वीकार मात्र से परमसमताभावना को कहा है ।

जो सहज वैराग्यरूपी अमृतसमुद्र के फेन समूह की शोभामंडली को प्रकर्षरूप से बढ़ाने के लिये पूर्णिमा की अर्धरात्रि के पूर्णचन्द्र हैं अर्थात् स्वाभाविक वैराग्य की उज्ज्वलता को द्विगुणित किये हुये हैं ऐसे महामुनि सदा अंतर्मुखाकार–अभ्यन्तर में

अत्यपूर्वं निरंजननिजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखस्वस्वभावनिरत-सहजावलोकनेन निरन्तरं पश्यति । किं कृत्वा ? पूर्वं निजपरिणामं समतावलंबनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति । तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति ।
सोऽयं वंद्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
तं वंदे सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ।।१५४।।

उपयोग सहित, अतिशय, अपूर्व निरंजन निजज्ञान के निवासगृहरूप ऐसे कारण परमात्मा को निरवशेषरूप अंतर्मुख से अपने स्वभाव में लीन सहज अवलोकन-दर्शन के द्वारा निरन्तर देखते हैं । क्या करके ? पूर्व में अपने परिणाम को समता में अवलंबित करके परमसंयमी होकर स्थित होते हैं, वही-आत्मावलोकन आलोचना का स्वरूप है ऐसा हे शिष्य ! तुम परम जिननाथ के उपदेश से जानो । इसप्रकार से आलोचना के भेदों में यह पहला भेद है ।

[अब टीकाकार मुनिराज आलोचना के गुणों का बखान करते हुए छह श्लोक कहते हैं—]

(१५४) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार से जो आत्मा अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा ही अविचलस्थानरूप ऐसी आत्मा को देखता है वह अनङ्गसुखमय (अतीन्द्रिय-सुखमय) मुक्ति लक्ष्मी के विलास को अल्पसमय में प्राप्त कर लेता है सो यह आत्मा सुरेन्द्रों से, संयमधारी मुनियों के समूह से, विद्याधरों से, भूमिगोचरियों से वंद्य है ऐसे सभी से वंद्य संपूर्ण गुणों के निधान उस आत्मा की मैं उन गुणों की अपेक्षा होने से वंदना करता हूं ।

भावार्थ—अपनी आत्मा में अपने द्वारा ही षट्कारकी लगाने से जो साधु अपने आप में ही स्थिर हो जाता है वह लोक में सभी के द्वारा वंदनीय हो जाता है

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः ।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मि-
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥१५५॥

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपंचमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः ।

तथा मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है । इसलिये श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने यहां पर उन निश्चयरत्नत्रय से परिणत आत्मा को नमस्कार किया है ।

(१५५) श्लोकार्थ—परमसंयमियों के हृदय सरोज के मध्य में यह आत्मा स्पष्ट है जो कि ज्ञानज्योति से पापरूपी अंधकार के पुंज को नष्ट कर चुका है तथा पुराण—प्राचीन है । वह आत्मा संसारी जीवों के वचन और मन के अगोचर है ऐसे इस आरातीय—प्राचीन परमपुरुष में क्या तो विधि है और क्या निषेध है ?

भावार्थ—परमोपेक्षासंयमी योगी वीतराग निर्विकल्प ध्यान में जिस आत्मा का ध्यान करते हैं वह संसारी जीवों द्वारा न तो वचन से कही जा सकती है और न वे उसका अनुभव ही कर सकते हैं । वास्तव में ऐसी महान् अवस्था को प्राप्त करते हुए महापुरुषों के लिये क्या ग्रहण करना शेष है और क्या छोड़ना शेष रहा है ? अर्थात् ग्रहण करने और छोड़ने के विकल्पों से दूर वे विकल्पातीत अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं । हां, इतना अवश्य है कि प्रारम्भिक अवस्था में उन्होंने परिग्रहादि को विभाव भावों को भी छोड़ा है और महाव्रतादिरूप व्यवहार चारित्र को ग्रहण किया ही है अन्यथा यह अवस्था प्राप्त होना असंभव थी ।

इसप्रकार से परम जिनयोगीश्वर इस पद्य के द्वारा व्यवहार आलोचना के विस्तार का उपहास कर रहे हैं ।

(पृथ्वी)

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥१५६॥

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति ।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ॥१५७॥

(वसंततिलका)

निर्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम् ।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय ॥१५८॥

---

(१५६) **श्लोकार्थ**—निर्दोष चैतन्यमय यह सहजतत्त्व अतिशयरूप से जयशील हो रहा है जो कि सकल इन्द्रियसमूह से उत्पन्न हुए कोलाहल से रहित है। नय और कुनय के समूहों से दूर होते हुए भी योगियों के गोचर है। सदा शिवमय है, उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों के लिये बहुत ही दूर है।

(१५७) **श्लोकार्थ**—जो शुद्धात्मा अपने सुखरूपी अमृत के समुद्र में डुबकी लगा रही है ऐसी इस आत्मा को भव्यजीव परमगुरु के प्रसाद से जानकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये मैं भी अतिअपूर्व उस आत्मा की अतिशयरूप से सदा भावना करता हूं जो कि सिद्धि से उत्पन्न हुए सुखरूप शुद्ध है, भेद के अभाव में कोई एक अद्भुत है सहज-स्वभावरूप है।

(१५८) **श्लोकार्थ**—संपूर्ण परिग्रह से रहित, निर्मोहरूप, निर्दोष, परभावों से मुक्त ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं निर्वाणसुन्दरी से उत्पन्न होने वाले अनंगसुख के लिये नित्य ही सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूं और नमस्कार करता हूं।

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि ।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ।।१५९।।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो, आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ।।११०।।

कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थः स्वकीयपरिणामः ।
स्वाधीनः समभावः आलुञ्छनमिति समुद्दिष्टम् ।।११०।।

कर्म महीरुह मूल को छेदने में यही ।
शुद्ध निज का जो परिणाम समरथ वही ।।
वो है परिणाम स्वाधीन समभावमय ।
उसको कहते हैं आलुंछना जिन अभय ।।११०।।

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत् । भव्यस्य पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभा
औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पंचमभावः । अत एवोदयोदीरणक्ष

---

(१५९) **श्लोकार्थ**—अपने भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर निर्दोष एक चिन्मात्र की भावना करता हूं । संसार सागर से पार होने के लिये अभे रूप से कथित ऐसे मोक्ष मार्ग को भी मैं नित्य ही नमस्कार करता हूं ।

गाथा ११०

अन्वयार्थ—[**कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थः**] जो कर्मरूपी वृक्ष की जड़ को छेद में समर्थ है [**स्वाधीनः**] अपने आधीन है और [**समभावः**] समभावरूप है ऐसा [**स्वकीय परिणामः**] अपनी आत्मा का परिणाम है वह [**आलुंछनं**] आलुंछन [**इति निर्दिष्टं**] ऐसा कहा है ।

टीका—परमभाव के स्वरूप का यह कथन है ।

भव्य जीव का पारिणामिक भावस्वभाव से जो परमस्वभाव है वह पंचम औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक इन चार विभावस्वभावों के अगो

क्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः । अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम् । निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः त्रिकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयबलेन कुदृष्टेरयं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोप्यविद्यमान एव । नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन स परमभावः अभव्यत्वपारिणामिक इत्यनेनाभिधानेन न संभवति । यथा मेरोरधोभागस्थितसुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमस्वभावत्वं, वस्तुनिष्ठं न व्यवहारयोग्यम् । सुदृशामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभावः सदा निरंजनत्वात्, यतः सकलकर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवालुंछनाभिधानम् अनेन परमपंचमभावेनअत्यासन्नभव्यजीवस्य सिध्यतीति ।

है। इसीलिये वह कर्मों के उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशमरूप विविध विकारों से वर्जित है। इस कारण यह एक भाव ही परमरूप है अन्य चार भाव अपररूप हैं। संपूर्ण कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को निर्मूलन करने में समर्थ, त्रिकाल निरावरण निजकारण परमात्मा के स्वरूप का जो श्रद्धान है उससे विपरीत जो मिथ्यात्व कर्म है उसके तीव्र उदय के निमित्त से मिथ्यादृष्टि जीव के यह परमभाव निश्चयनय से सदा विद्यमान होते हुए भी अविद्यमान ही है। नित्यनिगोद क्षेत्र के जीवों में भी शुद्धनिश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्वपारिणामिक' इस नाम से संभव नहीं है। जैसे मेरु के नीचे भाग में रहने वाली सुवर्णराशि को भी सुवर्णपना है उसीप्रकार से अभव्यों के भी परमस्वभावपना है किन्तु वह वस्तु में स्थित है व्यवहार के योग्य नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जो अत्यासन्न भव्य जीव हैं उनमें सदा निरंजनरूप होने से वह परमभाव सफलीभूत है क्योंकि वह सकल कर्मरूपी विषम विषवृक्ष की विशाल जड़ को उखाड़ने में समर्थ है।

इस परमपंचमभाव के द्वारा अत्यासन्न जीव के यह निश्चय परमआलोचना के भेद में होने वाली आलुञ्छन नामकी आलोचना सिद्ध होती है।

विशेषार्थ—यद्यपि क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से होता है और वह सिद्धों में भी क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन आदि से विद्यमान है फिर भी यहां उसे विभाव भाव

(मंदाक्रांता)

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः ।
मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणा
मेकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥१६०॥

में सम्मिलित कर दिया है इसका मूल कारण यही है कि यह भी 'कर्मों के क्षय' इस उपाधि से विवक्षित है। यहां तो शुद्ध निश्चयनय से कर्मों की उपाधि आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं है अतः परमपारिणामिकभाव ही विवक्षित है। इस निश्चयनय के अवलंबन से शुद्ध आत्मा में तन्मय होने वाली आत्मा ही कारण परमात्मा कहलाती है।

दूसरी बात यह है कि यहां नित्यनिगोद जीवों को भी शुद्धनिश्चयनय से परम पारिणामिकभाव वाला कहा है। उसमें अभव्यत्व नामक पारिणामिक हो तो भी उसकी यहां विवक्षा नहीं है, परन्तु ऐसी नय विवक्षा से उन्हें शुद्ध कह देने से भी वे बेचारे शुद्ध नहीं हो सकते, न उनको कुछ आनन्द ही आ सकता है वे बेचारे अत्यन्त-दयनीय दुरवस्था में पड़े हुए हैं। इसलिये शुद्धनिश्चयनय से अपने को शुद्ध समझकर हम लोगों को कृतार्थ नहीं हो जाना चाहिये, प्रत्युत उस शुद्ध अवस्था को प्रगट करने में अतीव पुरुषार्थ शील होना चाहिए।

[अब टीकाकार मुनिराज पंचमभाव की महिमा बतलाते हुये दो श्लोक कहते हैं—]

(१६०) श्लोकार्थ—जो कर्मशत्रु से रहित प्रगट सहज अवस्था से विद्यमान है आत्मा के स्वरूप में लीन हुए ऐसे सभी संयमियों के लिये मुक्ति का मूल कारण है, एक स्वरूप है, अपने रस–अनुभव के विस्तार से परिपूर्ण भरा हुआ होने से पुण्यरूप अर्थात् पवित्र है और जो पुराण–सनातन है वह शुद्ध में भी शुद्ध परिपूर्ण शुद्ध है ऐसा एक पंचमभाव सदा जयशील हो रहा है।

(मंदाक्रांता)

आसंसारादखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा ।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुभ्मंडलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ।।१६१।।

कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए, वियडीकरणं ति विण्णेयं ।।१११।

कर्मणः आत्मानं भिन्नं भावयति विमलगुणनिलयम् ।
मध्यस्थभावनायामविकृतिकरणमिति विज्ञेयम् ।।१११।।

---

(१६१) **श्लोकार्थ**—अनादिकालीन संसार मे यह अखिल जनसमूह तीव्रमोह के उदय से मत्त है, नित्य ही काम के वशीभूत है और अपनी आत्मा के कार्य में अत्यधिक मूढ़ है । यह जनसमूह मोह के अभाव मे प्रगटित सहजावस्थारूप, ज्ञानज्योति से सर्व दिशाओं को धवलित करने वाले ऐसे शुद्धभाव को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—संसारी जीव अनादिकाल से मोह के उदय से अपने स्वभाव से पराङ्मुख हुये हैं और विषयों में लगे हुए हैं । कहा भी है—

अनादिविद्यादोषोत्थ-चतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागाराः विषयोन्मुखाः ।।सागार धर्मामृत।।

अनादिकालीन अविद्या के दोष से उत्पन्न हुये चार संज्ञारूपी ज्वर से पीड़ित हो रहे हैं ऐसे सागार-गृहस्थ सदैव अपने आत्मज्ञान से विमुख हैं और विषयों में तत्पर हो रहे हैं ऐसी स्थिति में मोह के अभाव से जब ज्ञानज्योति प्रगट होती है तब वही सहज शुद्ध अवस्था का अनुभव कराती है ।

गाथा १११

अन्वयार्थ—[**कर्मणः भिन्नं**] कर्म से भिन्न और [**विमलगुणनिलयं**] विमल गुणों का निवासगृहरूप [**आत्मानं**] आत्मा को [**भावयति**] जो भाता है [**मध्यस्थ**

कर्म से भिन्न आतमा को जो भावते।
उसको निर्मल गुणों का निलय जानते॥
लीन होते सदा भाव मध्यस्थ में।
हो अविकृतिकरण जानिये तब उन्हें॥१११॥

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेषः प्रोक्तः। यः पापाटवीपा द्रव्यभावनोकर्मभ्यः सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुण [-निलयं माध्यस्थ्यभाव भावयति तस्याविकृतिकरण-] अभिधानपरमालोचनायाः स्वरूपमस्त्येवेति।

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे-
रन्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः॥१६२॥

भावनायां] उस मध्यस्थ–वीतराग भावना में **[अविकृतिकरणं]** अविकृतिकरण है **[इति विज्ञेयं]** ऐसा जानना चाहिये।

टीका—यहां पर शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष को कहा है।

जो पाप वन को जलाने में अग्नि सदृश हुआ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो के संपर्क से भिन्न तथा सहजगुणों के स्थानस्वरूप ऐसी आत्मा को वीतराग भावना भाता है उसके अविकृतिकरण नामकी परमआलोचना का स्वरूप होता ही है।

[अब टीकाकार मुनिराज शुद्धोपयोग के सन्मुख करने वाली भावना भाते हुये नौ श्लोक कहते हैं—]

(१६२) श्लोकार्थ—आत्मा सदैव द्रव्यकर्म और नोकर्म समूह से भिन्न अन्तरङ्ग में शुद्ध है, शम दम गुणरूपी कमलिनी का राजहंस है अर्थात् कषायों का

---

१. कुछ पाठ छूटा हुआ प्रतीत है अतः उसे जोड़कर अर्थ किया है।

(मंदाक्रांता)

अक्षयान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावाब्धिपूरे-
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहःकलंकः ।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ॥१६३॥

(वसंततिलका)

संसारघोरसहजादिभिरेव रौद्रैः-
र्दुःखादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने ।

और इन्द्रियों का दमन ये दो गुण प्रमुख हैं ये ही कमलिनी के सदृश हैं इसमें केलि करने वाला यह आत्मा राजहंस के समान है, नित्यानंद आदि अनुपम गुण स्वरूप और चिच्चमत्कार की मूर्तिस्वरूप सो यह आत्मा मोह के अभाव से अन्य संपूर्ण विभावों को नहीं ग्रहण करता है ।

भावार्थ—जिसप्रकार राजहंस कमलों में केलि करता है उसीप्रकार आत्मा रूपी राजहंस शान्तभाव और जितेन्द्रियतारूपी गुणों में रमता है । वीरप्रभु का शासन शमदम शासन कहलाता है ये दो गुण ही संपूर्ण गुणों की शोभा को बढ़ाने वाले हैं इनके बिना अन्य गुण फीके हैं । इन गुणों को प्रमुख करके अनन्तगुण पुंज आत्मा चैतन्यमयी चमत्कारी मूर्ति स्वरूप है । विश्व में अलौकिक चमत्कार को प्रगट करने वाली है ।

(१६३) श्लोकार्थ—जो अक्षय, अन्तर में गुण मणियों के समूहरूप है, जिसने अत्यन्त स्वच्छ ऐसे शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में अपने पापरूपी कलंक को धो डाला है, जिसने इन्द्रिय ग्रामों के कोलाहल को समाप्त कर लिया है तथा जिसने ज्ञानज्योति से अंधकार दशा को प्रकर्षरूप से नष्ट कर दिया है ऐसी शुद्धात्मा अतिशयरूप से प्रकाशमान हो रही है ।

(१६४) श्लोकार्थ—संसार के घोर साहजिक इत्यादि भयंकर दुःखादिकों से प्रतिदिन संतप्त होते हुए इस जगत् में ये मुनिनाथ समता के प्रसाद से शमभावरूप अमृतमयी हिमसमूह प्राप्त कर लेते हैं ।

लोके शमामृतमयोमिह तां हिमानीं
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ।।१६४।।

(वसंततिलका)

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात् ।
तस्मादहं सुकृतदुष्कृतकर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ।।१६५।।

भावार्थ—संसार में साहजिक, मानसिक, शारीरिक और आगंतुक ऐसे चार प्रकार के दुःख माने गये हैं जो बहुत ही भयंकर हैं। इनसे लोक संतप्त हो रहा है, अभिप्राय यह है कि इस लोक में रहने वाले संसारी प्राणी संतप्त हो रहे हैं ऐसे ही तप्तायमान हुए संसार में समतादेवी की उपासना के प्रसाद से मुनिराज ही शमभाव रूप बर्फ के समूह को प्राप्त करके शीतलता का अनुभव करते हैं अन्य नहीं 'परमेको मुनिः सुखी' गुणभद्र स्वामी का भी कहना है—इस संसार में एक महामुनि ही सुखी हैं अर्थात् मुनिराज रागद्वेष को दूर करके परमसमता भाव को धारण कर सकते हैं और उन्हें ही वीतरागता से जो सुख उत्पन्न होता है वह परम शांतिदायी है।

(१६५) श्लोकार्थ—मुक्तजीव कभी भी विभावभाव के समूह को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनके उस विभाव के कारणभूत ऐसे शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मों का अत्यन्त नाश हो गया है। इसलिए मैं शुभ और अशुभ ऐसे सभी कर्मों को छोड़कर इस एक मुमुक्षु के मार्ग को प्राप्त करता हूं।

भावार्थ—यहां पर 'मुमुक्षु' पद से वीतराग महामुनि के मार्ग को प्राप्त करने की बात है क्योंकि वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित साधु ही पुण्य पाप ऐसे सभी कर्मों का संवर करते हैं वे ही मुमुक्षु कहलाते हैं।

(अनुष्टुभ्)
प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम् ।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कंधबंधुराम् ।।१६६।।

(अनुष्टुभ्)
अनादिममसंसाररोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ।।१६७।।

(मालिनी)
अथ विविधविकल्पं पंचसंसारमूलं
शुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा ।
भवमरणविमुक्तं पंचमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि ।।१६८।।

---

(१६६) श्लोकार्थ—पुद्गल स्कंधों से सुन्दर इस भवमूर्ति—देह को छोड़कर मैं ज्ञानशरीरी और सदाकाल से शुद्ध ऐसी आत्मा को प्राप्त करता हूं ।

भावार्थ—सुन्दर सुन्दर पुद्गल वर्गणाओं से बने हुये इस शरीर को नहीं छोड़ा जा सकता है किन्तु इससे ममता को छोड़कर ज्ञानमय शुद्धनिश्चयनय से त्रिकाल शुद्ध ऐसी आत्मा का आश्रय लेने से यह जीव शरीर से छूटकर अशरीरी सिद्ध हो जाता है ।

(१६७) श्लोकार्थ—शुभ-अशुभ भावों से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना मेरे अनादि कालीन संसार रोग की उत्तम औषधि है । अर्थात् शुद्धात्मा की भावना से ही संसार के जन्म-मरण रोग का नाश हो सकता है अन्य से नहीं । हां ! इस औषधि के निर्माण के लिये जो भेद रत्नत्रय है वह ग्रहण करना ही होगा अन्यथा यह औषधि मिलना असंभव है ।

(१६८) श्लोकार्थ—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव ऐसे पांच प्रकार के संसार का मूल कारण अनेक भेदरूप जो शुभ-अशुभ कर्म हैं इस बात को स्पष्ट रूप से जानकर जन्म और मरण से रहित पंचम गतिरूप मुक्ति को प्रदान करने वाला जो शुद्धात्मा है उसको मैं नमस्कार करता हूं और प्रतिदिन उसकी भावना करता हूं ।

(मालिनी)

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम् ।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६९॥

(मालिनी)

जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥१७०॥

---

(१६९) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार यह आत्मज्योति आदि और अंत से शून्य है सुललित वचनों के तथा सत्य वचनों के भी गोचर नहीं है फिर भी गुरु वचनों से उसे प्राप्त करके जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है वह परमश्री कामिनी अर्थात् मुक्तिरूपी सुन्दरी का वल्लभ हो जाता है ।

भावार्थ—यह आत्म तत्त्व वचनों से नहीं कहा जा सकता है अनुभव का विषय है फिर भी गुरुओं के वचनों के बिना इसे प्राप्त भी नहीं किया जा सकता है यह अकाट्य नियम है, जितने भी जीव मोक्ष गये हैं उन्होंने गुरुओं के वचनों का अवलम्बन अवश्य लिया है । यहां तक कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति में देशनालब्धि भी एक लब्धि मानी है जो कि गुरु के उपदेशरूप है । निसर्गज सम्यग्दर्शन जिसको हुआ है उसे भी पूर्व में कभी गुरूपदेश रूप देशनालब्धि अवश्य प्राप्त हो चुकी है ।

(१७०) **श्लोकार्थ**— जिसने सहज स्वाभाविक तेज से रागरूपी अंधकार को अत्यन्तरूप से समाप्त कर दिया है, जो मुनिवरों के मन में वास करता है, शुद्ध में भी शुद्ध अर्थात् परिपूर्ण शुद्ध है, विषय सुख में आसक्त हुये जीवों को सदैव दुर्लभ है परम सुख का समुद्र है और जिसने निद्रा को समाप्त कर दिया है ऐसा शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा जयशील हो रहा है ।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति ।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

मदमानमायालोभविवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।
परिकथितो भव्यानां लोकालोकप्रदर्शिभिः ॥११२॥

मान मद छल औ लोभ से गत रहे ।
भाव वो भव्य का भाव शुद्धी रहे ॥
लोक आलोक को जो प्रकट देखते ।
वे कहें निश्चयालोचना से इसे ॥११२॥

भावशुद्ध्यभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चयालोचनाधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् । तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुंवेदाभिधाननोकषायविलासो

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय से शुद्धज्ञानमय आत्मा का ध्यान वीतरागी मुनि करते हैं। वास्तव में छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उसकी भावना करते हैं, किन्तु जो विषय सुखों में रत हैं ऐसे गृहस्थों के लिये इस शुद्धात्मा का ध्यान कठिन है। जो वस्त्र सहित तथा विषयासक्त होकर भी शुद्धात्मा के ध्यान की बात करते हैं वे अनर्गल प्रलाप करते हैं। उन्हें पहले पंचपरमेष्ठी के अवलम्बनरूप ध्यान का अभ्यास ही हितकर है और वही उनके लिये शक्य भी है। शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये सर्व परिग्रह का त्याग परमावश्यक है।

गाथा ११२

अन्वयार्थ—[**मदमानमायालोभविवर्जितभावः तु**] मद-मदन, मान, माया तथा लोभ से रहित ही [**भावशुद्धिः**] भावशुद्धि है [**इति**] ऐसा [**लोकालोक प्रदर्शिभिः**] लोक और अलोक को देखने वाले जिनेन्द्र देव ने [**भव्यानां**] भव्यों को [**परिकथितं**] कहा है।

टीका—भावशुद्धि नामक परमआलोचना के स्वरूप प्रतिपादन द्वारा शुद्ध निश्चयआलोचना के अधिकार के उपसंहार का यह कथन है।

मदः, अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः । चतुरसंदर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनामकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया, मातृपितृसम्बन्धकुलजातिविशुद्धया वा, शतसहस्रकोटिभटाभिधानप्रधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च, दानादिशुभकर्मोपार्जितसंपद्वृद्धिविलासेन, अथवा बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीणर्द्धिभिः सप्तभिर्वा, कमनीयकामिनीलोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः । गुप्तपापतो माया । युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः; निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः । एभिश्चतुर्भिर्भावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भावशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकालोकप्रदर्शिभिः परमवीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरभिहित इति ।

तीव्र चारित्रमोह के उदय के बल से पुरुषवेद नामक नो कषाय का विलास मद कहलाता है । यहां पर 'मद' इस शब्द से मदन अर्थात् कामरूप परिणाम को लिया है । चतुर वचनों की रचना से गर्भित वैदर्भ कवित्व से आदेयनामकर्म का उदय होने पर सभी जनों से पूज्य होने पर अथवा माता और पिता संबंधी जाति एवं कुल विशुद्धि से तथा (व्रतों में) प्रधान ब्रह्मचर्य व्रत से उपार्जित लाखों कोटिभट समान उपमा रहित बल के होने से दानादि शुभकर्म से उपार्जित संपत्ति के वृद्धि के विलास से अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण इन नामवाली सात ऋद्धियों से अथवा कमनीय कामिनियों के नेत्रों को आनंदित करने वाले ऐसे शरीर के लावण्य रस के विस्तार से अपने में अहंकार होना मान कहलाता है । गुप्तपाप से माया होती है । योग्यस्थान में धन का व्यय न करना लोभ कहलाता है तथा निश्चयनय से समस्त परिग्रह के त्यागस्वरूप निरंजन निजपरमात्मतत्त्व के परिग्रह से अतिरिक्त अन्य परमाणु मात्र द्रव्य को स्वीकार करना लोभ है । इन चार प्रकार के भावों से रहित शुद्धभाव ही भावशुद्धि है । इसप्रकार से लोक-अलोक को देखने वाले, परमवीतराग सुखामृत के पान से परितृप्त भगवान् अर्हंतदेव ने भव्य जीवों के लिये कहा है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निश्चय आलोचना के प्रति अपनी विशेष भक्ति व्यक्त करते हुए नव श्लोकों द्वारा उसके महत्व को दिखलाते हैं ।]

(मालिनी)

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात् ।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७१॥

(वसंततिलका)

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥१७२॥

---

(१७१) **श्लोकार्थ**—भव्य जीव जिनेन्द्र देव के शासन में कहे हुए आलोचना के भेदों को संपूर्णरूप से अवलोकित कर तथा अपने स्वरूप को जानकर सब ओर से परभावों को छोड़ देते हैं वे मुक्तिवल्लभा के प्रियवल्लभ हो जाते हैं ।

(१७२) **श्लोकार्थ**—जो आलोचना सतत शुद्धनयस्वरूप है, संयमीजनों को सदा ही मोक्षमार्ग के फल को देने वाली है, शुद्धात्मतत्त्व में निश्चित आचरणरूप है वह मुझ (पद्मप्रभ) संयत के लिये निश्चितरूप से कामधेनुरूप होवे ।

भावार्थ—यहां टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि यह निश्चय आलोचना मुझे कामधेनु के समान इच्छित फलदायी होवे । जैसे कामधेनु विद्यारूप एक गाय होती है वह जब चाहो तब इच्छानुसार मधुर दूध देती ही रहती है चाहे जितना भी आप ले सकते हैं उसीप्रकार से निश्चयनयरूप आलोचना जब इच्छित मोक्ष फल को भी जब चाहो तब दे देती है तो और किसी लौकिक फल की तो बात ही क्या है ? वे तो मिल ही जाते हैं । अथवा तद्भवमोक्षगामी के लिये यह आलोचना लौकिक फल के सर्वथा अभाव से ही उत्पन्न होती है और अलौकिक फल को ही देने वाली है ।

(शालिनी)

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।
तस्सिद्ध्यर्थं शुद्धशीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥१७३॥

(स्रग्धरा)

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिञ्जल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम् ।
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहृतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्रम् ॥१७४॥

(हरिणी)

अभिनवमिदं पापं यायाः समग्रधियोऽपि ये
विदधति परं ब्रूमः किं ते तपस्विन एव हि ।

---

(१७३) **श्लोकार्थ**—मुमुक्षुजीव तीन लोक को जानने वाले निर्विकल्प ऐसे शुद्धतत्त्व को पुनः पुनः जानकर उसकी सिद्धि के लिये शुद्धशील—चारित्र का आचरण करके सिद्धि कांता के स्वामी होते हुए सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ।

(१७४) **श्लोकार्थ**—तत्त्व में निमग्न होते हुए ऐसे जिनमुनि के हृदय कमल की केसर में जो आनन्द सहित विद्यमान है, बाधारहित है, विशुद्ध है, कामदेव के बाण की गहन सेना को भस्मसात् करने के लिए दावानल अग्निरूप है और जिसने शुद्धज्ञान रूप दीपक के द्वारा संयमियों के मनोमंदिर के घोर अंधकार को समाप्त कर दिया है तथा जो साधुओं से वंदनीय है, संसार सागर को पार करने के लिये जहाज के सदृश है ऐसे उस तत्त्व को मैं वंदन करता हूं ।

भावार्थ—यह शुद्धात्मतत्त्व जो तत्त्वज्ञानी मुनिराज हैं उनके हृदय में विराजमान है और उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट हुआ भव्यजीवों को संसार के दुःखों से छुड़ा देता है ।

(१७५) **श्लोकार्थ**—हम पूछते हैं कि जो परिपूर्ण ज्ञानधारी होते हुए भी 'इस नवीन पाप को करो' ऐसा अन्य को कहते हैं क्या वे तपस्वी हैं ? अहो ! आश्चर्य

हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिंडमनुत्तमं
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यांति सरागताम् ।।१७५।।

(हरिणी)
जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम् ।
परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ।।१७६।।

(हरिणी)
सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।

की बात है कि हृदय में शोभायमान, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, पिंडमय और सर्वोत्तम इस पद को जानकर पुनरपि सरागता को प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—निर्विकल्प तत्त्व की भावना मे परिणत हुये साधु कर्मास्रव के लिये कारणभूत ऐसी क्रियाओं को करने का उपदेश नहीं देते हैं । यदि छठे गुणस्थान में आकर देते हैं तो वे सरागी कहलाते हैं । यहां टीकाकार आश्चर्यपूर्ण शब्दों में या खेद पूर्ण शब्दों में कहते हैं कि एक बार वीतरागता को प्राप्त करने के बाद पुनरपि सराग अवस्था को क्यों प्राप्त होते हैं । वास्तव में अंतर्मुहूर्त से अधिक निर्विकल्प ध्यान की स्थिति होती नहीं है इसलिये जानते हुये भी मुनिजन छठे गुणस्थान में आकर संघ संरक्षण, पोषण आदि शुभोपयोग में प्रवृत्त होते हैं, किंतु महामुनियों के लिये यह उत्सर्गमार्ग नहीं है ।

(१७६) श्लोकार्थ—तत्त्वों में जो सहजतत्त्व है वह नित्य ही अनाकुल है, सतत सुलभ है, प्रकाशशील है, सम्यग्दृष्टियों के लिये समता का निकेतन है, परमकला से सहित है अपने प्रवृद्धमान गुणों के साथ-साथ वृद्धिगत है, प्रगटित सहज अवस्थारूप है और निरंतर अपनी महिमा में लीन है ऐसा यह तत्त्व जयशील हो रहा है ।

(१७७) श्लोकार्थ—जो सहज परमतत्त्व सात तत्त्वों में निर्मल है, सकल विमलज्ञान-केवलज्ञान का निवासगृह है, आवरण रहित है, शिव-कल्याणरूप है, अति-

विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपंचपराङ्मुखं
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ।।१७७।।

(द्रुतविलंबित)
जयति शांतरसामृतवारिधि-
प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः
अतुलबोधदिवाकरदीधिति-
प्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ।।१७८।।

(द्रुतविलंबित)
विजितजन्मजरामृतिसंचयः
प्रहतदारुणरागकदम्बकः ।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान्
जयति यः परमात्मपदस्थितः ।।१७९।।

स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य प्रपंचों से पराङ्मुख है तथा कोई एक अद्भुत है, मुनि के मन और वचनों से दूर है ऐसे इस तत्त्व को हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—यहां पर इस तत्त्व को मुनि के भी मन तथा वचन से दूर दिया है, अभिप्राय यह है कि शुक्लध्यानरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि की अवस्था वीतरागी मुनियों के अनुभव का ही विषय है। इस परमतत्त्व के प्राप्त होते ही केव ज्ञान प्रगट हो जाता है। यह अवस्था बारहवें गुणस्थान की है ऐसा समझना।

(१७८) श्लोकार्थ—शांत रस रूपी अमृत समुद्र को प्रतिदिन वृद्धिगत क हुये ऐसे सुन्दर चन्द्रमारूप तथा अतुलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहध्वांत के स को प्रकृष्टरूप से नष्ट करने वाले ऐसे जिनभगवान् जयशील होते हैं।

(१७९) श्लोकार्थ—जिन्होंने जन्म, जरा और मरण समूह को जीत लि है, जिन्होंने दारुण राग के समुदाय को प्रकर्षरूप से नष्ट कर दिया है, जो पाप महातिमिर समूह को समाप्त करने के लिये सूर्य हैं जो ऐसे परमात्मपद में स्थित ह सदा जयवंत हो रहे हैं।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः ॥

विशेषार्थ—इस आलोचना के अधिकार में आचार्यदेव ने शुद्धनय के आश्रित ऐसी निश्चय आलोचना का ही विस्तार से वर्णन किया है। वास्तव में जो साधु व्यवहार चर्या में पूर्ण निष्णात हैं वे निष्पन्न योगी ही इस निश्चय आलोचना को प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी सामान्य साधुओं को भी इसकी भावना सदैव करते रहना चाहिए और व्यवहार आलोचना में पूर्णतया निर्दोषता लानी चाहिये। जो श्रावक या व्रती सम्यग्दृष्टि हैं उनका कर्तव्य है कि इस आलोचना को प्राप्त कराने वाले ऐसे व्यवहारचारित्र में रुचि रखते हुए उसको पूर्ण कराने में कारणभूत ऐसे साधुओं का समागम करना चाहिये और अपने पद के योग्य क्रियाओं में पूर्ण सावधानी रखते हुए अपने दोषों की भी आलोचना करते रहना चाहिये।

इसप्रकार से सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य के समान पंचेन्द्रिय के विस्तार से वर्जित शरीर मात्र परिग्रहधारी ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारीदेव द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमआलोचना अधिकाररूप सातवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

[८]

शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त अधिकार

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसंन्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः कथ्यते ।

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायच्छित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः करणनिग्रहो भावः ।
स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं चैव कर्तव्यः ॥११३॥

नरेन्द्रछंद

व्रत समिती औ शील सुसंयम के परिणाम अमल जो ।
पांचों इन्द्रिय के निग्रह के भाव विराग विमल जो ॥
वो ही प्रायश्चित्त कहाते करें दोष का शोधन ।
ऐसा प्रायश्चित्त नित करिये जो हो कर्म विमोचन ॥११३॥

अब अखिल द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के सम्यक्प्रकार से त्याग में कारणभूत ऐसे शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त के अधिकार को कहते हैं—

गाथा ११३

अन्वयार्थ—[**व्रत समिति शील संयम परिणामः**] व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा [**करण निग्रहः भावः**] इन्द्रियों के निग्रह रूप भाव, [**सः प्रायश्चितः भवति**] वह प्रायश्चित्त होता है, [**अनवरतं च एव कर्त्तव्यः**] तथा उसे हमेशा ही करना चाहिये ।

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपाख्यानमेतत् । पंचमहाव्रतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रिय वाङ्मनोकायसंयमपरिणामः पंचेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणतिविशेषः, प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्, अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाटवीपावकेन पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति ।

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिंता मुनीनां
मुक्ति यांति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूतपापाः ।

टीका—निश्चय प्रायश्चित्त के स्वरूप का यह कथन है ।

जो पंच महाव्रत, पंच समिति, शील और सम्पूर्ण इन्द्रिय तथा वचन, मन, काय के संयमनरूप संयम परिणाम है और जो पंचेन्द्रियों का निरोध है, निश्चितरूप से वह परिणति विशेष, प्रायश्चित्त है अर्थात् प्रायः—प्रचुरता से निर्विकाररूप चित्त प्रायश्चित्त कहलाता है । हमेशा अन्तर्मुख परिणतिरूप परम समाधि से युक्त, परम जिन योगीश्वर, पापरूपी वन के लिए अग्नि के सदृश, पंचेन्द्रियों के व्यापार से वर्जित, गात्रमात्र परिग्रहधारी, सहज वैराग्यरूप महल के शिखर की शिखामणि स्वरूप, परमागमरूप मकरन्द-पुष्परस जिनके मुख से झरता है ऐसे मुझ पद्मप्रभ मुनि के द्वारा वह प्रायश्चित्त करना चाहिए ।

भावार्थ—यह स्वयं टीकाकार ने अपने आपको प्रायश्चित्त क्रिया में प्रेरित किया है तथा बहुत ही सुन्दर विशेषणों से अपनी चर्या को ध्वनित कर दिया है, यह अहंकार नहीं है किन्तु उनका अपना गौरव है वे स्वयं एक निर्ग्रन्थ मुनिराज थे, उनकी प्रवृत्ति यदि ऐसी नहीं होती तो वे अपनी असत्य प्रशंसा नहीं लिखते । वास्तव में वे इन निश्चय क्रियाओं में कभी-कभी परिणत होते हुए अपनी शुभ प्रवृत्ति से प्रवर्तन करने वाले सच्चे साधु थे । उनमें गर्व की बात नहीं है प्रत्युत इन पंक्तियों से उनका गौरव ही व्यक्त होता है ।

[टीकाकार मुनिराज प्रायश्चित्त का लक्षण स्पष्ट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१८०) श्लोकार्थ—मुनियों को जो सतत अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन होता है वही प्रायश्चित्त है, क्योंकि स्वसुख में रति करने वाले मुनिराज उसके द्वारा

अन्या चिंता यदि च यमिनां ते विमूढ़ाः स्मरार्त्ताः
पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥१८०॥

पापों का क्षालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं और यदि मुनियों के अन्य चिंता होती है तो वे मूढ़ कामदेव से पीड़ित हुए पापी पुनः पाप को संचित करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

भावार्थ—अन्यत्र भी आचार्यों ने कहा है कि—

"उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात् मोहचिंता च मध्यमा ।
अधमा कामचिंता स्यात् परचिंता धमाधमा ॥"

अर्थ—स्वात्मचिंता उत्तम है, मोहचिंता मध्यम है और काम आदि इन्द्रिय विषयों की चिंता अधम है तथा परचिंता अधम से भी अधम है ।

यहां पर टीकाकार ने स्वात्मचिंता को ही प्रमुख कहा है क्योंकि वही उत्तम है और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली है उसके अतिरिक्त अन्य चिंतायें कदाचित् आत्म-तत्त्व की सिद्धि में साधक भी हैं कदाचित् बाधक भी हैं । पंच परमेष्ठी के गुणों का चिंतवन आज्ञाविचय आदि चार प्रकार के या दश प्रकार के धर्म ध्यानों का चिंतवन शुक्ल ध्यान के लिये सहायक सामग्री होने से मोक्ष का कारण माना गया है ।

"परे [1]मोक्षहेतू ।" ऐसा सूत्रकार का कहना है, जबकि यह धर्म ध्यान पर के अवलम्बन रूप ही है । यहां पर जिस चिन्ता से योगी को पापी विमूढ़ आदि कहा है वे चिंताएं साधु पद के विरुद्ध विषय कषायरूप अथवा आर्तरौद्र ध्यानरूप हैं वे तो सर्वथा त्याज्य ही हैं ।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र नवम अ. ।

कोहादिसगब्भावक्खयपहुविभावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।
प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिंता च निश्चयतः ॥११४॥

क्रोधादिक जो भाव स्वयं के वे विभाव कहलाते ।
उनके क्षय करने आदी में जो तत्पर हो जाते ॥
तथा निजातम के अनंत गुण का चिंतन जो करते ।
उनके ही निश्चय प्रायश्चित्त कहा गया निश्चय से ॥११४॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम् । क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेषविभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावभावनायां सत्यां निसर्गवृत्त्या प्रायश्चित्तमभिहितम्, अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणानां प्रायश्चित्तं भवतीति ।

गाथा ११४

अन्वयार्थ—[**क्रोधादि स्वकीय भाव क्षय प्रभृति भावनायां**] क्रोध आदि स्वकीय भावों के क्षयादि की भावना में [**निर्ग्रहणं**] रहना, [**निजगुण चिन्ता च**] और अपने गुणों का चिन्तवन करना, [**निश्चयतः**] निश्चय से [**प्रायश्चितं भणितं**] प्रायश्चित्त कहा गया है ।

टीका—सम्पूर्ण कर्मों के निर्मूलन करने में समर्थ निश्चय प्रायश्चित्त का यहां पर कथन है ।

क्रोधादि सम्पूर्ण मोह राग द्वेष रूप विभाव स्वभाव के क्षय करने में कारणभूत ऐसे निजकारण परमात्मा की भावना के होने पर नैसर्गिक वृत्ति से प्रायश्चित्त हो गया है, अथवा परमात्मा के गुणरूप, शुद्ध चैतन्य तत्त्व स्वरूप के सहज ज्ञान दर्शन आदि सहज गुणों का चिंतवन करना प्रायश्चित्त होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज इसी बात को स्पष्ट करते हुये श्लोक कहते हैं–]

(शालिनी)

प्रायश्चित्तंह्युक्तमुच्चैर्मुनीनां
कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।
किं च स्वस्य ज्ञानसंभावना वा
सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥१८१॥

कोहं खमया माणं, समद्दवेणज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं, जयदि[1] खु ए चहुविहकसाए ॥११५॥

क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च ।
संतोषेण च लोभं जयति खलु चतुर्विधकषायान् ॥११५॥

---

(१८१) **श्लोकार्थ**— मुनियों के काम क्रोधादि अन्य-परभावों के क्षय के होने में जो भाव है अथवा अपने ज्ञान की जो सम्यक् भावना है उसे अतिशय रूप से प्रायश्चित्त कहा गया है, सत्पुरुष आत्मप्रवाद पूर्व में ऐसा जानते हैं ।

भावार्थ—आत्मप्रवाद नामक सातवें पूर्व में प्रायश्चित्त का वर्णन पूर्णतया किया है । साधुजन उसी के आधार से प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं । व्रतादि में जो अतिचार या अनाचार आदि दोष होते हैं उससे आत्मा में मलीनता आती है, इसलिये उन किये हुये दोषों की शुद्धि के लिए उन दोषों को दूर करने के लिए गुरु से जो दण्ड ग्रहण किया जाता है जो कि आत्मा को पवित्र बनाने वाला है उसी का नाम प्रायश्चित्त है । यहां पर क्रोधादि विभाव परिणामों से आत्मा मलिन हो रही है उनके दूर करने में कारणभूत ऐसे निज गुणों का चिंतवन ही उत्तम प्रायश्चित्त माना है क्योंकि यही भाव आत्मा को पूर्णतया शुद्ध करने वाला है ।

गाथा ११५

अन्वयार्थ—[**क्रोधं क्षमया**] क्रोध को क्षमा से, [**मानं स्वमार्दवेन**] मान को निजमार्दव से, [**मायां च आर्जवेन**] माया को आर्जव से [**च**] और [**लोभं**

---

१. जिणदि खु चत्तारि विकहाए (क) पाठान्तर

क्षमा भाव से क्रोध जीतते, भन जीतें मृदुता से।
आर्जव से माया व लोभ को जीतें संतोषहि से ।।
निश्चय से चारों कषाय को जीत लिया जो मुनिवर।
उनके ही निश्चय प्रायश्चित्त होता कर्म भरम हर ।।११५।।

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत् । जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्रो भवन्ति । अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा । अकारणेन संत्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा । वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकारहानिरिति [ममकाहानिरिति] परमसमरसीभावस्थितिरुत्तमा क्षमा । आभिः क्षमाभिः क्रोधकषायं जित्वा, मानकषायं मार्दवेन च, मायाकषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभसन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः—

संतोषेण] लोभ को सन्तोष से, [**चतुर्विधकषायात्**] इनप्रकार चतुर्विध कषायों को, [**खलु जयंति**] साधु निश्चितरूप से जीतते हैं।

टीका—चार कषायों के विजय करने के उपाय के स्वरूप का यह कथन है।

जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से क्षमा तीन प्रकार की होती हैं। बिना कारण अप्रिय वचन बोलने वाले मिथ्यादृष्टि को अकारण ही मुझे त्रास देने का जो उद्योग है वह मेरे पुण्य से दूर हो गया ऐसा विचार करना पहली जघन्य क्षमा है। बिना कारण त्रास देने वाले का जो ताड़न करने, वध आदि करने का भाव है वह मेरे पुण्य से दूर हुआ ऐसा विचार करना दूसरी-मध्यम क्षमा है। वध होने पर अमूर्तिक परमब्रह्मस्वरूप ऐसे मेरी क्या हानि हुई ? अर्थात् कुछ भी नहीं इसप्रकार विचार कर परम समरसीभाव से स्थित रहना यह तीसरी उत्तम क्षमा है। इन क्षमारूप भावों से क्रोध कषाय को जीतकर, मार्दव से मान कषाय को जीतकर, आर्जव से माया कषाय को जीतकर तथा परमतत्त्व के लाभ के द्वारा संतोष भाव से लोभ कषाय को जीतकर साधु चारों कषायों पर विजय करते हैं।

उसीप्रकार से श्री गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है—

(वसन्ततिलका)

"चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाडघात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनंगबुद्धया ।
धोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥"

(वसंततिलका)

"चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत् ।

"श्लोकार्थ—[1]महादेव ने अपने चित्त में स्थित भी कामदेव को नहीं जानकर जड़ता से क्रुद्ध होकर बाहर में कामदेव की बुद्धि से किसी को जला दिया, किन्तु उस कामदेव से की गई घोर-दुरवस्था को वह प्राप्त हुआ था सो ठीक है—क्रोध के उदय से किसके कार्य की हानि नहीं होती है ?"

भावार्थ—जब महादेव तपस्या कर रहे थे तब पार्वती उन्हें प्रसन्न करने के लिये कामदेव के साथ वहां पहुंची और नृत्यादि से उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगी, इधर कामदेव ने भी वसन्त ऋतु का निर्माण कर उन पर पुष्प बाण छोड़ना प्रारम्भ किया । तब महादेव ने क्रुद्ध होकर तीसरे नेत्र से अग्नि को प्रगट करके कामदेव को जला दिया ऐसी कथा [2]प्रसिद्ध है ।

इसी अभिप्राय से आचार्य ने कहा है कि सच्चा कामदेव तो उनके हृदय में स्थित था जिसे उन्होंने जाना ही नहीं । इसीलिये पार्वती के साथ उनका विवाह हो जाने पर उनकी दुरवस्था हुई । यह सब अनर्थ एक क्रोध का कारण हुआ ।

"श्लोकार्थ—[3]अपने दाहिनी भुजा पर स्थित ऐसे चक्र को छोड़कर बाहुबलि ने दीक्षा ले ली, वे उस तप से उसी समय मुक्त हो जाते किन्तु वे बाहुबलि चिरकाल तक क्लेश को प्राप्त हुए सो ठीक है—किंचित् भी मान महान् हानि को करता है ।"

---

१. आत्मानुशासन श्लोक० २१६
२. कुमारसम्भवम् (कालिदास कवि कृत)
३. आत्मानु. श्लोक २१७ ।

क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हंति महतीं करोति ॥"

भावार्थ—भरत चक्रवर्ती जब छहों खण्डों को जीतकर वापिस अयोध्या आये तब उनका चक्ररत्न नगरी के बाहर द्वार पर ही रुक गया। कारण विदित करने पर मालूम हुआ कि आपके भाई आपके वश में नहीं हैं, तब अन्य भाई के दीक्षित होने के बाद बाहुबलि ने युद्ध का प्रसंग आया। मंत्रियों द्वारा निर्धारित जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और मल्ल युद्ध में भरत हार गये और बाहुबलि विजयी हुए तब भरत ने क्रुद्ध होकर चक्ररत्न चला दिया, वह चक्ररत्न बाहुबलि की प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ पर स्थित हो गया। इस घटना से बाहुबलि ने विरक्त हो दीक्षा लेकर एक वर्ष का योग ले लिया। इस प्रतिमा योग के समाप्त होने पर भरत चक्रवर्ती ने आकर उनकी पूजा की और तब उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

"इसके[1] पूर्व उनके हृदय में थोड़ी सी ऐसी चिन्ता रही कि मेरे द्वारा भरत चक्रवर्ती को संक्लेश हुआ है इसीलिये उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ और भरत चक्रवर्ती के द्वारा पूजित होने पर तत्काल उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया तथा जिनसेन स्वामी ने तो कहा है कि इन्हें ध्यानावस्था में मनःपर्ययज्ञान आदि अनेकों ऋद्धियां उत्पन्न हो गई थीं, जिससे बहुत से विद्याधर आदि अपना कष्ट निवारण किया करते थे। सो भावलिंगी छठे सातवें गुणस्थान हुए बिना ऋद्धियों का होना तथा मनःपर्ययज्ञान का होना असम्भव है।

तथा [3]पद्मचरित्र में ऐसा कहा है कि "मैं भरत की भूमि में स्थित हूं ऐसी ही सी कषाय के विद्यमान रहने से उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई।

---

१. संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।
हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजापेक्षि केवलम् ॥१८६॥

२. आदि पु. द्वि. भाग पर्व ३६, श्लोक १४४ से १८४ तक देखिये।

३. पद्मचरित्र, ५, १३, १९।

(अनुष्टुभ्)

"भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ।।"

बाहुबलि का हृदय मान कषाय से कलुषित रहा, ऐसा उल्लेख भावप्राभृत में पाया जाता है—

[1]देहादिचित्तसंगो माणकसायेण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो बाहुबलि कित्तियं कालं ।।४४।।

अर्थ—हे धीर ! देखो, श्री वृषभदेव के पुत्र बाहुबलि देहादि परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गये, तो भी मान कषाय से कलुषित चित्त हुए आतापन योग से कितने काल तक स्थित रहे तो भी सिद्धि नहीं पाई ।

"श्लोकार्थ—[2]मिथ्यात्वरूपी घनघोर अन्धकारमय इस मायारूपी महान गड्ढे से डरना चाहिए, कि जिसमें लीन हुए–रहते हुए क्रोध आदि विषम सर्प लक्षित नहीं होते हैं–दिखते नहीं हैं ।"

भावार्थ—जैसे विशाल गड्ढे में घोर अंधकार रहता है और सर्प आदि जंतु निवास करते हैं तथा उसमें गिरने से मृत्यु ही सम्भव है वैसे ही यह माया कषाय विशाल गड्ढे के समान है इसमें मिथ्यात्वरूप अन्धकार व्याप्त है तथा इसमें क्रोध आदि सर्प बैठे हुए हैं अर्थात् मायाचारी से क्रोधादि कषायें भी होती हैं, मिथ्यात्व भी आ जाता है इसलिये मायाचार से दूर रहना चाहिये ।

---

१. भावप्राभृत पृ १५४ ।

२. आत्मानु. श्लो. २२१ ।

(हरिणी)

"वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः ।
अत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ।।"

तथा हि—

(आर्या)

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्दवेनैव ।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु ।।१८२।।

उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स ।।११६।।

"**श्लोकार्थ**—[1]वनचर—भील या सिंह आदि जन्तु के भय से दौड़ती हुई चमरी गाय, जिसकी पूंछ बेल में उलझ गई है वह अपने बालों में लोलुप होती हुई मूढ़बुद्धि से वहीं अविचल स्थित हो गई। हाय! खेद है कि वह चमरी गाय उस लोभ से प्राणों से मारी गई। ठीक ही है तृष्णा से परिणत हुए जीवों को प्रायः करके ऐसी ही विपत्तियां प्राप्त होती हैं।"

उसीप्रकार से—[श्री मुनिराज कषाय विजय की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(१८२) **श्लोकार्थ**—क्षमा से क्रोध को, मार्दव से ही मान को, आर्जव के लाभ से माया को और शौच से—संतोष से लोभ को जीतो।

गाथा ११६

अन्वयार्थ—[**तस्य एव आत्मनः**] उसी आत्मा का, [**यः उत्कृष्टः बोधः**] जो उत्कृष्ट बोध है, [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**चित्तं**] चित्त है, उसको [**यः मुनिः नित्यं**

---

१. आत्मानु. श्लो. २२३।

उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तम् ।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य ।।११६।।

जो उत्कृष्ट बोध आत्मा का ज्ञान नाम से जग में ।
वो ही चित्त कहा है उस ही आत्मा का सचमुच में ।।
जो मुनि उसी ज्ञान को निज में नित धारण करते हैं ।
उनके ही प्रायश्चित्त होता सकल दोष हरते वे ।। ११६ ।।

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवतः प्रायश्चित्तमित्युक्तम् । उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोधः इत्यर्थः । **बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम् । अत एव तस्यैव परमधर्मिणो** जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण चित्तं । यः परमसंयमी नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य **सह** निश्चयप्रायश्चित्तं भवतीति ।

(शालिनी)

यः शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा
प्रायश्चित्तं ह्यत्र चास्त्येव तस्य ।

धरति] जो मुनि नित्य ही धारण करते हैं, [**तस्य**] उनके, [**प्रायश्चित्तं भवेत्**] प्रायश्चित्त होता है ।

टीका—शुद्धज्ञान को स्वीकार करने वाले के प्रायश्चित्त होता है, यहां ऐसा कहा है ।

उत्कृष्ट जो विशिष्ट धर्म है वही परमबोध कहलाता है । बोध ज्ञान और चित्त ये पर्यायवाची शब्द हैं । इसीलिये उस परमधर्मी जीव का ही प्रायः—प्रकर्षरूप चित्त—ज्ञान **प्रायश्चित्त** कहलाता है । जो परमसंयमी मुनि नित्य ही उसप्रकार के प्रकर्षरूप चित्त—ज्ञान को धारण करते हैं, उनके निश्चितरूप से निश्चय प्रायश्चित्त होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज ऐसे परममुनि को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

(१८३) श्लोकार्थ—जो इस लोक में शुद्ध आत्मज्ञान की सम्यक्भावना से परिणत हैं उन्हीं के प्रायश्चित्त होता है । जिन्होंने पाप समूह को धो डाला है ऐसे उन

निर्धूतांहःसंहतिं तं मुनीन्द्रं
वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ॥१८३॥

किं बहुणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माण खयहेऊ ॥ ११७ ॥

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षीणां सर्वम् ।
प्रायश्चित्तं जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतुः ॥ ११७ ॥

इस प्रकरण में बहुत अधिक कहने से क्या ? तुम सुनो ।
महर्षियों का श्रेष्ठ तपश्चरणादि सभी कुछ भी जो ।।
उत्तम प्रायश्चित्त वही है निश्चय से पहचानो ।
क्योंकि सर्व कर्मों के क्षय में हेतु वही है मानो ॥११७॥

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तम्, एवं सकलाचरणानां परमाचरणमित्युक्तम् । बहुभिरसत्प्रलापैरलमलम् । पुनः सर्वं निश्चयव्यव-

---

मुनीन्द्रों को नित्य ही उनके गुणों की प्राप्ति के लिये मैं वंदन करता हूं ।

गाथा ११७

अन्वयार्थ—[**बहुना भणितेन तु किं**] बहुत कहने से क्या, [**महर्षिणां सर्वं तपश्चरणं**] महर्षियों के सभी श्रेष्ठ तपश्चरण को, [**प्रायश्चित्तं जानीहि**] प्रायश्चित्त जानो, [**अनेककर्मणां**] जो कि अनेक कर्मों के, [**क्षयहेतुः**] क्षय का कारण है ।

टीका—परम तपश्चरण में लीन हुए जिन योगीश्वरों के निश्चय प्रायश्चित्त होता है, जो कि समस्त आचरणों में परम आचरण है, ऐसा यहां पर कहा है ।

बहुत से असत् प्रलापों से बस होवें, बस होवें । परम जिन योगियों के अनादि काल से बंधे हुए द्रव्यकर्म और भावकर्मों का सम्पूर्ण विनाश करने में कारणभूत, सभी

हारात्मकपरमतपश्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण विनाशकारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

(द्रुतविलम्बित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं
सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम् ।
सहजबोधकलापरिगोचरं
सहजतत्त्वमघक्षयकारणम् ॥१८४॥

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्
स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्म्यशुक्लम् ।
कर्मव्रातध्वान्तसद्बोधतेजो
लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ॥१८५॥

निश्चय और व्यवहार लक्षण वाला परमतपश्चरण स्वरूप शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त होता है ऐसा हे शिष्य ! तुम समझो ।

[अब टीकाकार मुनिराज प्रायश्चित्त की महिमा को कहते हुए पांच श्लोक कहते हैं—]

(१८४) श्लोकार्थ—जो अनशन आदि बारह प्रकार के तपश्चरणरूप सहज शुद्धचैतन्य स्वरूप को जानने वालों के लिये यह सहजज्ञान कला का विषय ऐसा यह सहज तत्त्व पापों के क्षय करने में कारण है ।

(१८५) श्लोकार्थ—यह प्रायश्चित्त निश्चितरूप से उत्तम जीवों को होता है जो कि इस स्वद्रव्य में धर्म ध्यान और शुक्लध्यान के चिंतनरूप है, कर्म समूहरूप अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा अपनी निर्विकार महिमा में लीन है ।

(मंदाक्रांता)

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा ।
कर्मारण्योद्भववरशिखाजालकानामजस्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती ॥१८६॥

(उपजाति)

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे-
र्मयोद्धृता संयमरत्नमाला
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ॥१८७॥

---

(१८६) श्लोकार्थ—जिसने ज्ञान ज्योति से इन्द्रियग्राम के घोर अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जो कर्मरूपी वन में उत्पन्न हुई दावानल अग्नि की ज्वाला समूह को बुझाने में शीघ्र ही शमजलमयी धारा को बरसाती हुई ऐसी आत्मा की उपलब्धि क्रम से संयमियों के आत्म ज्ञान से उत्पन्न होती है ।

भावार्थ—आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति संयमी मुनियों को ही हो सकती है अन्य को नहीं और उन्हें भी आत्मज्ञान के बल से ही हो सकती है अन्यथा नहीं ।

(१८७) श्लोकार्थ—अध्यात्म शास्त्ररूपी अमृत समुद्र से मैंने संयमरूपी रत्नमाला निकाली है, जो कि मुक्तिवधु के स्वामी ऐसे तत्त्ववेत्ताओं के सुकंठ में अलंकाररूप होती है ।

भावार्थ—समुद्र के मंथन से रत्न निकलते हैं वैसे ही श्री पद्मप्रभमलधारीदेव मुनिराज ने अध्यात्म शास्त्ररूपी अमृतमयी समुद्र का मंथन करके संयमरूपी रत्न निकाले हैं जो कि मुक्ति के प्राप्त करने वाले आत्मज्ञानियों के कंठ का हार बन जाते हैं अर्थात् अध्यात्म शास्त्र के अवलम्बनपूर्वक धारण किया गया संयम मुक्ति को प्राप्त करा देता है ।

(उपेन्द्रवज्रा)

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं
मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम् ।
विमुक्तिकान्तारतसौख्यमूलं
विनष्टसंसारद्रुमूलमेतत् ॥१८८॥

णंताणंतभवेण[1] समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥११८॥

अनन्तानन्तभवेन समर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ॥११८॥

जो ही अनंतानंत भवों में संचित किया गया है ।
शुभ वा अशुभ कर्म कंदः भी पवेन रूप भया है ॥
वो सब तपश्चरण करने में, मूल नष्ट हो जाता ।
इसीलिये तप ही निश्चय से प्रायश्चित्त कहाता ॥११८॥

---

(१८८) **श्लोकार्थ**—मैं नित्य ही परमात्मतत्त्व को नमस्कार करता हूं जो कि मुनीन्द्रों के हृदय कमल की कर्णिका पर निवास करने वाला है, मुक्तिरूपी कान्ता के रति सुख का मूल कारण है और संसाररूपी वृक्ष की जड़ को नष्ट करने वाला है ॥

भावार्थ—इस परमात्मतत्त्व का ध्यान मुनिजन ही कर सकते हैं, अन्यजन नहीं, इसलिये यह उनके मन के गोचर है तथा अतीन्द्रिय सुख का कारण है और संसार के दुःखों से मुक्त करने वाला है ।

गाथा ११८

अन्वयार्थ—[**अनंतानंत भवेन**] अनंतानंत भवों के द्वारा, [**समर्जित शुभाशुभ कर्म संदोहः**] उपार्जित किया गया शुभ और अशुभरूप कर्म समूह, [**तपश्चरणेन विनश्यति**] तपश्चरण से नष्ट हो जाता है, [**तस्मात् तपः प्रायश्चित्तं**] इसलिये तप प्रायश्चित्त है ।

---

१. भावेण (क) पाठान्तर

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् । आसंसारत एव समुपार्जितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावात्मकःपंचसंसार-संवर्द्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्यभिहितम् ।

टीका—प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्व में सदा अन्तर्मुख होकर के जो प्रतपन—प्रताप शील—प्रकाशमान होना है वह तप प्रायश्चित्त होता है यहां पर ऐसा कहा गया है ।

अनादि संसार से ही उपार्जित किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का जो समूह है जो कि द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप है तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार के संवर्धन में समर्थ है, वह भावशुद्धि लक्षण वाले परम तपश्चरण से विलय को प्राप्त हो जाता है, इसलिये अपनी आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ परम-तपश्चरण ही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा कहा है ।

विशेषार्थ—[1]आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना इसप्रकार से प्रायश्चित्त के नव भेद हैं, किन्तु यहां पर तप को मुख्यरूप से लिया है अतः उसी को प्रायश्चित्त कह दिया है क्योंकि तप के बारह भेदों में से ही यह प्रायश्चित्त सातवां भेद है तथा इन नव भेदों में भी एक तप भेद आ गया है । कारण यही है कि अनशन आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है । इसलिए तप को ही अध्यात्म प्रायश्चित्त में घटित करते हुए कहते हैं कि आत्मा में प्रकर्षरूप से तपना, स्थिर रूप से निवास करना निश्चय तप है । वास्तव में शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधिरूप स्थिति ही निश्चय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आदिरूप हैं ऐसा अर्थ है । ये प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त भेद निर्विकल्प ध्यान में नहीं हैं वहां केवल एक अभेद अवस्था है ये व्यवहारनय से व्यवहार की अपेक्षा से ही कहे जाते हैं ।

---

१. "आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद परिहारोपस्थापना:"

[तत्त्वार्थ सूत्र सू. २२ नवम अ.]

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं
प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदपीयूषपूर्णम् ।
आसंसारादुपचितमहात्कर्मकान्तारवन्हि-
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ॥१८६॥

अप्पसरूवालंबण, भावेण दु सव्वभावपरिहारं ।
सक्कदि कादुं जीवो, तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥११६॥

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहारम् ।
शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥११६॥

मुनी निजातम के स्वरूप का अवलंबन ले करके ।
सभी विभाव रूप भावों का त्याग स्वयं कर सकते ॥
इसीलिये यह ध्यान विश्व में, बस सर्वस्व कहाना ।
निर्विकल्प मुनि ही होते हैं स्वात्मतत्त्व के ध्याना ॥११६॥

[अब टीकाकार प्रायश्चित्त की विशेषता पर ही प्रकाश डालते कहते हैं—]

(१८६) **श्लोकार्थ**—अन्य कुछ क्रिया प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु कर्मक्षय लिए जो चिदानंदरूपी अमृत से परिपूर्ण तप है उसे ही साधुजन प्रायश्चित्त कहते वह तप अनादिकाल से संसार में संचित किये कर्मरूपी महावन को जलाने के अग्निज्वाला का समूह है, शमसुखमय है तथा मोक्ष लक्ष्मी से मिलने के लिये स्वरूप है ।

गाथा ११६

अन्वयार्थ—[**आत्मस्वरूपालम्बन भावेन तु**] आत्मस्वरूप के अवलम्बन भाव से, [**जीवः**] जीव, [**सर्वभावपरिहारं**] सर्वभावों का परिहार, [**शक्नोति**] कर सकता है, [**तस्मात्**] इसलिए, [**सर्वं ध्यानं भवेत्**] वह ध्यान होता है ।

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यध्यानमेव समर्थमित्युक्तम्। अखिलपरद्रव्यपरित्यागलक्षणलक्षिताक्षुण्णनित्यनिरावरणसहजपरमपारिणामिकभावभावनया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुमत्यासन्नभव्यजीवः समर्थो यस्मात्, तत एव पापाटवीपावक इत्युक्तम्। अतः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यान प्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति।

(मंदाक्रांता)

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योतिःप्रतिहततमःपुंजमाद्यन्तशून्यम्।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्ति
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशिः ॥१९०॥

टीका – सकल भावों का अभाव करने के लिए स्वात्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान ही समर्थ है, यहां पर ऐसा कहा है।

अखिल परद्रव्यों के परित्याग लक्षण से लक्षित, अक्षुण्ण–अविच्छिन्न नित्य निरावरण सहज परम पारिणामिक भाव की भावना से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन अन्य भावरूप चारों भावों का परिहार करने के लिये अतिनिकट भव्य जीव जिस हेतु से समर्थ है, उसी हेतु से वह पापरूपी वन के लिये पावक है ऐसा कहा गया है। इसलिये पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सभी ध्यान ही हैं, ऐसा समझना।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज ध्यान के फल को कहते हैं—]

(१९०) श्लोकार्थ—जिसने नित्य ज्योति से अंधकार पुंज का नाश कर दिया है जो आदि और अन्त से शून्य है जो परमकला के साथ आनन्द की मूर्तिस्वरूप है ऐसी एक शुद्ध आत्मा का जो शुद्धात्मा में अविचल मन वाला होता हुआ निरन्तर ध्यान करता है सो यह आचार की राशिस्वरूप शीघ्र ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

सुहअसुहवयणरयणा, रायादी[1]भाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥१२०॥

शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमात् ॥१२०॥

जो शुभ अशुभ वचन रचना को पूर्णतया तज करके ।
रागादिक अंतर भावों को स्वयं दूर अति करके ॥
नित आत्मा को ध्याते हैं नित निश्चल मन हो करके ।
परम समाधीरत उन मुनि के होता नियम नियम से ॥१२०॥

शुद्धनिश्चयनियमस्वरूपाख्यानमेतत् । यः परमतत्त्वज्ञानी महातपोधनो दैनं दैनं संचितसूक्ष्मकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणो नियमितमनोवाक्कायत्वाद्भववल्ली-मूलकंदात्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारणं करोति, न

गाथा १२०

अन्वयार्थ—[**यः**] जो, [**शुभाशुभवचन [2]रचनां**] शुभ-अशुभ वचन रचना को, [**रागादि भाववारणं**] रागादि भाव के निवारण को, [**कृत्वा**] करके, [**आत्मानं ध्यायति**] आत्मा को ध्याता है, [**तस्य तु**] उसके, [**नियमात् नियमो भवेत्**] नियम से नियम होता है ।

टीका—शुद्ध निश्चय नियम के स्वरूप का यह कथन है ।

जो परमतत्त्व ज्ञानी महातपोधन प्रतिदिन संचित हुए सूक्ष्म कर्मों के निर्मूलन में समर्थ ऐसे निश्चय प्रायश्चित्त में परायण हैं, वे मन वचन और काय के नियमित-नियन्त्रित होने से भववेल की मूलकंदरूप ऐसे शुभ-अशुभस्वरूप, प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचनों की रचना-बोलने का निवारण करते हैं, न केवल इन वचन रचनाओं

---

१. रायादि (क) पाठान्तर

२. रचनानां पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ।

केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां निवारणं च करोति। पुनरनवरतमखंडाद्वैतसुन्दरानन्दनिष्यन्दानुपमनिरंजननिजकारणपरमात्मतत्त्वं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन संभावयति, तस्य नियमेन शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्यभिप्रायो भगवतां सूत्रकृतामिति।

(हरिणी)

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम्।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम् ॥१९१॥

का तिरस्कार ही करते हैं किन्तु समस्त मोह रागद्वेषादि परभावों का भी त्याग कर देते हैं। पुनः निरन्तर अखण्ड अद्वैत सुन्दर आनन्द के निर्झररूप अनुपम निरंजन निज कारण परमात्मतत्त्व को नित्य ही शुद्धोपयोग के बल से सम्यक् प्रकार से अनुभव करते हैं, उनके नियम से शुद्ध निश्चयनियम होता है ऐसा सूत्रकार भगवान् श्री कुंदकुंददेव का अभिप्राय है।

भावार्थ—पहले गाथा ३ में आचार्य देव ने रत्नत्रय को नियम शब्द से कहा था, यहां पर भी यही अभिप्राय है क्योंकि शुद्धनिश्चयनय में परिणत हुए साधु के ही शुद्ध प्रायश्चित्तरूप निश्चय नियम होता है।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज अभेदरूप निर्विकल्प ध्यान की प्रेरणा देते हुए चार श्लोक कहते हैं—]

(१९१) श्लोकार्थ—जो भव्य जीव शुभ-अशुभरूप वचन रचना को छोड़कर नित्य ही स्फुटरूप से सहजपरमात्मा का सम्यक् प्रकार से अनुभव करता है, उस ज्ञान स्वरूप परम संयमी के नियम से यह शुद्ध नियम होता है, जो कि मुक्तिसुन्दरी के सुख का कारण है।

(मालिनी)

अनवरतमखंडाद्वैतचिच्चिविकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किंचित् ।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ।।१९२।।

(अनुष्टुभ्)

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ।।१९३।।

(अनुष्टुभ्)

भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे ।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते ।।१९४।।

---

(१९२) **श्लोकार्थ**—सततरूप से अखंड अद्वैत चैतन्यरूप निर्विकार तत्त्व अखिल नयों का विलास किंचित् स्फुरायमान ही नहीं होता है, यहां जिसमें सम भेदवाद समाप्त हो चुका है, उसको मैं नमस्कार करता हूं उसका स्तवन करता हूं उसी की सम्यक् प्रकार से भावना करता हूं ।

(१९३) **श्लोकार्थ**—यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और वह है इन विकल्प जालों से जो निर्मुक्त है मैं उसे नमस्कार करता हूं ।

(१९४) **श्लोकार्थ**—जिस योग परायण–ध्यान लीन अवस्था में कदाचि भेदवाद होते हैं, अरहन्त देव के मत में उसकी मुक्ति होगी या नहीं, कौन जानता

भावार्थ—वीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही शुद्ध नियमरूप प्रायश्चित्त है । इस निर्विकल्प अवस्था के हुए बिना कर्मों का नाश होना संभव नहीं है । भी कहा है—

"मा[1]चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ।।५६।।"

---

१. द्रव्यसंग्रह ।

कायाई परदव्वे, थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स हवे तणुसग्गं, जो झायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहृत्यात्मानम् ।
तस्य भवेत्तनूत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ॥१२१॥

जो कायादिक पर द्रव्यों में स्थिर भाव को तजके ।
निर्विकल्पभावों से, आत्मा को ध्याते हैं रुचि से ॥
कायोत्सर्ग उन्हीं के होता, वे ही महामुनी हैं ।
निश्चय प्रायश्चित्त उन्हीं के, उनको सदा नमूँ मैं ॥१२१॥

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपाख्यानमेतत् । सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावव्यंजनपर्यायात्मकः स्वस्याकारः कायः । आदिशब्देन क्षेत्रवास्तुकनकरमणीप्रभृतयः । एतेषु सर्वेषु स्थिरभावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं व्यव-

---

अर्थ—हे शिष्य ! तुम शरीर की कुछ चेष्टा-क्रिया मत करो, कुछ मत बोलो, मन में कुछ चिंतवन भी मत करो जैसे बने वैसे एकदम स्थिर हो जावो और आत्मा में ही लीन हो जावो, यही परमध्यान होता है ।

गाथा १२१

अन्वयार्थ – [**कायादिपरद्रव्ये**] काय आदि पर द्रव्य में, [**स्थिरभावं**] स्थिर भाव को, [**परिहृत्य**] छोड़ करके, [**यः**] जो, [**निर्विकल्पेन**] निर्विकल्परूप से, [**आत्मानं ध्यायति**] आत्मा का ध्यान करता है, [**तस्य**] उस साधु के, [**तनूत्सर्गः भवेत्**] कायोत्सर्ग होता है ।

टीका—निश्चयकायोत्सर्ग के स्वरूप का यह कथन है ।

सादि-सान्त मूर्तिक विजातीय विभाव व्यंजन पर्यायस्वरूप जो अपना आकार है वह 'काय' कहलाती है । यहां आदि शब्द से क्षेत्र, मकान, स्वर्ण, स्त्री आदि को ग्रहण करना चाहिये । इन सभी में स्थिर भाव-ये स्थायी हैं ऐसे भाव को तथा ये समीचीन हैं ऐसे भाव को छोड़कर नित्य ही रमणीय निरंजन निज कारण परमात्मा का व्यवहार

हारक्रियाकांडाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबलेन नित्यं ध्यायति यः सहजतपश्चरणक्षीरवारांराशिनिशीथिनीहृदयाधीश्वरः तस्य खलु सहजवैराग्यप्रासाद-शिखरशिखामणेर्निश्चयकायोत्सर्गो भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात् ।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥१९५॥

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजनिर्मग्नभास्वत्-
सहजपरमतत्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।

क्रियाकांड के आडम्बर के अनेकों विकल्परूप कोलाहल से रहित सहज परमयोग-निर्विकल्प ध्यान के बल से जो नित्य ही ध्यान करते हैं, जो कि सहज तपश्चरणरूपी क्षीर सागर को वृद्धिगत करने के लिये पूर्ण चन्द्रमा हैं, सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर की शिखामणि स्वरूप उन मुनि के निश्चितरूप से निश्चय कायोत्सर्ग होता है।

[अब टीकाकार मुनिराज निर्विकल्प ध्यान के लिये प्रेरणा देते हुए पांच श्लोकरूप कलशों द्वारा इस प्रायश्चित्त प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं—]

(१९५) श्लोकार्थ—निश्चय से कायोत्सर्ग सतत संयमी जनों को होता है, जो कि शरीर से उत्पन्न हुई प्रबलतर उन सम्बन्धी क्रियाओं के छूट जाने से वचनों के जल्पसमूह से विरक्त होने से, मन संबंधी विकल्पों के अभाव से तथा अपनी आत्मा के ध्यान से भी स्वात्मा में लीन हुए महासाधुओं के नियम से होता है ।

भावार्थ—मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रियाओं के निरोध से निर्विकल्प ध्यान में तत्पर हुए साधुओं को ही निश्चय कायोत्सर्ग होता है ।

(१९६) श्लोकार्थ—सहज तेज पुंज में डूबा हुआ ऐसा जो स्फुरायमान सहज परम तत्त्व है वह जयशील हो रहा है जो कि मोहांधकार से रहित है सहज

सहजपरमदृष्टचा निष्ठितात्माघजातं
भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥१९६॥

(मालिनी)

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ॥१९७॥

(पृथ्वी)

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःकर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तितःखलु हतोस्मि हा संसृतौ ॥१९८॥

परमदृष्टि से कृतकृत्यरूप है और भव-भव के परितापों से तथा कल्पना जालों से मुक्त है ।

(१९७) **श्लोकार्थ**—जो भव-भव का सुख है, वह अल्प-तुच्छ है, कल्पना-मात्र से ही सुन्दर लगता है, उस समस्त श्री सुख का मैं आत्मशक्ति से सम्यक्प्रकार से नित्य त्याग करता हूं और जो चिच्चमत्कार मात्र है तथा प्रगटित निज विलासरूप है ऐसे सहज परम सौख्य का मैं सदा ही अनुभव करता हूं ।

(१९८) **श्लोकार्थ**—मेरे हृदय में स्फुरायमान होती हुई समाधि की विषय-भूत-ध्यान के गोचर ऐसी इस अपनी आत्मा की गुणरूपी सम्पत्ति को पहले मैंने एक क्षण भी नहीं जाना । हाय ! बड़े दुःख की बात है कि तीनों जगत के वैभव का प्रलय करने में कारणभूत ऐसे दुष्ट कर्मों के प्रभुत्व गुण की शक्ति से मैं निश्चित ही संसार में मारा गया हूं ।

भावार्थ—मेरी आत्मा में अनन्त गुणों का पुंज विद्यमान है किंतु उसको न जान करके ही मैं इस कर्म शत्रु के द्वारा इस संसार में मारा जा रहा हूं, और अपनी संपत्ति से भी वंचित हो रहा हूं ।

(आर्या)

भवसंभवविषभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुंजे ॥१९९॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारोऽष्टमः श्रुतस्कन्धः ॥

---

(१९९) **श्लोकार्थ**—भव में उत्पन्न होने वाले विषवृक्ष के अखिल फल को दुःख का कारण जान करके मैं चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाले विशुद्ध सौख्य का अनुभव करता हूं ।

विशेषार्थ—इस शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार में प्रारम्भ में तो आचार्य ने व्रत समिति आदि के परिणाम को ही प्रायश्चित्त कहा है । वास्तव में जिसके द्वारा पाप का शोधन हो उसको प्रायश्चित्त कहते हैं, पुनः इसमें तपश्चरण को प्रायश्चित्त बतलाते हुए अन्त में १२१ वीं गाथा में कायोत्सर्ग को भी ले लिया है । अधिकांश प्रायश्चित्त में तपश्चरण और कायोत्सर्ग ही प्रधान रहते हैं । स्थल-स्थल पर टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो व्यवहार क्रियाओं में पूर्ण निष्णात हैं उन्हीं साधु के यह निश्चय प्रायश्चित्त होता है । यदि वे व्यवहार में ही लगे रहते हैं तो उन्हें यह निश्चय धर्म नहीं भी होता है किन्तु जब भी निश्चय प्रायश्चित्त आदि साधु के होंगे तो वे सब व्यवहार क्रिया में पूर्ण निष्णात के ही होंगे न कि व्यवहार क्रिया से शून्य या शिथिल के । इसलिए पहली सीढ़ी में व्यवहार में पूर्ण सावधान रहते हुए आगे निश्चय धर्म को प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

इसप्रकार से सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्यसमान, पंचेन्द्रियों के व्यापार से रहित गात्र-मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्या में शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार नाम वाला आठवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ।

[६]

परम–समाधि अधिकार

अथ अखिलमोहरागद्वेषादिपरभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्यधिकार उच्यते ।

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

वचनोच्चारणक्रियां परित्यज्य वीतरागभावेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२२॥

गीताछंद

जो वचन उच्चारण क्रिया को सर्वथा ही त्यागते ।
बस वीतरागी भाव से निज आत्मा को ध्यावते ॥
उनहीं मुनी के कहीं परम समाधि-जो अब नहिं सुलभ ।
उन शुक्ल ध्यानी साधु को कैवल्य की प्राप्ति सुलभ ॥१२२॥

अब समस्त मोह रागद्वेष आदि पर भावों के विध्वंस में कारणभूत ऐसे परम समाधि अधिकार को कहते हैं

गाथा १२२

अन्वयार्थ—[**वचनोच्चारण क्रियां परित्यक्त्वा**] वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर, [**यः**] जो, [**वीतराग भावेन**] वीतराग भाव से, [**आत्मानं ध्यायति**] आत्मा को ध्याता है, [**तस्य**] उसके, [**परम समाधिः भवेत्**] परम समाधि होती है ।

परमसमाधिस्वरूपाख्यानमेतत् । क्वचिदशुभवंचनार्थं वचनप्रपंचांचितपरमवीतरागसर्वज्ञस्तवनादिकं कर्तव्यं परमजिनयोगीश्वरेणापि । परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवाग्विषयव्यापारो न कर्तव्यः । अत एव वचनरचनां परित्यज्य सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तप्रध्वस्तभावकर्मात्मकपरमवीतरागभावेन त्रिकालनिरावरणनित्यशुद्धकारणपरमात्मानं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपनिरतपरमशुक्लध्यानेन च यः परमवीतरागतपश्चरणनिरतः निरुपरागसंयतः ध्यायति, तस्य खलु द्रव्यभावकर्मसेनारूपिनीलुंटाकस्य परमसमाधिर्भवतीति ।

टीका—यह परम समाधि के स्वरूप का कथन है ।

कभी अशुभ से बचने के लिये वचनों के विस्तार से मनोहर परम वीतराग सर्वज्ञ देव का स्तवन आदि परम जिन योगीश्वर को भी करना चाहिये । परमार्थ से प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे समस्त वचन विषयक व्यापार को नहीं करना चाहिए, इसी हेतु से वचन रचना का परित्याग करके सकल कर्म कलंकरूपी पंक से रहित तथा भाव कर्म के भी प्रध्वस्त हो जाने से होने वाले ऐसे परम वीतराग भाव के द्वारा तीनों कालों में आवरण रहित, नित्य, शुद्ध, कारण परमात्मा को जो परम वीतराग तपश्चरण में लीन हुआ वीतरागी संयमी साधु स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान से और टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वरूप में निरत ऐसे शुक्लध्यान से ध्याता है, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी सेना को जीतने वाले ऐसे उस साधु के वास्तव में परम समाधि होती है ।

भावार्थ—यहां पर निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर वीतरागी साधु का ही मुख्य रूप से ग्रहण है । यह निश्चय धर्मध्यान सातवें गुणस्थान के द्वितीय भेद रूप सातिशय अप्रमत्त अवस्था में होता है, पुनः श्रेणी में आरोहण करने वाले के ही शुक्लध्यान होता है । मोहनीय कर्म के अभाव से पूर्ण वीतरागता होती है जो कि ग्यारहवें गुणस्थान में ही विवक्षित है । इन उभय ध्यान से पूर्व छठे और स्वस्थान अप्रमत्तरूप सातवें गुणस्थान में सविकल्प धर्मध्यान होता है । छठे गुणस्थानवर्ती महामुनियों को भी टीकाकार ने प्रथम पंक्ति में वचनों द्वारा जिनेन्द्र गुण स्तवन आदि व्यवहार क्रियाओं में उपादेय बतलाया है, क्योंकि जब तक निर्विकल्प अवस्थारूप ध्यान प्राप्त न हो तब तक आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं करना चाहिये ।

(उपजाति)

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरन्तीं समतानुयायिनीम् ।
यावन्न विद्मः सहजात्मसंपदं
न मादृशां या विषया विवामहि ।।२००।।

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ।।१२३।।

संयमनियमतपसा तु धर्म्यध्यानेन शुक्लध्यानेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ।।१२३।।

संयम नियम औ तपश्चर्या को सदा जो धारते ।
निजधर्मध्यान विशुद्ध से निज आत्मा को ध्यावते ।।
या शुक्ल ध्यान विशेष से शुद्धात्म में तन्मय हुए ।
उन साधु के ही कहो परमसमाधि वे निजमय हुये ।।१२३।।

[अब टीकाकार मुनिराज परमसमाधि की भावना को भाते हुए कहते हैं–]

(२००) **श्लोकार्थ**—किसी (एक अद्वितीय–परम) समाधि के द्वारा उत्तम आत्माओं (उत्तम अंतरात्माओं) के हृदय में स्फुरायमान होती हुई, समता भाव की अनुयायिनी ऐसी सहज आत्मसंपत्ति का जब तक हम अनुभव नहीं करते हैं, तब तक हम जैसे साधुओं के लिये विषयभूत जो कोई सुख है उसको नहीं समझ सकते हैं ।

गाथा १२३

अन्वयार्थ—[**संयम नियम तपसा तु**] संयम, नियम और तप से तथा, [**धर्मध्यानेन–शुक्लध्यानेन**] धर्मध्यान और शुक्लध्यान से, [**यः आत्मानं ध्यायति**] जो आत्मा को ध्याता है, [**तस्य परम समाधिः भवेत्**] उस साधु की परम समाधि होती है ।

इह हि समाधिलक्षणमुक्तम् । संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः । नि
स्वात्माराधनातत्परता । आत्मानमात्मन्यात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनम् । सकल
क्रियाकांडाडम्बरपरित्यागलक्षणान्तःक्रियाधिकरणमात्मानं निरवधित्रिकालनिरुपाधि
रूपं यो जानाति, तत्परिणतिविशेषः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानम् । ध्यानध्येयध्या
फलादिविविधविकल्पनिर्मुक्तांतर्मुखाकारनिखिलकरणग्रामागोचरनिरंजननिजपरमत
विचलस्थितिरूपं निश्चयशुक्लध्यानम् । एभिः सामग्रीविशेषैः सार्धमखंडाद्वैतपरमचि
मात्मानं यः परमसंयमी नित्यं ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवतीति ।

(अनुष्टुभ्)

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ॥२०१॥

टीका—यहाँ पर समाधि का लक्षण कहा है ।

समस्त इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग संयम कहलाता है । नियम
शब्द से स्वात्मा के आराधन में तत्परता का होना है जो आत्मा को आत्मा के द्वा
आत्मा में सम्यक्प्रकार से धारण करता है—स्थिर करता है, वह अध्यात्मरूप तपन
तप है । सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकांडरूप आडम्बर के परित्याग स्वरूप और अंतरंग क्रि
के आधारभूत ऐसी आत्मा जो कि अवधि रहित त्रिकाल में उपाधिरहित स्वरूप
उसको जो जानना है वह परिणति विशेष स्वात्माश्रित धर्मध्यान है । ध्यान, ध्ये
ध्याता और उनके फलादिरूप विविध विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार समस्त इंद्रि
ग्रामों के अगोचर, निरंजन ऐसे निज परमतत्त्व में अविचलस्थितिरूप निश्चय शुक्लध्या
होता है । इन संयम, नियम, तप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप सामग्री विशे
से रहित जो परमसंयमी अखंड अद्वैत परम चिन्मय आत्मा का नित्य ही ध्यान कर
है उस संयमी के निश्चितरूप से परम समाधि होती है ।

[टीकाकार मुनिराज ऐसे संयमियों की वंदना में तत्पर हुए कहते हैं—]

(२०१) **श्लोकार्थ**—जो चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में नित्य ही स्थि
होते हैं उन द्वैत और अद्वैत से निर्मुक्त ऐसी आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं ।

किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्त उववासो ।
अज्झयणमौणपहुदो, समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

किं करिष्यति बनवासः कायक्लेशो विचित्रोपवासः ।
अध्ययनमौनप्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य ॥१२४॥

जिनके न समता भाव है वे श्रमण यदि बन में रहें ।
अति करें कायक्लेश तप उपवास भी बहुविध गहें ॥
बहु शास्त्र का अध्ययन मौनादिक बहुत भी नित करें ।
ये सब क्रियायें क्या करेंगी ? साम्य बिन नहिं शिव वरें ॥१२४॥

अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिंगधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोककारणं नास्तीत्युक्तम् । सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तमहानंदहेतुभूतपरमसमताभावेन विना कान्तारवासावासेन प्रावृषि वृक्षमूले स्थित्या च ग्रीष्मेऽतितीक्ष्णकरकरसंतप्तपर्वताग्रशिला-निषण्णतया वा हेमन्ते च रात्रिमध्ये ह्याशांबरदशाकलेन च, खड्गतिष्ठनमूलपरीषहक्लेशदः-

---

गाथा १२४

अन्वयार्थ—[**वनवासः**] वन में निवास, [**कायक्लेशः**] काय का क्लेश, [**विचित्रोपवासः**] अनेक विचित्र उपवास तथा, [**अध्ययन मौन प्रभृतयः**] अध्ययन, मौन आदि कार्य, [**समता रहितस्य श्रमणस्य**] समता से रहित श्रमण के लिए, [**किंकरिष्यति**] क्या करेंगे ?

टीका—समता के बिना द्रव्यलिंगधारी, श्रमणाभासी साधु के कुछ भी परलोक मुक्ति का कारण नहीं है, ऐसा यहां कहा है ।

समस्त कर्मकलंकरूपी कीचड़ से रहित, महान आनन्द के लिये कारणभूत ऐसे परम समता भाव के बिना वनवास में रहने से, वर्षाऋतु में वृक्ष के तलभाग में स्थित होने से, ग्रीष्म ऋतु में अतितीव्र किरण वाले सूर्य की किरणों से तप्तायमान हुए पर्वत के अग्रशिखर पर स्थिर बैठने से अथवा शीत ऋतु में रात्रि के मध्य में दिगम्बर दशा में रहने से अर्थात् खुले मैदान में ध्यान करने से अथवा चर्म, अस्थिभूत

यिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च, वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिलक्षणेन संततम
नव्रतेन वा किमप्युपादेयं फलमस्ति केवलद्रव्यलिंगधारिणः श्रमणाभासस्येति ।

तथा चोक्तम् अमृताशीतौ.....

(मालिनी)

"गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा ।
प्रपठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ।।"

सर्वांग को क्लेशदायी ऐसे महोपवास से तथा सदा अध्ययन की कुशलता से अथवा वचनविषयक व्यापार के अभावरूप निरन्तर मौन व्रत से केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास के लिये क्या कुछ भी उपादेयभूत फल है ? अर्थात् नहीं है ।

उसीप्रकार से [1]अमृताशीति ग्रंथ में भी कहा है—

"श्लोकार्थ—पर्वत की गहन गुफा आदि में अथवा वन के शून्य प्रदेश में रहना, इन्द्रियों का निरोध करना, ध्यान करना, तीर्थों की उपासना करना, पठन करना, जप और होम करना इत्यादि कार्यों से ब्रह्म स्वरूप आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः भो भव्य ! तुम गुरुओं से उस अन्य ही प्रकार को ढूंढो ।

भावार्थ—इन ध्यान, अध्ययन आदि क्रिया कलापों से भी जिस आत्मतत्त्व की सिद्धि नहीं हो पाती है ऐसी जो कोई निर्विकल्प रूप वीतराग अवस्था है या शुद्ध निश्चयसम्यक्त्व है उसे गुरुओं के प्रसाद से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

---

१. श्री योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति-श्लोक ५९ ।

तथा हि—

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं
समतया रहितस्य यतेर्न हि ।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं
भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥२०२॥

[अब टीकाकार मुनिराज समतादेवी की उपासना के लिये प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(२०२) श्लोकार्थ—समता से रहित यति को अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा निश्चितरूप से फल नहीं है। इसलिये, हे मुने ! समता का कुल मंदिर ऐसे इस आकुलता रहित निज तत्त्व को तुम भजो।

भावार्थ—यदि कोई साधु द्रव्यलिंगी है, श्रमण के सदृश दिखता है किंतु भाव श्रमण नहीं है तथा समताभाव से भी रहित है तो घोराघोर तपश्चरणों के द्वारा भी उसको आत्मसिद्धिरूप फल नहीं मिलेगा। हां ! मंदकषाय के द्वारा बाह्य चारित्र से उसे नवग्रैवेयक तक, अहमिन्द्र के सुख तो मिल भी सकते हैं, किन्तु जो वास्तविक निर्वाण फल है, वह नहीं मिल सकता है। इसलिये यहां पर स्वयं भगवान कुंदकुंददेव ने भी कहा है कि समता—वीतराग भाव से रहित साधु के लिये काय क्लेशादि क्या कर सकते हैं ? इससे यह नहीं समझना कि ये काय क्लेशादि व्यर्थ हैं, किन्तु ऐसा समझना कि इतनी ऊंची जिन कल्पी चर्या के आचरण करने वालों को भी तथा अध्यात्म शास्त्र के अध्ययन करने वालों को भी द्रव्यलिंगी अवस्था रह सकती है। तब यह सम्यक्त्व कितना सूक्ष्म है कि जिसे वे स्वयं ग्यारह अंग के पाठी होने पर भी नहीं जान पाते हैं, क्या वे आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन नहीं करते हैं ? अवश्य करते हैं फिर भी वे भाव मिथ्यात्वी ही रह जाते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि अपने सम्यक्त्व रूप श्रद्धान परिणाम को दृढ़ करते रहना चाहिये और जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए रागद्वेष को हटाकर समतादेवी की आराधना करते रहना चाहिए।

विरदो[1] सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

विरतः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तः पिहितेन्द्रियः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२५॥

जो मुनि सरब सावद्य चर्या से विरत हैं नित्य ही ।
औ तीन गुप्ती युक्त हैं और पांच इन्द्रिय के जयी ॥
उनही मुनी के सर्वथा स्थायि सामायिक रहे ।
अरिहंत शासन में कहा इसविध यही ऋषिगण कहें ॥१२५॥

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापारविमुखस्य तस्य च मुनेः सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तम् । अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुरंबक्लेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः, प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियाणां मुखैस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभा-

गाथा १२५

अन्वयार्थ—[**सर्व सावद्ये विरतः**] जो सम्पूर्ण सावद्य योग से विरत, [**त्रिगुप्तः**] तीन गुप्ति से सहित, और [**पिहितेन्द्रियः**] इंद्रियों को संवृत्त करने वाले हैं, [**तस्य**] उनके [**स्थायिसामायिकं**] स्थायी सामायिक है, [**इति केवलिशासने**] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—समस्त सावद्य व्यापार से रहित, तीन गुप्तियों से गुप्त और सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार से विमुख ऐसे उन मुनि के सामायिक व्रत स्थायी है ऐसा यहां पर कहा है ।

जो यहां पर एकेन्द्रिय आदि प्राणी समुदाय के लिये क्लेश के कारणभूत ऐसे समस्त पाप योग के व्यासंग से रहित हैं, प्रशस्त और अप्रशस्तरूप समस्त काय, वचन तथा मन सम्बन्धी व्यापार के अभाव से तीन गुप्ति से सहित हैं । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन नामवाली पांच इंद्रियों के मुख से अर्थात् उन-उन के योग्य विषयों

१. विरदो (क) पाठा ।

वात् पिहितेन्द्रियः, तस्य खलु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः सामायिकं व्रतं शाश्वत् स्थायि भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानाम् ।
अन्तःशुद्धचा परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ॥२०३॥

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

के ग्रहण का अभाव होने से संकुचित इन्द्रिय वाले हैं—इन्द्रियों का निरोध करने वाले हैं, उन परमवीतराग संयमी, महामुमुक्षु साधु के निश्चितरूप से सामायिक व्रत शाश्वत-स्थायी होता है ।

[टीकाकार मुनिराज सामायिक चारित्र का महत्व बतलाते हुए कहते हैं—]

(२०३) **श्लोकार्थ**—इसप्रकार भवभयकारी संपूर्ण पापयोग के समूह को छोड़कर काय, वचन, मन की विकृति को हमेशा नष्ट करके अन्तरंग की शुद्धिरूप परमकला से सहित ऐसा एक आत्मा को जान करके जीव स्थिर शममय (कषायों की पूर्ण उपशमतारूप) ऐसे शुद्ध चारित्र को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—'सर्वसावद्ययोगाद्विरतोऽस्मि' मैं सम्पूर्ण पाप सहित योग से विरक्त हूं इसे ही सामायिक चारित्र कहते हैं । दीक्षा के समय यह एक अभेदरूप चारित्र होता है पुनः अभेद से भेद में आने के बाद छेदोपस्थापना रूप—अट्ठाईस मूलगुणों के भेदरूप चारित्र होता है । यहां पर इस अभेद चारित्र का ही स्वरूप और महत्व बतलाया है ।

गाथा १२६

अन्वयार्थ—**[यः स्थावरेषु वा त्रसेषु]** जो स्थावर और त्रस जीवों के प्रति,

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु वा ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ।।१२६।।

जो त्रस तथा स्थावरों में सर्वप्राणी मात्र में ।
समभाव को धारण करें मुनि सर्वतः सब काल में ।।
उन साधु के ही सर्वथा स्थायि सामायिक रहे ।
अर्हंत शासन में कहा, यह कुन्दकुन्द गुरू कहें ।।१२६।।

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षोः स्वरूपमत्रोक्तम् । यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः विकारकारणनिखिलमोहरागद्वेषाभावाद् भेदकल्पनापोढपरमसमरसीभावसनाथत्वात्त्रसस्थावरजीवनिकायेषु समः, तस्य च परमजिनयोगीश्वरस्य सामायिकाभिधानव्रतं सनातनमिति वीतरागसर्वज्ञमार्गे सिद्धमिति ।

[समः] समस्वभावी है, **[तस्य]** उसके, **[सामायिकं स्थायि]** सामायिक स्थायी है, **[इति केवलिशासने]** ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—परम माध्यस्थ भाव आदि में आरोहण करके स्थित हुए जो परम-मुमुक्षु हैं उनका स्वरूप यहां कहा है ।

जो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर की चूड़ामणि स्वरूप महामुनि विकार के कारणभूत ऐसे सम्पूर्ण मोह रागद्वेष के अभाव से, भेद कल्पना से रहित और परम समरसी भाव से सहित होने से त्रस-स्थावर जीव निकायों के प्रति समभावी हैं, उन परम जिन योगीश्वर के सनातन सामायिक नामक व्रत होता है, यह वीतराग सर्वज्ञ देव के मार्ग में सिद्ध है ।

भावार्थ—परम्परा से आगत समीचीन कथन सनातन कथन है यह सामायिक व्रत भी परम्परागत समीचीन व्रत है ।

[टीकाकार मुनिराज अभेद चारित्र की स्तुति करते हुए पुनरपि आठ श्लोक कहते हैं—]

(मालिनी)

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम् ।
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥२०४॥

(अनुष्टुभ्)

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिद्द्वैतपथे स्थिताः ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम् ॥२०५॥

(अनुष्टुभ्)

कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम् ॥२०६॥

---

(२०४) **श्लोकार्थ**—परम जिन मुनियों का चित्त-अंतःकरण हमेशा ही अतिशयरूप से त्रस जीवों की हिंसा और स्थावर जीवों के वध से विमुक्त है और जो चरमसीमा को प्राप्त ऐसा निर्मल है, उस चैतन्य के परिणामरूप मन को मैं कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं, उसका स्तवन करता हूं और उसकी सम्यक्प्रकार से भावना करता हूं ।

भावार्थ—मुनियों का चैतन्य परिणामरूप जो भावमन है वह जीव हिंसा के परिणाम से रहित है तथा निर्मलता में पराकाष्ठा को प्राप्त है उस मन की स्तुति, वंदना, भावना आदि करने से हमारा भी मन पवित्र निर्मल होगा ।

(२०५) **श्लोकार्थ**—कोई अद्वैतमार्ग में स्थित हैं और कोई द्वैत मार्ग में स्थित हैं, किन्तु हम द्वैत और अद्वैत से विनिर्मुक्त ऐसे निर्विकल्प मार्ग में रहते हैं ।

(२०६) **श्लोकार्थ**—दूसरे कोई भी अद्वैत को चाहते हैं और अन्य कोई द्वैत को चाहते हैं तथा मैं द्वैत-अद्वैत से मुक्त ऐसी आत्मा को नमस्कार करता हूं ।

(अनुष्टुभ्)

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥२०७॥

(शिखरिणी)

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरै
रखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः ।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ॥२०८॥

(शिखरिणी)

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च ।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ॥२०९॥

---

(२०७) **श्लोकार्थ**—मैं सुख को आकांक्षा करने वाला आत्मा जन्म रहित और नाश रहित ऐसी अपनी आत्मा को, आत्मा के द्वारा ही आत्मा में स्थित होकर पुनः पुनः भाता हूं ।

(२०८) **श्लोकार्थ**—भव को करने वाले इन विकल्प के कथनों से बस होवे, बस होवे । अखंड आनन्दस्वरूप आत्मा सकलनय समूह का अविषय है इसलिये यह कोई (एक अद्वितीय) आत्मा द्वैत और अद्वैत रूप नहीं है, मैं शीघ्र ही भवभय के नाश हेतु सतत उस एक स्वरूप आत्मा की वंदना करता हूं ।

(२०९) **श्लोकार्थ**—योनि में—जन्मरूप संसार में सुख और दुःख सुकृत और दुष्कृत के समूह से उत्पन्न हुए हैं, पुनः आत्मा को शुभ का ही अभाव है अथवा अशुभ परिणति भी नहीं है नहीं है, क्योंकि इस संसार में इस एक आत्मा को भव का परिचय अत्यन्त रूप से बिलकुल नहीं है । इसप्रकार से जो भव के गुण समूह से संन्यस्त हो चुका—मुक्त हो चुका है, उसकी मैं स्तुति करता हूं ।

(मालिनी)

इदमिदमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटितसहजतेजःपुंजदूरीकृतांहः ।
प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ॥२१०॥

(पृथ्वी)

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम् ।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ॥२११॥

भावार्थ—संसार में सभी सुख और दुःख पुण्य और पाप के ही फल हैं, किंतु वास्तव में शुद्धनिश्चयनय से मेरी आत्मा में पुण्य और पाप का लेश नहीं है वह तो पूर्ण शुद्ध है। इसीलिये इस शुद्धात्मा का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी शुद्ध भावना से परिणत हुए शुद्धोपयोगी महामुनियों की यहां स्तुति की गई है।

(२१०) श्लोकार्थ—जिसने प्रगट हुए सहज तेज पुंज से प्रबलतर अंधकार समूह को दूर कर दिया है, जो सदा शुद्ध-शुद्ध है, नित्य है और चैतन्य चमत्कार मात्र है। यह तेज जगत् में जयशील हो रहा है और यही सहज तेज पापरूपी सेना की ध्वजा को हरण करने वाला है।

भावार्थ—चिच्चमत्कार मात्र सहजतेज पाप शत्रु की सेना को जीतकर विजयी बन जाता है।

(२११) श्लोकार्थ—यह निर्दोष आत्म तत्त्व जयवंत हो रहा है जो कि संसार का अस्त कर चुका है, महामुनियों के गण के अधिनाथ ऐसे गणधर देव के हृदय कमल में विराजमान है, भव के कारणों से विमुक्त है, प्रकटरूप से शुद्ध है और एकान्त से सदा अपनी महिमा में लीन होते हुए भी सम्यग्दृष्टियों का गोचर है।

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

यस्य सन्निहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२७॥

जिस साधु की आत्मा लगी संयम नियम तप में सदा ।
उस रूप परिणति हो रही निश्चय रतनत्रय युत सदा ॥
उस ही मुनी के सर्वथा, स्थायि सामायिक रहे ।
श्री केवली अर्हंत शासन में इसीविध से कहे ॥१२७॥

अत्राप्यात्मैवोपादेय इत्युक्तः । यस्य खलु बाह्यप्रपंचपराङ्मुखस्य निर्जिताखिलेन्द्रियव्यापारस्य भाविजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाह्यसंयमे कायवाङ्मनोगुप्तिरूपे सकलेन्द्रियव्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितकालाचरणमात्रे नियमे परमब्रह्मचिन्मात्र

भावार्थ—इस शुद्ध आत्मतत्त्व को चार ज्ञानधारी और सप्त ऋद्धि समन्वित ऐसे गणधर देव भी अपने हृदय में विराजमान करके ध्यान करते हैं यह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा एकान्तरूप से अपनी महिमा में ही तत्पर है फिर भी सम्यग्दृष्टि जन इसका अनुभव करते हैं ।

गाथा १२७

अन्वयार्थ—[**यस्य आत्मा**] जिसकी आत्मा, [**संयमे**] संयम में, [**नियमे**] नियम में, और [**तपसि**] तप में, [**सन्निहितः**] निकट है, [**तस्य**] उसके, [**सामायिकं स्थायि**] सामायिक व्रत स्थायी है, [**इति केवलिशासने**] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—आत्मा ही उपादेय है ऐसा यहां पर भी कथन है ।

जो बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख हैं, अखिल इंद्रियों के व्यापार को जिन्होंने जीत लिया है ऐसे जो भावी जिन हैं उनके निश्चितरूप से पाप क्रिया से निवृत्तिरूप बाह्य संयम में, काय गुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्तिरूप सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार

नियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यवहारप्रपंचितपंचाचारे पंचमगतिहेतुभूते किंचनभावप्रपंचपरिहीणे सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्रसादासादितनिरंजननिजकारणपरमात्मा सदा सन्निहित इति केवलिनां शासने तस्य परद्रव्यपराङ्मुखस्य परमवीतरागसम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रभाजः सामायिकव्रतं स्थायि भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनःशुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।

वर्जित ऐसे अभ्यन्तररूप संयम में मर्यादित काल के आचरण मात्र ऐसे नियम में अपने स्वरूप में अविचल स्थितिरूप परमब्रह्म स्वरूप चिन्मय में नियत ऐसे निश्चय स्वरूप अन्तर्गत आचार में पंचमगति के लिये कारणभूत ऐसे व्यवहार के विस्तार से सहित पंचाचार में, किंचन भावरूप [यह किंचित् भी मेरा है] प्रपंच से रहित और सकल अशुभ आचार के अभाव में कारणभूत ऐसे परम तपश्चरण में परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुआ ऐसा निरंजनरूप निजकारण परमात्मा सदा निकट में स्थित है । इसप्रकार से केवलिभगवान के शासन में परद्रव्य से पराङ्मुख और वीतराग चारित्र को प्राप्त हुए ऐसे परम वीतराग सम्यग्दृष्टि के सामायिक व्रत स्थायी होता है ।

भावार्थ—जो त्रिगुप्ति से सहित महासाधु हैं और भविष्य में जिनेन्द्र के पद को प्राप्त करने वाले ऐसे भावी जिन हैं, उनकी निजकारण परमात्मा स्वरूप आत्मा सदा ही बाह्य और अभ्यन्तररूप संयम, नियम, चारित्र तथा तपश्चरण में स्थित रहती है, तब उन्हीं वीतराग चारित्र से युक्त निश्चय सम्यग्दृष्टि के परमसमता भावरूप सामायिक व्रत स्थायीरूप रहता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज उन्हीं मुनिराज का गुणगान करते हुए कहते हैं—]

(२१२) श्लोकार्थ—शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसे परमसंयमी की आत्मा नित्य ही तप में, नियम में, संयम में और सम्यक्चारित्र में अतिशयरूप से स्थित है, यदि ऐसा

तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे ।
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे ॥२१२॥

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेइ दु ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

यस्य रागस्तु द्वेषस्तु विकृतिं न जनयति तु ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२८॥

ये राग द्वेष विकार नहिं उत्पन्न हो सकते जिन्हें ।
वे ही महामुनि वीतराग, समाधि में नित परिणमें ॥
उनके परम सामायिक व्रत स्थायि सामायिक रहे ।
अर्हंत शासन में कहा यह कुन्दकुन्द गुरू कहें ॥१२८॥

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम् । यस्य परमवीतरागसंयमिनः पापाटवीपावकस्य रागो वा द्वेषो वा विकृतिं नावतरति, तस्य महानन्दाभिला-

---

अन्तःकरण है तो राग के समाप्त हो जाने से रमणीय भवभय को हरण करने वाले ऐसे उन भावी तीर्थाधिनाथ में यह सहजसमता निश्चित ही साक्षात् होती है ।

भावार्थ—वीतरागी परम साधु के आत्मा सदा ही तपश्चरण आदि में स्थित रहती है यही कारण है कि वे भावी तीर्थेश्वर हैं और उनके अन्दर परम साम्य भावना परम वीतरागता प्रगट होती है ।

गाथा १२८

अन्वयार्थ—[यस्य] जिनके, [रागः तु द्वेषः तु] राग और द्वेष, [विकृतिं तु न जनयति] विकृति को उत्पन्न नहीं करते हैं, [तस्य] उनके, [सामायिकं स्थायि] सामायिक व्रत स्थायी है, [इति] ऐसा, [केवलि शासने] केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—रागद्वेष के अभाव से परिस्पंद रहित अवस्था होती है, ऐसा यहां पर कहा है ।

षिणः जीवस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य सामायिकनामव्रतं शाश्वतं भवतीति केवलिनां शासने प्रसिद्धं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे ।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः ॥२१३॥

जो दु अट्टं च रुद्दं च, झाणं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स समाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

पापरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप ऐसे जिन परम वीतरागी संयमी राग अथवा द्वेष विकृति को अवतरित नहीं करते हैं, उन पंचेन्द्रियों के व्यापार से रहित गात्र मात्र परिग्रहधारी ऐसे सहज आनन्द के अभिलाषी जीव के सामायिक नाम का व्रत शाश्वत होता है, ऐसा केवली भगवान के शासन में प्रसिद्ध है ।

[टीकाकार मुनिराज ऐसे निर्विकल्प योगी का वर्णन करते हुए कहते हैं—]

(२१३) **श्लोकार्थ**—जिन्होंने ज्ञान ज्योति से पाप के समूहरूप ऐसे घोर अंधकार को नष्ट कर दिया है जो सहज परमानंद पीयूष के पूर स्वरूप है ऐसे आरातीय-आधुनिक इन मुनिराज में ये रागद्वेष विकृति को करने के लिये समर्थ नहीं हैं, ऐसे नित्य ही समरसमय उनके लिये क्या तो विधि है और क्या निषेध है ?

भावार्थ—जिनके हृदय में भेदविज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न हो चुका है और जो परमानंदरूप अमृत से परमतृप्ति को प्राप्त हैं ऐसे मुनिराज में राग और द्वेष अपना प्रभाव नहीं डाल सकते हैं वे भी परम प्रशमभाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब वे साधु निर्विकल्परूप परम उदासीन ऐसे वीतराग भाव में ठहर जाते हैं, उस समय उन्हें कुछ ग्रहण करने और छोड़ने का विकल्प नहीं रह जाता है ।

गाथा १२९

अन्वयार्थ—[**यः तु आर्तं च रौद्रं ध्यानं**] जो आर्त तथा रौद्र ध्यान को, [**नित्यशः वर्जयति**] नित्य ही छोड़ देते हैं, [**तस्य**] उनके, [**सामायिकं स्थायि**]

यस्त्वार्त्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२९॥

जो आर्तध्यान व रौद्र ध्यानों, को सदा परिहारते ।
स्वात्माभिमुख होकर सतत, निजतत्त्व एक निहारते ॥
उन महामुनि के ध्यानमय, स्थायि सामायिक रहे ।
श्री केवली के विमल शासन में इसी विध से कहे ॥१२९॥

आर्तरौद्रध्यानपरित्यागात् सनातनसामायिकव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । यस्तु नित्यनिरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवीतरागसुखामृतपानपरायणो जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायोग्यतानिमित्तम् आर्तरौद्रध्यानद्वयं नित्यशः संत्यजति, तस्य खलु केवलदर्शनसिद्धं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति ।

सामायिक स्थायी है, [**इति**] ऐसा, [**केवलिशासने**] केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—आर्तरौद्र ध्यान के परित्याग से सनातन सामायिक व्रत के स्वरूप का यह कथन है ।

नित्य निरंजन निज कारण समयसार स्वरूप में नियत (नियम से स्थित) शुद्ध निश्चय परम वीतराग सुखरूपी अमृत के पीने में तत्पर ऐसे जो जीव तिर्यंचयोनि रूप प्रेतावास और नारक आदि गति की योग्यता के लिये कारणभूत ऐसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान को हमेशा छोड़ देते हैं, उनके निश्चितरूप से केवल दर्शन से शाश्वत ऐसा सामायिक व्रत होता है ।

भावार्थ—आर्तध्यान तिर्यंच गति का कारण है और रौद्रध्यान नरकगति का कारण है । इन दोनों दुर्ध्यानों से रहित मुनिराज को सदा ही धर्म्यध्यान अथवा शुक्ल-ध्यानरूप निश्चय सामायिक व्रत होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज इन दुर्ध्यानों के त्याग की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(आर्या)

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति ।
यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम् ॥२१४॥

जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

यस्तु पुण्यं च पापं च भावं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३०॥

संसार सुखप्रद पुण्य भावों, से सतत मुख मोड़ते ।
वह दुःखदायी पाप भावों, को सदा जो छोड़ते ॥
शुद्धोपयोगी उन मुनी के स्थायि सामायिक रहे ।
श्रीकेवली के विमल शासन, में इसी विध से कहें ॥१३०॥

---

(२१४) **श्लोकार्थ**—जो मुनिराज आर्त और रौद्र नाम के दोनों ही ध्यानों को छोड़ देते हैं, उनके इसप्रकार से जिनशासन में प्रसिद्ध, अणुव्रतरूप सामायिक व्रत होता है ।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यान से रहित साधु का जो सामायिक व्रत है वह अणुव्रत है, क्योंकि पूर्णतया मोहनीय के अभाव से होने वाला समताभावरूप सामायिक ही स्थायी होता है । इस अपेक्षा से ही वीतरागता के पूर्व कदाचित् समता-भाव है कदाचित् नहीं है अतएव वह महाव्रत न कहलाकर अणुव्रत ही कहलाता है ऐसा समझना ।

गाथा १३०

अन्वयार्थ—[**यः तु**] जो, [**पुण्य च पापं च भावं**] पुण्यरूप और पापरूप भाव को, [**नित्यशः वर्जयति**] नित्य ही छोड़ देता है, [**तस्य सामायिकं स्थायि**] उसके सामायिक स्थायी है, [**इति केवलिशासने**] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितसुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत् । बाह्याभ्यंतरपरित्यागलक्षणलक्षितानां परमजिनयोगीश्वराणां चरणनलिनक्षालनसंवाहनादिवैयावृत्यकरणजनितशुभपरिणतिविशेषसमुपार्जितं पुण्यकर्म, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणामसंजातशुभकर्म, यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः संसृतिपुरंध्रिकाविलासविभ्रमजन्मभूमिस्थानं तत्कर्मद्वयमिति त्यजति, तस्य नित्यं केवलिमतसिद्धं सामायिकव्रतं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम् ।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनःस्यात् ।।२१५।।

टीका—शुभ और अशुभ परिणाम से उत्पन्न होने वाले पुण्य और पापरूप कर्मों के त्याग के विधान का यह कथन है ।

बाह्य और अभ्यन्तर के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित, परम जिन योगीश्वरों के चरण कमलों के प्रक्षालन, संवाहन (दबाने) आदि रूप वैयावृत्ति को करने से उत्पन्न हुई शुभ परिणति विशेष उपार्जित किया गया पुण्य कर्म है और हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रहरूप परिणामों से उत्पन्न हुआ अशुभ कर्म है । सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि जो—महामुनिराज संसाररूपी स्त्री के विलास विभ्रम को उत्पन्न करने के लिये जन्मभूमि के स्थान स्वरूप ऐसे इन दोनों (पुण्य-पापरूप) कर्मों को छोड़ देते हैं उनके नित्य ही केवली भगवान के मत में सिद्ध यह सामायिक व्रत (संयम) होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुण्यपाप से रहित, शुद्ध-स्वरूप ऐसी तृतीय भूमिका को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए तीन श्लोक कहते हैं—]

(२१५) श्लोकार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव संसार के लिये मूल कारणभूत ऐसे सभी पुण्य और पाप को छोड़कर नित्य आनन्दरूप, सहज ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप को प्राप्त कर लेता है और सदा उस शुद्ध जीवास्तिकाय में विहार करता है । पश्चात्

(शिखरिणी)

स्वतःसिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम् ।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानंदसुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ॥२१६॥

(शिखरिणी)

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू-
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः ।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति ॥२१७॥

अतिशयरूप से तीन लोक के जनों से अर्चित होता हुआ जिनेन्द्र भगवान हो जाता है ।

भावार्थ—जो जीव पुण्य-पाप से रहित ऐसे शुद्धोपयोग में लीन होते हैं वे जगत्पूज्य जिनदेव हो जाते हैं ।

(२१६) **श्लोकार्थ**—यह स्वतः सिद्ध ज्ञान दुष्ट पाप और पुण्यरूप वन को जलाने के लिये अग्निरूप है, महा मोहरूपी अंधकार के नाश हेतु प्रबलतर तेजोमय है, निर्वाण का मूल है, उपाधि रहित महान आनन्द और सुख को देने वाला है तथा भव के तिरस्कार को ध्वंस करने में निपुण है ऐसे इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूं ।

(२१७) **श्लोकार्थ**—यह जीव पाप समूह (दोष समूह) के वश होने से संसाररूपी वधू का पति होकर काम से जनित सुख से आकुल बुद्धि वाला होता हुआ जी रहा है । कभी भव्यत्व भाव के द्वारा शीघ्र ही निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेता है तब उस एक सुख को छोड़कर पुनः कभी भी वह सिद्ध चलायमान नहीं होता है ।

भावार्थ—भव्यत्व के विपाक से कर्मों के निमित्त से यह जीव संसार में दुःख उठाता है पुनः यही जीव जब मुक्ति को प्राप्त कर लेता है तो पुनः इस संसार में कभी भी अवतार नहीं लेता है ।

जो दु हस्सं रई सोगं, अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३१॥

जो दुगंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३२॥

यस्तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३१॥

यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३२॥

जो हास्य रति और शोक अरति, का सतत वर्जन करें।
समरस सुधा का पान कर, निजतत्त्व में वर्तन करें॥
उन शुद्ध उपयोगी मुनी के स्थायि सामायिक रहे।
श्री केवली के विमल शासन में इसी विध मान्य है ॥१३१॥

जो भय, जुगुप्सा पुरुष स्त्री, नपुंसक त्रय वेद को।
नित छोड़ देते बुद्धि से, ध्याते सतत निजरूप को॥
उन भेद विज्ञानी मुनी के स्थायि सामायिक रहे।
श्री केवली के अमल शासन में इसीविध से कहें ॥१३२॥

गाथा १३१-१३२

अन्वयार्थ—[**यः तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं**] जो हास्य, रति, शोक और अरति को, [**नित्यशः वर्जयति**] नित्य ही छोड़ देता है, [**तस्य सामायिकं स्थायि**] उसके सामायिक स्थायी होता है, [**इति केवलिशासने**] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। [**यः**] जो, [**जुगुप्सां, भयं सर्वं वेदं**] जुगुप्सा, भय और सभी वेद को, [**नित्यशः वर्जयति**] नित्य ही छोड़ देता है, [**तस्य**] उसके, [**सामायिकं स्थायि**] सामायिक व्रत स्थायी है, [**इति केवलिशासने**] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है।

नवनोकषायविजयेन समासादितसामायिकचारित्रस्वरूपाख्यानमेतत् । मोहनीयसंभवमुपजनितस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोकषायकलितकलंकात्मकसमस्तविकारजालकं परमसमाधिबलेन यस्तु निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य खलु केवलिभट्टारकशासनसिद्धपरमसामायिकाभिधानव्रतं शाश्वतमभवत्तेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति ।

(शिखरिणी)

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरम् ।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम् ॥२१८॥

टीका—नव नोकषाय की विजय से प्राप्त होने वाले, ऐसे सामायिक-चारित्र के स्वरूप का यह कथन है ।

मोहनीय कर्म से उत्पन्न होने वाले स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन नामवाली नव नोकषायों से होने वाले, कलंक पंक रूप समस्त विकार जालों को परम समाधि के बल से जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप परम तपोधन छोड़ देते हैं, उनके निश्चितरूप से केवली भट्टारक के शासन में सिद्ध ऐसा परम सामायिक नामका व्रत शाश्वतरूप होता है । इस प्रकार से इन दो सूत्रों से यह कहा गया है ।

[अब टीकाकार मुनिराज स्वयं अपनी आत्मा को इस निर्विकल्प सामायिक में प्रेरित करते हुए कहते हैं—]

(२१८) श्लोकार्थ—संसाररूपी स्त्री से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःखों के समूह को करने वाले नव नोकषायरूप इन सभी को मैं हर्षपूर्वक छोड़ता हूं, जो कि महामोह से अंधे हुए जीवों के लिये सतत सुलभ हैं और सदा ही आनन्दरूप मन से सहित तथा समाधि में लीन हुये ऐसे महामुनियों के अतिशय दुर्लभ हैं ।

जो दु धम्मं च सुक्कं च, झाणं झाएदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ।। १३३ ।।

यस्तु धर्म्यं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ।।१३३।।

जो मुनी चारों धर्म ध्यानों शुक्ल ध्यानों को सदा ।
ध्याते स्वयं को स्वयं में स्वयमेव निज के बल सदा ।।
उन ही मुनी का ध्यान वो, स्थायी सामायिक रहे ।
श्री केवली के अमल शासन में इसीविध से कहे ।।१३३।।

परमसमाधिअधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम् । यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निखिलविकल्पजालनिर्मुक्तनिश्चयशुक्लध्यानेन च अनवरतमखण्डाद्वैतसहजचिद्विलासलक्षणमक्षयानन्दाम्भोधिमज्जंतं

भावार्थ—हास्य, रति, अरति आदि कषायरूप परिणाम शुद्धोपयोगी साधुओं के पास फटकते भी नहीं हैं और मोही जीवों के पास हमेशा रहते हैं ऐसे इन किंचित् कषायरूप परिणामों को भी छोड़ने का उपदेश है ।

गाथा १३३

अन्वयार्थ— [**यः तु**] जो साधु, [**धर्मं च शुक्लं च**] धर्म और शुक्ल, [**ध्यानं**] ध्यान को, [**नित्यशः ध्यायति**] नित्य ही ध्याता है, [**तस्य सामायिकं स्थायि**] उसके सामायिक स्थायी होता है, [**इति केवलि शासने**] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—परम समाधि अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

जो सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन के लोलुपी हैं ऐसे परम जिन योगीश्वर अपनी आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान से और निखिल विकल्प जालों से रहित निश्चय शुक्ल ध्यान से निरन्तर ही अखंड अद्वैत सहज चैतन्य के विलासरूप,

सबाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदंतःक्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विकल्पपरमसमाधिसंपत्कारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं ध्यायति हि तस्य खलु जनेश्वरशासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्म्यध्यानेप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन् ।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम् ॥२१९॥

परम आनंदरूपी समुद्र में निमग्न, सकल बाह्य क्रिया से पराङ्मुख और हमेशा अभ्यन्तर क्रिया के आधारभूत सदाशिव स्वरूप ऐसी आत्मा को ध्याते हैं अर्थात् अपनी आत्मा में निष्ठ निर्विकल्प परमसमाधिरूप संपत्ति के लिये कारण ऐसे उन धर्म और शुक्ल ध्यान से अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उनके निश्चितरूप से जिनेश्वर के शासन में निष्पन्न हुआ, नित्य, शुद्ध, त्रिगुप्ति से गुप्त ऐसा परम समाधिरूप शाश्वत सामायिक व्रत होता है ।

भावार्थ—निश्चय धर्म और शुक्लध्यान से जो अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं, उन निर्विकल्प योगी के निर्विकल्प समाधि होती है, उसीका नाम शाश्वत सामायिक है ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस अधिकार की पूर्ति करते हुए परम समाधि के फल को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(२१९) श्लोकार्थ—निर्दोष परमानन्द तत्त्व के आश्रित ऐसे इस धर्मध्यान में अथवा शुक्लध्यान में जिसकी बुद्धि परिणमित हुई है, वह शुद्ध रत्नत्रयात्मक जीव किसी एक अद्भुत विशाल और महान् दुःख समूहों से रहित तत्त्व को अतिशयरूप से प्राप्त कर लेता है, जो कि भेद के अभाव से संसारी जीवों के वचनमार्ग और मनोमार्ग से दूर है ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः ।।

भावार्थ—शुद्ध रत्नत्रय से परिणत हुए जीव किसी एक अद्भुत तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। वास्तव में वह तत्त्व संसारी जीवों के वचनों से भी परे है और मन के भी अगोचर है केवल महासाधुओं को ही गम्य है।

विशेषार्थ—इस परमसमाधि अधिकार में गाथा १२२ से लेकर १३३ पर्यन्त वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर आत्मा के ध्यान करने का उपदेश है। इस ध्यान की सिद्धि के लिये जीवित-मरण, सुख-दुःख आदि में समता भाव रखना परम आवश्यक है उसी समता का वर्णन करके आचार्य देव ने जिनेन्द्र देव के शासन में कथित सामायिक का वर्णन नौ गाथाओं द्वारा नव प्रकार से कहा है। जिसमें कि त्रिगुप्ति, सर्व जीवों में समभाव, संयम आदि में सन्निकटता, रागद्वेष का अभाव, आर्त रौद्र ध्यान का त्याग, पुण्य-पाप का वर्जन, हास्य-रति आदि नव नो कषायों का वर्जन ये सब सामायिक का लक्षण है। जो कि शुद्धात्म तत्त्व में स्थिर अवस्थारूप स्थायी सामायिक होती है। यहां पर त्रिकाल देव वंदनारूप सामायिक के अतिरिक्त सर्व सावद्ययोग से निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र विवक्षित है, क्योंकि निश्चय धर्म्यध्यान भी बाह्य विकल्पों से रहित निर्विकल्परूप है और शुक्लध्यान भी शुद्धोपयोग परिणतिरूप है, ऐसा समझना।

इसप्रकार सुकविजन कमलों के लिये सूर्य स्वरूप पंचेन्द्रिय के प्रसार से वर्जित गात्र-मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परम समाधि अधिकार नामक नवमां अधिकार समाप्त हुआ।

[१०]

परम-भक्ति अधिकार

अथ संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते ।

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः ।
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम् ॥१३४॥

रोलाछंद

जो श्रावक या साधु, मन में अति रुचि धर के ।
समकित ज्ञान चरित्र में नित भक्ती करते ॥
उनके ही निर्वाण भक्ती होती सच में ।
भक्ती का यह रूप वरणा श्री जिनवर ने ॥१३४॥

अब परम भक्ति अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १३४

अन्वयार्थ—[**यः श्रावकः श्रमणः**] जो श्रावक अथवा श्रमण [**सम्यक्त्वज्ञान चरणेषु**] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में [**भक्तिं करोति**] भक्ति करता [**तस्य तु**] उसके [**निर्वृत्ति भक्ति भवति**] निर्वाण की भक्ति होती है । [**इति जिनैः प्रज्ञप्तं**] ऐसा जिनों ने कहा है ।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् । चतुर्गतिसंसारपरिभ्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्म-प्रकृतिप्रतिपक्षनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्याः षट्, मध्यमास्त्रयः, उत्तमौ द्वौ च, एते सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । अथ भवभयभीरवः परमनैष्कर्म्यवृत्तयः परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । तेषां परमश्रावकाणां परमतपोधनानां च जिनोत्तमैः प्रज्ञप्ता निर्वृतिभक्तिरपुनर्भवपुरंध्रिकासेवा भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमतुलां यो भवच्छेददक्षाम् ।
कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातनिर्मुक्तचेता
भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ॥२२०॥

टीका—यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है ।

चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण के लिये कारणभूत जो मिथ्यात्वकर्म प्रकृति है, उससे विपरीत निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और उसीमें आचरण रूप ऐसे शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप परिणामों का भजन भक्ति कहलाता है। उसीको आराधना कहते हैं ।

ग्यारह पद–प्रतिमाधारी श्रावकों में छह प्रतिमा तक जघन्य हैं, आगे के तीन तक मध्यम और आगे के दो ये उत्तम हैं, इन पद वाले सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं, तथा भवभयभीरु, परम–नैष्कर्म्य वृत्ति वाले (निश्चय भक्ति वाले) परमतपोधन (शुद्ध) रत्नत्रय की भक्ति करते हैं । उन परम श्रावकों को तथा परम तपोधन साधुओं को जिनवरों के द्वारा कही गई अपुनर्भवरूपी रमणी की सेवा रूप, निर्वाण भक्ति होती है ।

[अब टीकाकार मुनिराज भक्ति के माहात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं—]

(२२०) श्लोकार्थ—जो जीव भवभय को हरने वाले ऐसे इस सम्यक्त्व में शुद्ध ज्ञान में और चारित्र में हमेशा भव का छेद करने में दक्ष भक्ति को करता है, वह काम क्रोधादि अखिल पाप समूह से रहित चित्त वाला होता हुआ श्रावक हो या संयमी हो, भक्त है, भक्त है ॥२२०॥

मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।
यः करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम् ॥१३५॥

प्राप्त किया निर्वाण, जिन महान पुरुषों ने ।
उनके गुण के भेद, समझ कर जिनने ॥
मन वच तन से नित्य, किया परमभक्ती को ।
कही गई व्यवहार, नय से ही भक्ती वो ॥१३५॥

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । ये पुराणपुरुषाः समस्तकर्मक्षयोपाय-हेतुभूतं कारणपरमात्मानमभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणत्या सम्यगाराध्य सिद्धा जातास्तेषां

विशेषार्थ—इस ग्रन्थ में मुनियोंके भेदाभेद रत्नत्रय का ही वर्णन है उसमें भी शुद्ध रत्नत्रय ही प्रधान है, अतः श्रावकों के सिवाय सर्वत्र आचार्यदेव ने संयत, संयमी, श्रमण मुनि और साधु इन शब्दों का ही प्रयोग किया है । किंतु यहां पर भक्तिका प्रकरण होने से श्रावकों को भी ले लिया है, क्योंकि श्रावक भी रत्नत्रय की आराधना उपासना करते हैं । तथा वे एकदेश रत्नत्रय से सहित ऐसे अणुव्रती भी होते हैं ।

गाथा १३५

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**मोक्षगत पुरुषाणां**] मोक्ष को प्राप्त हुये पुरुषों में [**गुणभेदं ज्ञात्वा**] गुणों के भेद को जानकर [**तेषां अपि**] उनकी भी [**परम-भक्तिं**] परम भक्ति [**करोति**] करता है, (उसके) [**व्यवहारनयेन परिकथितं**] व्यवहार नय से भक्ति कही गई है ।

टीका—यह, व्यवहारनय प्रधान सिद्ध भक्ति के स्वरूप का कथन है ।

जो पुराण पुरुष समस्त कर्मों के क्षय के लिए उपाय में कारणभूत ऐसे कारण परमात्मा की अभेद, अनुपचार रत्नत्रय की परिणति से सम्यक् प्रकार से आरा-

केवलज्ञानादिशुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नभव्यः करोति, तस्य मुमुक्षोर्व्यवहारनयेन निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति ।

(अनुष्टुभ्)

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान् ।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ।।२२१।।

(आर्या)

व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृत्तिभक्तिर्जिनोत्तमैः प्रोक्ता ।
निश्चयनिर्वृतिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ।।२२२।।

(आर्या)

निःशेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयम् ।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ।।२२३।।

धित करके सिद्ध हुये हैं, उनके केवलज्ञान आदि शुद्ध गुणों के भेद को जानकर निर्वाण के लिये परंपरा से हेतुभूत ऐसी परमभक्ति को जो आसन्नभव्य करते हैं, उन मुमुक्षु के व्यवहार नय से निर्वाण भक्ति होती है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुनः व्यवहार से सिद्धों की भक्ति के महत्व को स्पष्ट करते हुये छह श्लोक कहते हैं—]

श्लोकार्थ—जिन्होंने कर्म समूह को धो डाला है, जो सिद्धिवधू के पति हैं, तथा जिन्होंने आठ गुणों के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है । जो शिवालय-कल्याण के निवास-गृह हैं, ऐसे उन समस्त सिद्धों को मैं नित्य ही वंदन करता हूं ।।२२१।।

श्लोकार्थ—इसप्रकार से व्यवहार नय की यह निर्वाण भक्ति जिनवरों ने कही है, तथा रत्नत्रय की भक्ति ही निश्चय निर्वाण भक्ति है, ऐसा कहा है ।।२२२।।

श्लोकार्थ—निःशेष (संपूर्ण) दोषों से दूर, केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के स्थान ऐसे सिद्ध पद को आचार्यों ने शुद्धोपयोग का फल कहा है ।।२२३।।

(शार्दूलविक्रीडित)

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः ।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणा
स्तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान् ॥२२४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान् ।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान् ॥२२५॥

(वसंततिलका)

ये मर्त्यदेवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति-
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धाः ।

श्लोकार्थ—जो लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं जो भव-भव के क्लेश रूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो चुके हैं। जो निर्वाण वधू के पुष्ट स्तन के आलिंगन से उत्पन्न हुये ऐसे सौख्य की खान हैं, जो शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये कैवल्य सम्पदा रूपी महा गुणों से सहित हैं और पापरूपी वनी को दग्ध करने के लिये अग्नि स्वरूप हैं, ऐसे उन सिद्धों को मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूं ॥२२४॥

श्लोकार्थ—तीन लोक का अग्रभाग ही जिनका निवासगृह है, जो गुणों से गुरु-भारी हैं, श्रेष्ठ-गम्भीर, जो ज्ञेयरूपी समुद्र के पारंगत हैं, जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी सुंदरी के मुख कमल को विकसित करने के लिये सूर्य हैं, जो स्वाधीन सौख्य के समुद्र हैं, जिन्होंने आठ गुणों को सिद्ध कर लिया है, जो भव के हरने वाले हैं, जिन्होंने आठ कर्मों के समूहों को नष्ट कर दिया है, जो शाश्वत रूप हैं, ऐसे उन पापरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप सिद्धों की मैं सदा ही शरण ग्रहण करता हूं ॥२२५॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्यों के तथा देवों के समुदाय की परोक्ष भक्ति के योग्य हैं, सदा शिवमय-कल्याण स्वरूप हैं, श्रेष्ठ हैं, तथा प्रसिद्ध हैं वे सिद्ध भगवान सुसिद्धि

सिद्धाः सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र-
पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रताः स्युः ॥२२६॥

मोक्खपहे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं णियप्पाणं ॥१३६॥

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निर्वृत्तेर्भक्तिम् ।
तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम् ॥१३६॥

जो आत्मा को मोक्ष, पथ में स्थापित करके ।
अपने में ही आप, निवृति भक्ती करते ॥
इससे ही वे जीव, निज आत्मा को पाते ।
पर सहाय से शून्य, गुणमय परिणम जाते ॥१३६॥

रूपी रमणी के रमणीय मुख कमल की श्रेष्ठ मकरंद-पराग के लिये भ्रमर सदृश हैं ॥२२६॥

भावार्थ—सिद्धों के स्थान पर विद्याधर या ऋद्धिधारी मुनि अथवा देवतागण आदि भी नहीं पहुंच सकते हैं। इसलिये ये सब उन सिद्धों की परोक्ष मे ही भक्ति करते हैं। अन्यत्र अर्हंतदेव के समवसरण में तथा अकृत्रिम जिनालय आदि में सर्वत्र देवतागण प्रत्यक्ष से भक्ति करते हैं और मनुष्य भी अर्हंतों के समवसरण में तथा ढाई द्वीप के चैत्यालयों में प्रत्यक्ष भक्ति करते हैं। अन्यत्र चैत्यालयों की परोक्ष से भक्ति करते हैं।

गाथा १३६

अन्वयार्थ—[**मोक्ष पथे आत्मानं संस्थाप्य**] मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके [**निर्वृत्तेः**] निर्वाण की [**भक्तिं करोति**] भक्ति करता है, [**तेन तु जीवः**] उससे यह जीव [**असहायगुणं निजात्मानं**] असहाय-स्वाभाविक गुण स्वरूप अपनी आत्मा को [**प्राप्नोति**] प्राप्त कर लेता है।

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके निरुपरागमोक्षमार्गे निरंजननिजपरमात्मानंदपीयूषपानाभिमुखो जीवः स्वात्मानं संस्थाप्यापि च करोति निर्वृत्तेर्मुक्त्यंगनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्तिगुणेन निरावरणसहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति ।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये निर्मुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे ।
संस्थाप्यानंदभास्वन्निरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितविपदं सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥२२७॥

टीका—यह अपनी परमात्मा की भक्ति के स्वरूप का कथन है ।

निरंजन निज परमात्मा के आनन्द रूपी अमृत के पान करने में अभिमुख जो जीव, भेद कल्पना से निरपेक्ष अनुपचार रत्नत्रय स्वरूप ऐसे वीतरागरूप मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके भी निर्वाणरूपी मुक्ति स्त्री के चरण कमलों में परम भक्ति करता है उस कारण से वह भव्य जीव भक्ति गुण के द्वारा आवरणरहित सहज ज्ञान गुणरूप होने से असहाय गुणस्वरूप ऐसी अपनी आत्मा को प्राप्त कर लेता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज निश्चय भक्ति को बतलाते हुए कहते हैं—]

श्लोकार्थ—इस अविचल महाशुद्ध रत्नत्रय स्वरूप, मुक्ति के लिए कारणभूत उपमा रहित सहज ज्ञान, दर्शन और शीलरूप, ऐसी नित्य आत्मा में आत्मा को स्थापित करके यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की भक्ति द्वारा आनन्द से शोभायमान निरतिशय स्थानरूप तथा विपदाओं से विरहित ऐसे पद को अतिशयरूप से प्राप्त कर लेता है और वह सिद्धिरूपी भार्या का स्वामी हो जाता है ॥२२७॥

भावार्थ—आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में ही स्थिर करके ध्यान करने वाला ध्याता इस निश्चय भक्तिरूप निर्विकल्प समाधि के अक्षय स्वरूप सिद्ध स्थान को प्राप्त कर लेता है ।

रायादीपरिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य कह हवे जोगो ॥१३७॥

रागादिपरिहारे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥१३७॥

जो साधु रागादि, दोष दूर करने में ।
निज आत्मा को नित्य, लगा रहे उसही में ॥
उनका ही वह यत्न, योगभक्ति कहलावे ।
अन्य साधु के योग, क्या कैसे हो पावे ? ॥१३७॥

निश्चययोगभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । निरवशेषेणान्तर्मुखाकारपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां परिहारे सति यस्तु साधुरासन्नभव्यजीवः निजेनाखंडाद्वैतपरमानन्दस्वरूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति, स परमतपोधन एव शुद्धनिश्चयोपयोगभक्तियुक्तः । इतरस्य बाह्यप्रपंचसुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति ।

गाथा १३७

अन्वयार्थ—[**यः तु साधुः**] जो साधु [**रागादि परिहारे**] रागादि के परित्याग में [**आत्मानंयुनक्ति**] आत्मा को लगाता है [**सः योगभक्तियुक्तः**] वह योग भक्ति से युक्त है । [**इतरस्य च**] अन्य साधु के [**योगः कथं भवेत्**] योग कैसे हो सकता है ?

टीका—यह निश्चय योग भक्ति के स्वरूप का कथन है ।

परिपूर्णरूप से जो अन्तर्मुखाकार परम समाधि है उसके द्वारा समस्त मोह, राग द्वेषादि परभावों का परिहार हो जाने पर जो आसन्न जीव ऐसा साधु अखण्ड, अद्वैत परमानन्द स्वरूप निज के साथ निजकारण परमात्मा को युक्त करता है वह परमतपोधन ही शुद्ध निश्चय उपयोग की भक्ति से युक्त है । अन्य बाह्य प्रपंच में सुख मानने वाले को योग भक्ति किसप्रकार से हो सकती है ?

भावार्थ—अपनी आत्मा में ही आत्मा को जोड़ने वाले साधु के निश्चय योग भक्ति होती है अन्य बाह्य प्रपंचों में लगे हुए के नहीं हो सकती है ।

तथा चोक्तम्

(अनुष्टुभ्)

"आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ।।"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम् ।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ।।२२८।।

सव्वविअप्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो ।।१३८।।

इसीप्रकार से अन्यत्र भी कहा है—

"**श्लोकार्थ**—आत्मा के प्रयत्न में सापेक्ष ऐसी जो विशेष मनोगति है उसका ब्रह्मस्वरूप आत्मा में संयोग ही 'योग' इस नाम से कहा जाता है ।"

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज योग भक्ति को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं—]

श्लोकार्थ—जो यह आत्मा आत्मा को निरन्तर आत्मा के साथ ही जोड़ता है, निश्चय से वह मुनीश्वर योग भक्ति से युक्त होता है ।।२२८।।

भावार्थ—ध्यान में तत्पर हुए तथा ग्रीष्मकाल में पर्वत की चोटी पर, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे एवं शिशिर ऋतु में खुले स्थान में या नदी के किनारे ध्यान करने वाले त्रिकाल योग में तत्पर हुए साधु योगी कहलाते हैं उनके गुणों का स्तवन करते हुए मन से वचन से और काय से भक्ति करना ही व्यवहार से योग भक्ति है और आत्मा में ही अपनी आत्मा को स्थिर करना निश्चय योग भक्ति है ।

गाथा १३८

अन्वयार्थ—[**यः साधुः तु**] जो साधु [**सर्वविकल्पाभावे**] सर्व विकल्पों के अभाव में [**आत्मानं युनक्ति**] आत्मा को लगाता है [**सः योगभक्ति युक्तः**] वह योग

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथंभवेद्योगः ॥१३८॥

सर्व विकल्प अभाव, में जो साधु सतत ही ।
करते हैं संलीन, निज आत्मा को सच ही ॥
वे ही साधु योग भक्ती युक्त कहावें ।
अन्य साधु के योग कहो कहां बन पावे ? ॥१३८॥

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम् । अत्यपूर्वनिरुपरागरत्नत्रयात्मक-निजचिद्विलासलक्षणनिर्विकल्पपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविकल्पाभावे परमसमरसीभावेन निःशेषतोऽन्तर्मुखनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासन्नभव्यजीवः सदा युनक्त्येव, तस्य खलु निश्चययोगभक्तिर्नान्येषाम् इति ।

(अनुष्टुभ्)

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा ।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥२२९॥

भक्ति से युक्त होता है, [**इतरस्य च**] तथा अन्य साधु के [**योगः कथं भवेत्**] योग किस प्रकार से होगा ?

टीका—यहां पर भी पूर्व सूत्र के समान निश्चय योग भक्ति का स्वरूप कहा है–अतिशय अपूर्व राग रहित रत्नत्रय स्वरूप निज चैतन्य विलास लक्षण ऐसी निर्विकल्प परम समाधि के द्वारा समस्त मोह, राग, द्वेष आदि विविध विकल्पों का अभाव हो जाने पर परम समरसी भाव के साथ सम्पूर्णतया अंतर्मुख निजकारण समयसार स्वरूप आत्मा को जो अत्यासन्न भव्य जीव सदा ही युक्त करता है–जोड़ता है, उसके निश्चितरूप से निश्चय योग भक्ति होती है, किन्तु अन्य साधुओं के नहीं होती है ।

[अब टीकाकार मुनिराज उसीको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

श्लोकार्थ—भेद का अभाव हो जाने पर यह सर्वोत्तम योग भक्ति होती है । उस भक्ति के द्वारा योगियों को वह आत्मा के स्वरूप की उपलब्धिरूप मुक्ति होती है ॥ २२९ ॥

विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्ह[1] कहियतच्चेसु ।
जो जुंजवि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो ।।१३९।।

विपरीताभिनिवेशं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वेषु ।
यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ।।१३९।।

जो विपरीत अभिप्राय, मन वच तन से तजते ।
जिन भाषित तत्त्वार्थ में निज को रत जोड़ते ।।
उनका वह निज भाव, निश्चय योग कहावे ।
जो मुनि धारें योग वे ही निज सुख पावें ।।१३९।।

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः । अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेशः अमुं परित्यज्य जैनकथित-

---

गाथा १३९

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**विपरीताभिनिवेशं**] विपरीत अभिप्राय को [**परित्यक्त्वा**] छोड़कर [**जैन कथित तत्त्वेषु**] जिनेंद्र देव द्वारा कथित तत्त्वों में [**आत्मानं युनक्ति**] आत्मा को लगाता है । [**सः निजभावः**] उसका वह निजभाव स्वरूप [**योगः भवेत्**] योग होता है ।

टीका—अखिल गुणों के धारक गणधर देव आदि जिनमुनिनाथों के द्वारा कहे गये तत्त्वों में विपरीत आग्रह से रहित आत्मभाव ही निश्चय परम योग है, ऐसा यहां पर कहा है ।

अन्य संप्रदाय के तीर्थ कर्त्ताओं के द्वारा कहे गये विपरीत पदार्थ में जो अभिनिवेशदुराग्रह है वही विपरीत अभिनिवेश है । इसको छोड़कर जिनेन्द्र देव द्वारा

---

१. जेण्ह

तत्त्वानि निश्चयव्यवहारनयाभ्यां बोद्धव्यानि। सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः। तैरभिहितानि निखिल-जीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति, तस्य च निजभाव एव परमयोग इति।

(वसंततिलका)

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविंद-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥२३०॥

कथित तत्त्वों को निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा जानना चाहिये। सकल जिन-कल-शरीर सहित ऐसे अर्हंत भगवान तीर्थाधिनाथ के पाद कमलों के जो उपजीवक-उपासक या आश्रित हैं वे 'जैन' कहलाते हैं। परमार्थ से वे जैन गणधर देव आदि हैं यहां ऐसा अर्थ है। उन गणधरदेवादिकों द्वारा सम्पूर्ण जीवादि तत्त्व कहे गये हैं उनमें जो परम जिन योगीश्वर अपनी आत्मा को लगाते हैं, उनका जो निजभाव है वही परमयोग है ऐसा समझना।

[टीकाकार मुनिराज इसी बात को कलश द्वारा व्यक्त करते हैं—]

(२३०) **श्लोकार्थ**—इस दुराग्रह को छोड़कर, जैन मुनिनाथ ऐसे गणधर देवों के मुख कमल में व्यक्त-प्रगट हुए और भव्य जनों के भवों का घात करने वाले ऐसे तत्त्वों में जिनयोगीनाथ साक्षात् अपने भाव को लगाते हैं सो वह भाव ही योग है।

भावार्थ—जिनेन्द्र के मुख कमल से निकली हुई और गणधर देवों द्वारा ग्रंथ रूप कही गई जो वाणी है आज भी परम्परागत आचार्यों द्वारा उसी का अंश अपने को उपलब्ध है। ऐसे श्रुत में प्रतिपादित तत्त्वों में जो महामुनि अपने भाव को स्थिर करते हैं वह स्थिर भाव ही योग अर्थात् ध्यान के नाम से कहा जाता है।

उसहाविजिणवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥१४०॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिम् ।
निर्वृतिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिम् ॥१४०॥

श्री वृषभादि जिनेन्द्र तीर्थंकर आदिक सब ।
इस विध से हो योग वर भक्ती करके नित ।
प्राप्त किया निर्वाण सुखमय अविचल पद को ।
अतः धरो हे साधु ! निश्चय योग भक्ति को ॥१४०॥

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् । अस्मिन् भारते वर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः चतुर्विंशतितीर्थंकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः त्रिभुवनवर्तिकीर्तयो महादेवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चययोगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरगाढोपगूढनिर्भरानन्दपरमसुधारसपूरपरि-

---

गाथा १४०

अन्वयार्थ—[**वृषभादिजिनवरेन्द्राः**] वृषभादि जिनवरेन्द्र [**एवं**] इसप्रकार से [**योगवरभक्तिं**] योग की उत्तम भक्ति [**कृत्वा**] करके [**निर्वृत्ति सुखं**] निर्वाण सुख को [**आपन्नाः**] प्राप्त हुए हैं, [**तस्मात्**] इसलिए [**योगवरभक्तिधारय**] तुम योग की उत्तम भक्ति को धारण करो ।

टीका—भक्ति अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

इस भारत वर्ष में पहले जो श्री नाभि पुत्र—वृषभदेव से लेकर अंतिम श्री वर्द्धमान देव पर्यंत चौबीस तीर्थंकर परम देव सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोक में व्याप्त कीर्ति से युक्त महादेवाधिदेव परमेश्वर हुए हैं, वे सभी इस उपर्युक्त प्रकार से अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी शुद्ध निश्चय योग की उत्तम भक्ति को करके अति पुष्ट स्तन वाली परम निर्वाण वधू के गाढ़ आलिंगन से सर्व आत्मा के प्रदेशों में अतिशय आनन्दरूप परमसुधारस के पूर से परितृप्त हो चुके हैं । इसलिए प्रगटित भव्यत्व गुण

तृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटितभव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थं वीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

(शार्दूलविक्रीडित)

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान् ।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥२३१॥

से सहित हे महापुरुषों ! तुम लोग अपनी आत्मा के लिए प्रयोजनभूत ऐसे वीतराग सुख को प्रदान करने वाली ऐसी योग भक्ति को करो ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस अधिकार को संकुचित करते हुए सात श्लो द्वारा योग भक्ति का माहात्म्य प्रकट करते हैं—]

(२३१) श्लोकार्थ—जो गुणों से गुरु हैं, त्रैलोक्य के पुण्य की राशि हैं देवेन्द्रों के मुकुटों के अग्रभाग में सुशोभित हुए माणिक्य रत्नों की मालाओं से अर्चित शची आदि प्रसिद्ध इंद्राणियों के समूह से सहित ऐसे इंद्र के द्वारा हुए विमल भोग हास से सहित अर्थात् नृत्य, गान आनन्द से युक्त हैं तथा श्री—अंतरंग एवं बहिरंग ल और कीर्ति के स्वामी हैं ऐसे वृषभादि जिनेश्वरों की मैं स्तुति करता हूं ।

भावार्थ—चौबीस तीर्थंकर अपने अनंत गुणों से अतिशय भारी होने त्रिभुवन के गुरु कहलाते हैं, तीनों लोकों में जितना भी पुण्य है उस सभी पुंज स्वरूप हैं, देवेंद्रगण उनको अपने रत्न खचित मुकुटों को झुकाकर नम करते हैं, सौधर्म इन्द्र सभी इन्द्र और इंद्राणियों के साथ भगवान के जन्म कल्या आदि में महान् महोत्सव करते हैं । वे तीर्थंकर तीनों जगत् के भव्य जीवों स्तुत्य हैं ।

(आर्या)

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ।।२३२।।

(आर्या)

अपुनर्भवसुखसिद्धयै कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ।।२३३।।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थितः ।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरो: सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ।।२३४।।

---

(२३२) **श्लोकार्थ**—वृषभदेव से लेकर वीर पर्यंत जिनपति भी इस उपर्युक्त मार्ग से योग भक्ति को करके निर्वाण वधू के सुख को प्राप्त कर लेते हैं ।

(२३३) **श्लोकार्थ**—अपुनर्भव के सुख की सिद्धि के लिये मैं शुद्ध योग की उत्तम भक्ति को करता हूं, सभी संसारी प्राणी संसार के घोर दुःखों की भीति से नित्य ही उस भक्ति को करो ।

(२३४) **श्लोकार्थ**—गुरु के निकट में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके, ज्ञान के द्वारा समस्त मोह की महिमा को जिसने नष्ट कर दिया है, ऐसा मैं अब राग और द्वेष की परम्परा से परिणत हुये चित्त को छोड़कर शुद्ध ध्यान से एकाग्रता को प्राप्त ऐसे मन से आनंद स्वरूप आत्म तत्त्व में स्थित होता हुआ परब्रह्मरूप परमात्मा में लीन होता हूं ।

(अनुष्टुभ्)

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम् ।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥२३५॥

(अनुष्टुभ्)

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥२३६॥

(वसंततिलका)

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।
किं तेन मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥२३७॥

---

(२३५) **श्लोकार्थ**—जिन्होंने इन्द्रियों की लोलुपता को समाप्त कर दिया है, और जिनका चित्त तत्त्वों में लोलुपी है ऐसे परमसाधु के सुन्दर आनन्द को झराने वाला उत्तम तत्त्व प्रगट होता है ।

(२३६) **श्लोकार्थ**—जो यतिगण अतिशय और अपूर्व अपनी आत्मा से उत्पन्न हुई भावना से होने वाले सुख के लिये यत्न करते हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं, किंतु अन्य नहीं हैं ।

(२३७) **श्लोकार्थ**—अद्वंद्व में लीन—रागद्वेषादि द्वंद्व से रहित स्वरूप में स्थित, निर्दोष, केवल एक रूप ऐसे उस एक परमात्म तत्त्व की मैं पुनः पुनः सम्यक् प्रकार से भावना करता हूं । मुक्ति की स्पृहा से सहित तथा भव सुख में निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोक में उन अन्य पदार्थों के समुदाय से क्या फल है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

विशेषार्थ—इस परम भक्ति अधिकार में गाथा १३४ से लेकर १४० तक पंच परमेष्ठी की और उनके रत्नत्रय गुणों की भक्ति का उपदेश है । व्यवहार भक्ति, स्तुति, नमस्कार, गुणगान आदि रूप है और निश्चयभक्ति वीतराग निर्विकल्प ध्यान

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥

रूप है। पहले इसमें व्यवहार भक्ति की मुख्यता रखी है जिसमें पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक उपासक भी रत्नत्रय की भक्ति करने वाले माने गये हैं। पुनः निश्चय भक्ति की प्रधानता से निर्वाण भक्ति और योग भक्ति की विशेषता बताई है तथा उस भक्ति का फल परमानन्दमयी निर्वाण सौख्य माना है। इसलिये व्यवहार भक्ति के द्वारा निश्चयरूप अपने आत्म तत्त्व की भक्ति को सिद्ध करके अपनी आत्मा को ही पूज्य भगवान बना लेना चाहिये।

इस प्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य सदृश, पंचेन्द्रियों के प्रसार से वर्जित गात्र-मात्र परिग्रहधारी ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारि देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परम भक्ति अधिकार नामक दशवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

[११]

निश्चय–परमावश्यक अधिकार

अथ सांप्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गो त्ति पज्जुत्तो[1] ॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।
कर्मविनाशनयोगो निर्वृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥१४१॥

वसंततिलका छंद

जो अन्य के वश नहीं वह नहिं पराश्रित ।
उसका ही कर्म बस आवश्यक कहाता ॥
यों कर्म नाशकृत योग सुयोगियों का ।
निर्वाण मार्ग वह ही सच में कहाता ॥१४१॥

अब व्यवहार षट् आवश्यक से प्रतिपक्ष ऐसे शुद्धनिश्चय अधिकार को कहा जाता है—

गाथा १४१

अन्वयार्थ—[**यः अन्यवशः न भवति**] जो अन्य के वश नहीं है [**तस्य तु कर्म आवश्यकं**] उसकी क्रिया को आवश्यक [**भणंति**] ऐसा कहते हैं (क्योंकि) [**कर्म**

---

१. पिज्जुत्तो (क) पाठा. ।

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म अवतिष्ठते । यः खलु यथाविधिपरमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपंचपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्मविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृतिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

विनाशनयोगः] कर्म का विनाश करने वाला योग **[निर्वृत्तिमार्गः]** मोक्ष का मार्ग है **[इति प्ररूपितः]** ऐसा कहा गया है ।

टीका—सदैव अपने वश हुये—अपने में स्थित हुए ऐसे मुनि के निश्चय आवश्यक क्रिया होती है ऐसा यहां कहा गया है ।

जो निश्चितरूप से विधि के अनुसार परम जिनमार्ग के आचरण में कुशल हैं सदैव अंतर्मुख परिणत होने से अन्य के वश में नहीं होते हैं किन्तु साक्षात् अपने वश में ही रहते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं यहां यह अभिप्राय है। उन व्यवहारिक क्रियाओं के प्रपंच से पराङ्मुख हुए साधु के निज आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान जिसमें प्रधान है ऐसी परमआवश्यक क्रिया होती है ऐसा निरन्तर परम तपश्चरण में लीन हुए परम जिन योगीश्वर कहते हैं क्योंकि जो त्रिगुप्ति से गुप्त परम समाधि लक्षण वाला परमयोग है वह सकल कर्म के विनाश में कारण होने से निर्वृत्ति–मुक्ति में कारण है और वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वृत्ति–मुक्ति का मार्ग है। इसप्रकार से यहां आवश्यक शब्द की निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति की गई है ।

भावार्थ—यह निश्चय आवश्यक क्रिया वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हुए ऐसे महामुनि के ही होती है वे ही परवस्तु की आधीनता को छोड़कर अपने स्वरूप के आधीन रहते हैं अन्य नहीं ।

उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

(मंदाक्रांता)

"आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय ।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम् ।
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुर्निर्वृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि लभता शीघ्रमेवं निरीहम् ।।२३८।।

श्लोकार्थ—'आत्मा शुद्धोपयोग को प्राप्त करके स्वयं धर्मरूप होता हुआ नित्य आनन्द के विस्तार से सरस ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर अतिशयरूप अविचलपने से स्फुरायमान ज्योति से सहज शोभायमान ऐसे रत्नदीपक की निष्प्रकंप प्रकाशरूप शोभा को प्राप्त कर लेगा।

उसीप्रकार से [श्री पद्मप्रभमलधारी देव निश्चय आवश्यक क्रिया में अपने आपको प्रेरित करते हुए कहते हैं—]

(२३८) **श्लोकार्थ**—स्ववश में होने से उत्पन्न हुआ आवश्यक क्रिया स्वरूप यह धर्म साक्षात् नियम से सच्चिदानंद मूर्तिस्वरूप आत्मा में अतिशयरूप से होता है। सो यह धर्म कर्मों का क्षय करने में कुशल है और निर्वाण का एक मार्ग है। इस मार्ग से ही मैं शीघ्र ही कोई एक अद्भुत ऐसे निर्विकल्प सुख को प्राप्त होता हूं।

भावार्थ—अन्य पदार्थ के अवलम्बन से रहित होकर अपने आप जो अपनी आत्मा का अवलम्बन ले लेते हैं वास्तव में वे शीघ्र ही आत्मा से उत्पन्न हुए सांसारिक सुख की तुलना से रहित ऐसा कोई एक विलक्षण सुख प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. प्रवचनसार की तत्त्व दीपिका टीका में श्लो. ५ वां पृ. २१८।

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥१४२॥

न वशो अवशः अवशस्य कर्म चावश्यकमिति बोद्धव्यम् ।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः ॥१४२॥

जो न वश वह अवश वह स्वात्म आश्रित ।
उसकी क्रिया ही वश आवश्यक समझ लो ।।
जो हो है युक्ति वह मुक्ति उपाय भी है ।
उससे विदेह मुनि हों यह है निरुक्ती ॥१४२॥

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मविश्यं भवतीत्यत्रोक्तम् । यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मविश्यं भवतीति बोद्धव्यम् । निरवयवस्योपायो युक्तिः । अवयवः कायः, अस्याभावात् अवयवाभावः । अवशः

गाथा १४२

अन्वयार्थ—[**नवशः अवशः**] जो (अन्य) के वश में नहीं है वह 'अवश' है [**अवशस्य कर्म वा आवश्यकं**] और जो अवश का कर्म है वह आवश्यक है [**इति बोद्धव्यं**] ऐसा जानना चाहिए [**युक्तिः इति उपायः इति च**] वही (शरीर रहित होने की) युक्ति है और वही उपाय है [**निरवयवः भवति**] उससे जीव निरवयव—शरीर से रहित हो जाता है [**निरुक्तिः**] ऐसी निरुक्ति है ।

टीका—अवश हुए परम जिनयोगीश्वर को परम आवश्यक क्रिया अवश्य होती है ऐसा यहां पर कहा है ।

जो योगी हैं वे स्वात्मा के परिग्रह से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश में नहीं होते हैं इसीलिये वे 'अवश' इसप्रकार कहे जाते हैं, उन अवश हुये परम जिनयोगीश्वर के निश्चय धर्मध्यानरूप परम आवश्यक क्रिया अवश्य होती है ऐसा जानना चाहिये । अवयव रहित होने का उपाय युक्ति है, यहां अवयव का अर्थ काय है उस काय के

परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति ।

(मंदाक्रांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः ।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्ज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयामूर्तता स्यात् ॥२३९॥

वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

अभाव से अवयव का अभाव हो जाता है । जो परद्रव्यों के वश नहीं है वे अवश-साधु निरवयव-अशरीरी हो जाते हैं, इसप्रकार से यहां पर निरुक्ति-व्युत्पत्ति की गई है ।

[अब टीकाकार मुनिराज अवश योगी के माहात्म्य को बतलाते हुये कहते हैं-]

(२३९) **श्लोकार्थ**—कोई स्वहित में तत्पर हुये योगी जो कि शुद्ध जीवास्तिकाय से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं है और इसप्रकार से उनकी जो सम्यक् स्थिति है सो निरुक्ति है इस हेतु से जिसने पापरूपी अंधकार के पुंज को नष्ट कर दिया है वे योगी नित्य ही स्फुरायमान ज्योतिरूप प्रगट हुई सहज अवस्था से अमूर्तिक हो जाते हैं ।

भावार्थ—अपने स्वाभाविक आत्मस्वरूप में स्थित हुये योगी अन्य के आश्रय से रहित होकर देहमयी मूर्ति रहित ऐसे अमूर्तिक अशरीरी सिद्ध हो जाते हैं ।

गाथा १४३

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**अशुभभावेन**] अशुभभाव से [**वर्तते**] प्रवृत्ति करता है [**सः श्रमणः**] वह साधु [**अन्यवशः भवति**] अन्य के वश होता है [**तस्मात्**]

वर्तते यः स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेन ।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४३॥

जो भी श्रमण अशुभ भावस्वरूप वर्ते ।
वो अन्य के वश हुआ निश्चित समझिये ॥
इस हेतु से उस समय उस साधु के तो ।
होता स्वरूप नहिं आवश्यक क्रिया का ॥१४३॥

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम् । अप्रशस्तरागाद्यशुभभावेन यः श्रमणाभासो द्रव्यलिंगी वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यध्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति अशनार्थं द्रव्यलिंगं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति मनश्चकारेति ।

इसलिये [**तस्य तु आवश्यकलक्षणं कर्म**] उस साधु के आवश्यक लक्षण वाला कर्म [**न भवेत्**] नहीं होता है ।

टीका—भेदोपचार रत्नत्रय से परिणत हुये जीव के अवशपना नहीं होता है ऐसा यहां कथन है ।

जो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी साधु है वह अपने स्वरूप से अतिरिक्त अन्य परद्रव्यों के वश होकर अप्रशस्त राग आदि अशुभभाव से वर्तन करता है इसलिये जघन्य रत्नत्रय से परिणत हुए उस जीव के अपनी आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान लक्षण ऐसा परम आवश्यक कर्म नहीं होता है क्योंकि वह भोजन के लिये द्रव्यलिंग को ग्रहण करके स्वात्म कार्य से विमुख होता हुआ परम तपश्चरणादि से भी उदासीन होकर जिनेन्द्र देव के मंदिर अथवा उस संबंधी क्षेत्र, मकान, धन, धान्यादि ये सभी हमारे हैं ऐसा मन में समझ लेता है ।

भावार्थ—जो द्रव्यलिंगी साधु हैं वे जिनमंदिर, वसतिका आदि पर वस्तुओं को अपनी मानकर व्यवहार आवश्यक क्रियाओं में भी प्रमादी हो जाते हैं पुनः निश्चय

(मालिनी)

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम् ।
तृणगृहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥२४०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥२४१॥

आवश्यक क्रियायें तो उनसे बहुत ही दूर हैं। तथा ये निश्चय आवश्यक क्रियायें भी व्यवहार रत्नत्रय से सहित मुनि के ही होती है न कि व्यवहार रत्नत्रय के बिना भी। ऐसा समझकर व्यवहार रत्नत्रयरूप साधन से निश्चय को साध्य करना चाहिए।

[अब टीकाकार मुनिराज इस काल के मुनियों की प्रशंसा करते हुए तथा व्यवहार निश्चयरूप उभय धर्म में प्रेरित करते हुए पांच श्लोक कहते हैं—]

(२४०) श्लोकार्थ—त्रिभुवनरूपी भवन के अन्तर्गत हुए तिमिरपुंज के समान मुनियों का यह (कोई एक) नवीन तीव्रमोह कर्म है कि जिससे (पूर्व में) वे तीव्र वैराग्यभाव से तृण के घर को भी छोड़कर पुनः 'हमारी यह अनुपम वसति है' ऐसा स्मरण करते हैं।

भावार्थ—जिन्होंने वैराग्य की उज्ज्वलता से पहले फूस की झोंपड़ी तक को छोड़ दिया पुनः यदि वे अपने या अन्य किसी वसतिका आदि में ममत्व रखते हैं तो आचार्य कहते हैं कि यह कोई अद्भुत ही उनका मोहनीय कर्म का विपाक दिख रहा है।

(२४१) श्लोकार्थ—कलिकाल में भी कहीं कोई पुण्यशाली जीव मिथ्यात्व आदि कलंकपंक से रहित तथा सच्चे धर्म की रक्षा के लिये मणिस्वरूप ऐसे मुनि होते

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम् ।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ॥२४२॥

हैं। अनेक परिग्रह समूह को जिन्होंने त्याग कर दिया है और जो पापरूपी वन के लिये अग्नि के समान हैं ऐसे ये मुनिराज इस समय पृथ्वी तल पर तथा स्वर्ग में देवों से पूजे जाते हैं।

भावार्थ—आज इस दुःषमकाल में भी निर्दोष मुनि विचरण करते हैं जो कि सच्चे धर्म की रक्षा करने वाले एक मणि विशेष के सदृश हैं। जैसे कोई उत्तम जाति का हीरा गरुत्मणि आदि जीवों को भूतपिशाचों से या अन्य आपत्तियों से रक्षित करता है उसीप्रकार पंचमकाल के अंत तक जिनशासन की परम्परा को अविच्छिन्न चलाने वाले ये साधु आज भी विद्यमान हैं जो कि मनुष्यों से तो क्या देवों से भी पूजित माने गये हैं।

(२४२) **श्लोकार्थ**—इस लोक में तपस्या समस्त बुद्धिमानों को प्राणों से भी प्यारी है वह सौ इंद्रों से भी सतत् नमस्कार करने योग्य है। जो कोई इस तपस्या को प्राप्त करके कामांधकार से सहित ऐसे सांसारिक सुख में रमते हैं, बड़े खेद की बात है कि वे जड़मति कलिकाल से मारे गये हैं।

भावार्थ—यह जैनेन्द्र मार्ग की तपश्चर्या तीनों लोकों में सभी इंद्र नरेन्द्रों से भी पूज्य है, सर्वोत्तम है जो इसको प्राप्त करके—जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके पुनः विषय सुख के लोलुपी होते हैं वे बेचारे इस कलिकाल के प्रभाव से ही नष्ट हो रहे हैं ऐसा समझना क्योंकि यदि कोई अद्भुत चिंतामणि रत्न को प्राप्त करके भी उसे कौवे को उड़ाने में फेंक दे पुनः सुख की आशा करे तो वह जड़ बुद्धि ही कहलावेगा।

(आर्या)

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङ्नित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ॥२४३॥

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे ।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ॥२४४॥

---

(२४३) **श्लोकार्थ**—अन्य के वश में हुये संसारी जीव मुनि वेष धारी होते हुए भी नित्य ही दुःख को भोगने वाले होते हैं और स्ववश हुए जीवन्मुक्त हैं ये जिनेश्वर से किंचित् ही न्यून हैं ।

भावार्थ—वास्तव में यहां पर १२वें गुणस्थानवर्ती वीतरागी क्षीणमोह हुए ऐसे मुनि की अवस्था विशेष का कथन है क्योंकि वे ही अंतर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान में रहकर अंत में तीनों घातिया कर्मों को समाप्त कर जिनेश्वर होने वाले हैं वे मोह कर्म के अभाव से पूर्णतया स्ववश हो चुके हैं ।

(२४४) **श्लोकार्थ**—इसीलिये जिननाथ के शासन में रहने वाले मुनियों के समुदाय में वे स्ववश हुये मुनिराज नित्य ही शोभायमान होते हैं और इसप्रकार से अन्य के वश हुए मुनि नौकर के समूह में राजप्रिय नौकर के समान शोभा को नहीं पाते हैं ।

भावार्थ—अन्य परद्रव्यों के आश्रित हुये मुनि नौकर के समान पराधीन हैं, किंतु परद्रव्यों के संपर्क से सर्वथा पृथक् हुए ऐसे महामुनि वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन होते हुए स्वाधीन रहते हैं वे ही जिनशासन की शोभा को बढ़ाने वाले हैं क्योंकि वे कुछ ही काल में अर्हंत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं ।

जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः ।
तस्मात्तस्य तु कर्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४४॥

जो साधु नित्य शुभ भाव में प्रवर्ते
वो अन्यवश नियम में श्रुत में कहाते ॥
इस हेतु से उन मुनी की जो क्रिया वो ।
निश्चय स्वरूप नहिं आवश्यक कहावे ॥१४४॥

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितम् । यः खलु जिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु

गाथा १४४

अन्वयार्थ—[**यः संयतः खलु शुभभावे चरति**] जो संयमी मुनि निश्चितरूप शुभभाव में चर्या करता है [**सः अन्यवशः भवेत्**] वह अन्यवश होता है [**तस्मात् तस्य तु**] इसलिये उसके [**आवश्यक लक्षणं कर्म**] आवश्यक लक्षण क्रिया [**न भवेत्**] नहीं होती है ।

टीका—यहां पर भी अन्य के वश हुए ऐसे अशुद्ध अंतरात्मा का लक्षण कहा है ।

जो निश्चितरूप से जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से विनिर्गत ऐसे परम आचारशास्त्र के क्रम से सदा संयत होते हुए शुभोपयोग में आचरण—चर्या करते हैं वे व्यवहारिक धर्मध्यान से (ही) परिणत हैं इसी हेतु से उनके चरण और करण प्रधान हैं वे स्वाध्यायकाल का अवलोकन करते हुए स्वाध्याय क्रिया को करते हैं, प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करते हैं । तीनों संध्याओं में भगवान्

संध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुतिशतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियमपरायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकादशक्रियातत्परः, पाक्षिकमासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणाकर्णनसमुपजनितपरितोषरोमांचकंचुकितधर्मशरीरः, अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनासनकायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साहपरायणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यव्युत्सर्गनामधेयेषु चाभ्यन्तरतपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः। अस्य हि तपश्चरण-

---

अर्हंत परमेश्वर की लाखों स्तुतियों से जिनका मुखकमल मुखरित रहता है अर्थात् तीनों संध्याओं में वे भगवान् अर्हंत की अनेक प्रकार से स्तुति वंदना करते हैं। और तीनों कालों में नियम से पारायण होते हैं इसप्रकार से अहोरात्र में भी होने वाली ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहते हैं। पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के सुनने से उत्पन्न हुए सन्तोष से जिनका धर्मरूपी शरीर रोमांच से रोमांचित हो जाता है।

अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इन नाम वाले छह प्रकार के बाह्य तपों में सदैव उत्साहशील होते हैं। स्वाध्याय, ध्यान तथा शुभआचरण से च्युत होने पर उनमें पुनः स्थापनस्वरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य और व्युत्सर्ग इन नाम वाले छह प्रकार के अभ्यन्तर तपों के अनुष्ठान में कुशल बुद्धि वाले हैं किन्तु वे निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के लिये कारणभूत ऐसे अपनी आत्मा के आश्रित जो आवश्यक क्रिया है, जो कि निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रांतिरूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान है उसको नहीं जानते हैं अतः परद्रव्य के आधीन होने से वे अन्यवश ऐसे कहे गये हैं जिनका चित्त तपश्चरण में निरत है ऐसे ये ही अन्यवश हुए तपोधन स्वर्गलोक आदि के क्लेश की परम्परा से शुभोपयोग के फलस्वरूप ऐसे प्रशस्तरागरूपी अंगारों से सिकते हुए (कदाचित्) आसन्नभव्यता नामक गुण का उदय होने पर परमगुरुदेव के प्रसाद से प्राप्त हुए परम तत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चयरत्नत्रय की परिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

निरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेशपरंपरया शुभोपयोगफलात्मभिः प्रशस्तरागांगारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादासादितपरमतत्त्वश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति ।

विशेषार्थ—टीकाकार कहते हैं कि यहां पर अशुद्ध अंतरात्मा का कथन है। वास्तव में अंतरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से तीन भेद हैं। "अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अंतरात्मा हैं, देशव्रती से लेकर उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यम अंतरात्मा हैं एवं क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अंतरात्मा[1] हैं।" यहां मोहकर्म से सर्वथा रहित ये उत्तम अंतरात्मा ही शुद्ध अंतरात्मा हैं शेष अशुद्ध अन्तरात्मा हैं। ये साधु पूर्व में चरण करण में प्रधान रहते हैं अर्थात् पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार के चारित्र चरण हैं। पंचपरमेष्ठी की स्तुति, छह आवश्यक क्रिया, असही और निःसही ये तेरह क्रियायें करण कहलाती हैं।

यहां पर संयमी की अहोरात्र संबंधी ग्यारह क्रियाओं को कहा है। उसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि साधु के अहोरात्र में दैवसिक और रात्रिक ऐसे दो प्रतिक्रमण, तीनों संध्या कालों में तीन बार देववंदना, पौर्वाण्हिक, अपराण्हिक, पूर्वरात्रिक, अपररात्रिक ऐसे चार स्वाध्याय तथा रात्रियोग प्रतिष्ठापन और निष्ठापन ये ११ क्रियायें हो जाती हैं जो कि अवश्यकरणीय हैं। इन ग्यारह क्रिया सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग हो जाते हैं। यथा—दो प्रतिक्रमण के आठ, तीन देववंदना के छह, चार स्वाध्याय के बारह, तथा रात्रियोग प्रतिष्ठापन-निष्ठापन संबंधी दो ऐसे ८+६+१२+२=२८ होते हैं। यहां टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो साधु आचारांग के आधार से आचार्यों द्वारा कथित क्रियाओं में परिपूर्णतया निष्णात होते हैं वे निश्चय आवश्यक क्रिया को करने में समर्थ हो सकते हैं अन्य नहीं। तथा जब तक वे निश्चयधर्मध्यान या शुक्लध्यान तक नहीं पहुंचे हैं तब तक वे अन्य वश ही हैं जब उस आवश्यक को प्राप्त हुये

---

१. मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिया अंतरप्प जहण्णा।
सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिण सिद्धा ॥१२६॥ कुन्दकुन्ददेव।

(हरिणी)

त्यजतु सुरलोकक्लेशे रतिं मुनिपुंगवो
भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम् ।
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः ॥२४५॥

दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।
मोहान्धयारवयगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥१४५॥

द्रव्यगुणपर्यायाणां चित्तं यः करोति सोप्यन्यवशः ।
मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम् ॥१४५॥

जो द्रव्य और गुण पर्यय भेद को भी ।
चित्त में धरे वह मुनी भी अन्यवश है ॥
मोहान्धकार विरहित ऋषि भाषते यों ।
क्योंकी विकल्प विरहित नहिं ध्यान उसके ॥१४५॥

स्ववश हो जाते हैं अर्थात् बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं तब उन्हें केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त करने में देरी नहीं लगती है ।

(२४५) **श्लोकार्थ**—मुनि पुङ्गव–श्रेष्ठ मुनिजन सुरलोक आदि के क्लेश में रति को छोड़ो और परमानंदमय निर्वाण के कारण का कारण, सकल विमल केवल ज्ञान का निवास गृह, आवरण रहित, सुनय और कुनय समूह से दूर ऐसे सहज परमात्मा को भजो–आश्रय लेवो ।

गाथा १४५

अन्वयार्थ—[**द्रव्यगुणपर्यायाणां**] द्रव्य गुण और पर्यायों में [**यः**] जो [**चित्तं करोति**] चित्त को लगाता है [**सः अपि अन्यवशः**] वह भी अन्यवश है [**मोहान्धकार व्यपगत श्रमणाः**] मोहान्धकार से रहित श्रमण [**ईदृशं कथयंति**] ऐसा कहते हैं ।

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम् । यः कश्चिद् द्रव्यलिंगधारी भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतमूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थः क्वचित् षण्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं धत्ते, क्वचित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थव्यंजनपर्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति, अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानंदलक्षणनिजकारणसमयसारस्वरूपनिरतसहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्यायाणामाधारभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न योजयति, अत एव स तपोधनोऽप्यन्यवश इत्युक्तः ।

प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वांतसंघाताः परमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरागसुखामृतपानोन्मुखाः श्रवणा हि महाश्रवणाः परमश्रुतकेवलिनः, ते खलु कथयन्तीदृशम् अन्यवशस्य स्वरूपमिति ।

टीका—यहां पर भी अन्यवश मुनि का स्वरूप कहा है ।

जो कोई द्रव्यलिंगधारी मुनि भगवान् अर्हंत के मुखकमल से निकले हुये मूल और उत्तर पदार्थ को अर्थ सहित प्रतिपादन करने में समर्थ हैं वे कभी छह द्रव्यों के मध्य में से किसी में मन लगाते हैं, कभी अनेक मूर्तिक-अमूर्तिक, चेतन और अचेतन गुणों में से किसी में मन लगाते हैं । पुनः उनकी अर्थ और व्यंजन पर्यायों में से किसी में बुद्धि को करते हैं, किन्तु त्रिकाल, निरावरण, नित्यानंदमय निजकारण समयसार के स्वरूप में लीन हुए सहज ज्ञानादि शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायों के आधारभूत ऐसे निज आत्मतत्त्व में चित्त को कदाचित् भी नहीं लगाते हैं इसी हेतु से वे तपोधन भी 'अन्यवश' इसप्रकार से कहे गये हैं ।

जिन्होंने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूप अंधकार समूह को ध्वस्त कर दिया है ऐसे परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न हुये वीतराग सुखामृत के पीने में तत्पर श्रमण ही वास्तव में महाश्रमण श्रुतकेवली कहलाते हैं वे निश्चितरूप से अन्यवश के ऐसे स्वरूप को कहते हैं ।

भावार्थ—पूर्व गाथा में भावलिंगी ऐसे व्यवहार चारित्र में कुशल छठे गुणस्थानवर्ती को अन्यवश कह दिया है यहां पर द्रव्यलिंगी मुनि को भी अन्यवश कह दिया है । मिथ्यादृष्टि से लेकर पंचम गुणस्थान तक के जीव भी द्रव्यलिंगी कहलाते हैं ।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुभ्)

"आत्मकार्यं परित्यक्त्वा [illegible] ।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तया परिचिन्तया ।।"

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः ।
यथेंधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्द्धनम् ।।२४६।।

परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।।१४६।।

भव्य जीव द्रव्यलिंगधारी होते हुए उसी भव में या आगे के भव में संस्कार की विशेषता चारित्र को धारण कर भी बन सकते हैं किन्तु जो अभव्य जीव मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती ही रहते हैं फिर भी वे इस द्रव्यचारित्र के प्रसाद से नवग्रैवेयक तक भी चले जाते हैं ।

उसीप्रकार से कहा भी है—

श्लोकार्थ—"आत्मकार्य को छोड़कर प्रत्यक्ष और परोक्ष से विरुद्ध ऐसी उस चिंता से आत्मा के स्वरूप में लीन हुये यतियों को क्या प्रयोजन है ?"

(२४६) **श्लोकार्थ**—जीवों को जब तक चिंता है तभी तक संसार है जैसे ईंधन सहित, स्वाहानाथ–अग्नि की वृद्धि ही होती है ।

भावार्थ—अग्नि में ईंधन के डालते रहने से वह बढ़ती ही है उसीप्रकार से चिंता से संसार की वृद्धि ही होती है ।

परित्यज्य परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।
आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम् ।।१४६।।

जो साधु सर्व पर भाव सुत्याग करके ।
निर्मल स्वभाव निज आतम तत्त्व ध्याते ।।
वे आत्मवश नियम से जग में कहाते ।
उनका ही कर्म आवश्यक नाम पाता ।।१४६।।

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम् यस्तु निरुपरागनिरंजनस्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाङ्मनोगोचरं सदा निरावरणत्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरघवीरवैरिवाहिनीपताकालुण्टाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः । तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिलबाह्यक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानंदानंदप्रदनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकपरमावश्यककर्म भवतीति ।

गाथा १४६

अन्वयार्थ—[**परभावं परित्यक्त्वा**] परभाव को छोड़कर [**निर्मलस्वभावं आत्मानं**] निर्मल स्वभावी आत्मा का [**ध्यायति**] जो ध्यान करता है [**सः खलु आत्मवशः भवति**] वह निश्चितरूप से आत्मवश होता है, [**तस्य तु कर्म आवश्यं**] उसकी क्रिया को आवश्यक [**भणंति**] कहते हैं ।

टीका—यहां पर साक्षात् स्ववश हुये ऐसे परम जिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है ।

जो रागरहित निरंजन स्वभाव होने से औदयिक आदि पर भावों के समुदाय का त्याग करके शरीर, इंद्रिय और वचनों के अगोचर सदा निरावरणरूप होने से निर्मल स्वभाव, समस्त दुष्ट पापरूपी वीर वैरी की सेना की पताका को हरण करने वाले ऐसे निजकारण परमात्मा का ध्यान करता है वही साधु 'आत्मवश' ऐसा कहा गया है । उस अभेद अनुपचार रत्नत्रयस्वरूप साधु के निखिल बाह्य क्रियाकांड के

(पृथ्वी)

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवृन्दारकः
प्रनष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकर्मावलिः ।
स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
सदाशिवमयीं मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ॥२४७॥

(अनुष्टुभ्)

प्रध्वस्तपंचबाणस्य पंचाचारांचिताकृतेः ।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः ॥२४८॥

आडम्बर के विविध विकल्परूप जो महाकोलाहल है उसके प्रतिपक्षरूप महान् आनंदानंद को प्रदान करने वाली ऐसी निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप परमआवश्यक क्रिया होती है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज स्ववश मुनियों की प्रशंसा करते हुए आठ श्लोक कहते हैं—]

(२४७) **श्लोकार्थ**—जिन्होंने संसार के कारण को नष्ट कर दिया है तथा जो पूर्व में संचित ऐसे कर्मसमूह को नष्ट करने वाले हैं ऐसे ये उदार बुद्धि वाले स्ववश हुये योगिपुंगव जयशील हो रहे हैं । वे स्पष्टरूप उत्कट विवेक से प्रगटित शुद्धज्ञान स्वरूप, सदा शिवमय ऐसी मुक्ति को हर्षपूर्वक सर्वथा प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—यहां पर स्ववश हुये मुनि की जो अवस्था बतलाई है उसके प्रसाद से वे शीघ्र ही घातिया कर्मों से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ।

(२४८) **श्लोकार्थ**—जिन्होंने पांच बाणों से सहित ऐसे कामदेव को ध्वस्त कर दिया है जो पांच आचारों से सहित पूज्य आकृति वाले हैं ऐसे अवंचक गुरु के वचन मुक्ति संपदा के कारणभूत हैं ।

भावार्थ—दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पांच आचार रूप ही है आकार जिनका ऐसे वे पंचाचार परिणत साधुजन किसी की वंचना नहीं करते हैं इसलिये इनके पूर्ण विश्वस्त गुरुदेव के वचन निर्वाण के कारण माने गये हैं ।

(अनुष्टुभ्)

इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।
निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥२४९॥

(द्रुतविलंबित)

स्ववशयोगिनिकायविशेषक
प्रहृतचारुवधूकनकस्पृह ।
त्वमसि मे शरणं भवकानने
स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥२५०॥

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं
तनुविशोषणमेव न चापरम् ।
तव पदांबुरुहद्वयचिंतया
स्ववश जन्म सदा सफलं मम ॥२५१॥

---

(२४९) **श्लोकार्थ**—जिनेन्द्रदेव का मार्ग निर्वाण का कारण है, ऐसा जानकर जो मुनि निर्वाण संपत्ति को प्राप्त कर लेते हैं उनको मैं पुनः पुनः वंदना करता हूं ।

(२५०) **श्लोकार्थ**—जिसने सुन्दर कामिनी और कनक से स्पृहा को नष्ट कर दिया है ऐसे स्ववश योगी समूह में तिलक स्वरूप हे योगिराज ! कामदेवरूपी भील के बाणों से क्षत चित्त वाले ऐसे हम लोगों को इस भव वन में आप ही शरण हैं ।

(२५१) **श्लोकार्थ**—अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा होने वाला फल शरीर शोषण मात्र ही है अन्य कुछ नहीं है । हे स्ववश मुनिराज ! आपके चरण कमल युगल की चिंता से ही सदा मेरा जन्म सफल है ।

भावार्थ—अनशन अवमौदर्य आदि तपश्चरणों के फल की यहां अवहेलना की है, ऐसा प्रतीत होता है किंतु ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्यत्र ग्रंथों में इन तपश्चरणों से अत्यधिक कर्मों की निर्जरा मानी है तपश्चरण के बिना भी पूर्णतया कर्मों की निर्जरा होना असम्भव है । श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है कि—

(मालिनी)

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
स्वरसविसरपूरक्षालितांहाः समंतात् ।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ॥२५२॥

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ॥२५३॥

"हे भगवन् ! आपने[1] आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिये परम दुश्चर ऐसे बाह्य तपश्चरण को किया था" । इसलिये यहां एकांत नहीं समझना, तत्त्वज्ञान शून्य तपश्चरण ही मात्र ऐसा है जो मुक्ति को प्राप्त कराने में असमर्थ है । फिर भी यह निर्दोष तपश्चरण मात्र द्रव्यलिंगी मुनि को नवग्रैवेयक तक भी पहुंचा देता है । तथा इससे लौकिक अभ्युदय फल भी मिलते हैं । अतः यहां सर्वथा तपश्चरण का निषेध नहीं है प्रत्युत गुरु भक्ति से गुरुओं के चरणों की उपासना का ही महत्त्व स्पष्ट है ।

(२५२) श्लोकार्थ—सहज तेज की राशि में डूबा हुआ लोकजीव जयशील हो रहा है, जो कि सब ओर से निजरस के विस्तार के पूर से पाप को धो चुका है, सहज समरस के द्वारा परिपूर्ण भरे हुये होने से पुण्य—पवित्र है, पुराण—सनातन है, स्ववश हुए योगी के मन में नित्य ही विराजमान है और शुद्ध सिद्ध है ।

(२५३) श्लोकार्थ—सर्वज्ञवीतराग में और स्वात्माधीन इन योगियों में कभी कुछ भी भेद नहीं है, किंतु अहो ! खेद की बात है कि हम जड़ बुद्धि उनमें भेद मानते हैं ।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय से प्रत्येक संसारी आत्मा और परमात्मा सिद्धों में कोई अंतर नहीं है, यह अंतर मात्र व्यवहारनय से ही है । किंतु यहां पर तो स्ववश

१ "बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।"
[स्वयंभूस्तोत्र]

(अनुष्टुभ्)

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः ।
स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ॥२५४॥

आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं ।
तेण दु सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम् ।
तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ॥१४७॥

भो साधु ! आप आवश्यक चाहते यदि ।
आत्म स्वभाव उसमें स्थिर भाव धारो ॥
उससे हि जीव गुण तो, परिपूर्ण होता ।
सावद्य हीन सामायिक नाम का जो ॥१४७॥

योगी बारहवें गुणस्थान में स्थित हैं अन्तर्मुहूर्त में ही शेष तीन घातिया को भी समाप्त करके सर्वज्ञ वीतराग होने वाले हैं । उसके पहले वीतरागी तो हो ही चुके हैं निर्ग्रंथ संज्ञा भी वहीं पर सार्थक है इसलिये सर्वज्ञ में और इनमें भेद मानना अज्ञान ही है ।

(२५४) **श्लोकार्थ**—इस जन्म-संसार में स्ववश महामुनि ही एक सदा धन्य हैं जो कि अन्य में उपयोग से रहित ऐसे अनन्यबुद्धि वाले होते हुए सभी कर्मों से बाहर स्थित हैं ।

भावार्थ—वास्तव में वे ही इस संसार में धन्यवाद के पात्र हैं कि जो वीतराग निर्विकल्प ध्यान में अपने उपयोग को स्थिर कर चुके हैं । उनसे सभी कर्म अपने आप पृथक् हो जाते हैं । उनका उपयोग अन्य तरफ न होने से वे अनन्यधी कहलाते हैं ।

गाथा १४७

अन्वयार्थ—[**यदि आवश्यकं इच्छसि**] यदि तुम आवश्यक को चाहते हो तो [**आत्मस्वभावेषु स्थिरभावं करोषि**] आत्मा के स्वभावों में स्थिर भाव करो [**तेन तु**] उसीसे [**जीवस्य**] जीव का [**सामायिकगुणं संपूर्णं भवति**] सामायिक गुण संपूर्ण होता है ।

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत्। इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपंचकल्लोलिनीकलकलध्वानश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्मुक्तनिरंजननिजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चलस्थिरभावं करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं जातम् अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः। अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्ध्रिकासंभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः—

(मालिनी)

"यदि चलति कथंचिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः।

टीका—शुद्धनिश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय का यह कथन है।

बाह्य षट् आवश्यक प्रपंचरूपी नदी की कल-कल ध्वनि के सुनने से पराङ्मुख हे शिष्य! यदि तुम संसाररूपी बेल के मूल को काटने में कुठार सदृश, ऐसी शुद्धनिश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप स्वात्माश्रित आवश्यक क्रिया को चाहते हो, तो सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजसुख ये चतुष्टय प्रमुख हैं जिसमें ऐसे समस्त विकल्प जालों से रहित निरंजन स्वरूप अपने परमात्म भावों में सतत निश्चल स्थिर भाव करो इस हेतु से निश्चय सामायिक गुण के हो जाने पर मुमुक्षु जीव को [मात्र] बाह्य षट् आवश्यक क्रियाओं से क्या होगा? अर्थात् अनुपादेय फल ही होगा उपादेयभूत परमात्म तत्त्व नहीं प्राप्त होगा यह अर्थ हुआ। इसलिए मुक्तिरूपी सुन्दरी के संभोग और हास्य को प्राप्त कराने में कुशल ऐसे निष्क्रिय-निश्चय परम आवश्यक के द्वारा जीव का सामायिक चारित्र संपूर्ण होता है।

इसीप्रकार से श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है—

"**श्लोकार्थ**—[1]यदि किसी प्रकार से तुम्हारा मन अपने स्वरूप से चलित होता है और बाहर घूमता है तो तुम्हें सभी दोषों का प्रसंग होगा। इसलिए तुम हमेशा

---

१. अमृताशीति, श्लोक ६४।

तदनवरतमंतर्मग्नसंविग्नचित्तो
भव भवसि भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ।।"

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम् ।
बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ।।२५५।।

आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ।।१४८।।

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः ।
पूर्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ।।१४८।।

अंतर्मग्न ऐसे संवेग पूर्ण चित्त सहित हो जावो, कि जिससे तुम भवके अन्तरूपी ऐसे स्थायी धाम के अधिपति हो जावोगे ।"

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज निश्चयचारित्र के महत्त्व को कहते हैं—]

(२५५) श्लोकार्थ—यदि इसप्रकार संसार के दुःखों को दूर करने वाला और आत्मा में ही नियम से निश्चित ऐसा चारित्र हो तो यह मुक्ति लक्ष्मीरूपी रमणी से उत्पन्न होने वाले सुख का अतिशयरूप से कारण है । ऐसा समझकर जो मुनिनाथ समय—आत्मा के निर्दोष सार को सदा जानते हैं, सो वे बाह्य क्रियाओं से रहित हुए पापरूपी वनी को भस्मसात् करने के लिए अग्निस्वरूप होते हैं ।

गाथा १४८

अन्वयार्थ—[**आवश्यकेन हीनः**] आवश्यक से हीन [**श्रमणः**] श्रमण [**चरणतः प्रभ्रष्टः भवति**] चारित्र से भ्रष्ट होते हैं, [**तस्मात् पुनः**] पुनः इसलिए

जो साधु हीन आवश्यक की क्रिया से ।
चारित्र से वह मुनी सच भ्रष्ट ही है ।।
पूर्वोक्त क्रम समझ के इस ही लिये सो ।
व्यवहार निश्चय क्रिया षट् नित्य पालो ।।१४८।।

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम् । अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुति-वंदनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चय-चारित्रभ्रष्ट इत्यर्थः । पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति ।

[**पूर्वोक्तक्रमेण**] पूर्वकथित क्रम से [**आवश्यकं कुर्यात्**] आवश्यक क्रिया करना चाहिए ।

टीका—यहां पर शुद्धोपयोग के अभिमुख हुए मुनि को शिक्षा कही है ।

यहां पर यह बताया है कि व्यवहारनय से भी समता स्तुति, वंदना, प्रत्याख्यान आदि षट् आवश्यक क्रियाओं से हीन हुआ श्रमण चारित्र से परिभ्रष्ट है । और शुद्धनिश्चयनय से परम अध्यात्म भाषा से कथित ऐसी निर्विकल्प समाधिस्वरूप परमावश्यक क्रिया से हीन हुआ श्रमण निश्चयचारित्र से भ्रष्ट है ऐसा अर्थ है । अतः पूर्वोक्तस्ववश हुए परमजिनयोगीश्वर का जो निश्चय आवश्यक का क्रम है जो कि स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यानस्वरूप है उसी क्रम से परममुनि सदा आवश्यक क्रिया को करो ।

भावार्थ—यहां पर टीकाकार ने स्पष्ट कह दिया है कि जो साधु व्यवहार क्रियाओं से शून्य हैं, वे चारित्र से ही भ्रष्ट हैं । पुनः उनके निश्चय क्रिया तो बहुत ही दूर है किंतु जो निश्चय को साध्य समझते हुए व्यवहार क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं जब तक निश्चय को प्राप्त नहीं कर लेते हैं तभी तक उसे उपादेयभूत समझते हैं वे ही साधु व्यवहार में निष्पन्न होते हुए एक दिन निश्चय को अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज निश्चय क्रियाओं के महत्त्व को दो श्लोकों से कहते हैं—]

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलहरं निर्वृतेर्मूलभूतम् ।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ॥२५६॥

(अनुष्टुभ्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ॥२५७॥

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरंगात्मा ।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ॥१४९॥

(२५६) **श्लोकार्थ**—आत्मा अवश्य ही पापकुल की नाशक और निर्वाण के मूलभूत ऐसी केवल एक सहज परमावश्यक क्रिया को ही अतिशयरूप से करे । वह ही स्वरस–अपने अनुभव के विस्तार से परिपूर्ण भरित पुण्यस्वरूप और पुराण सो वह आत्मा वचनों के अगोचर कोई एक अद्भुत सहज और शाश्वत सुख को कर लेगा ।

(२५७) **श्लोकार्थ**—स्ववश मुनीन्द्र का यह उत्तम स्वात्म चिंतन ही श्यक कर्म है जो कि मुक्तिसुख का मूल है ।

भावार्थ—शुद्धोपयोगी मुनि के जो अपनी आत्मा के स्वरूप का ध्यान होता आवश्यक क्रिया है तथा मुक्ति का मूल कारण कहा गया है ।

गाथा १४९

अन्वयार्थ—[**आवश्यकेन युक्तः**] आवश्यक से सहित [**श्रमणः**] श्रमण है वह [**अन्तरंगात्मा**] अंतर आत्मा है और जो [**आवश्यकपरिहीणः**] आवश्यक

जो साधु नित्य आवश्यक युक्त होता।
वोही अवश्य मुनि अन्तर आत्मा है॥
जो शून्य है श्रमण आवश्यक क्रिया से।
उसको कहें यतिपती बहिरातमा ही ॥१४६॥

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः। अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मणानवरतसंयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा। असंयतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यांतरात्मा। अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः। निश्चयव्यवहारनयद्वयप्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति।

उक्तं च मार्गप्रकाशे –

(अनुष्टुभ्)

"बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युतितात्मधीः॥"

से रहित [श्रमणः] श्रमण है [सः] वह [बहिरात्मा भवति] बहिरात्मा होता है।

टीका—आवश्यक क्रिया के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है, ऐसा यहां पर कहा है।

अभेद अनुपचार रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा के अनुष्ठान में निश्चितरूप परमावश्यक क्रिया से हमेशा संयुक्त 'स्ववश' इस नाम वाले परमश्रमण सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा हैं, क्योंकि सोलह कषायों के अभाव से ये क्षीण मोह पदवी को प्राप्त बारहवें गुणस्थान में स्थित हुए महात्मा हैं। असंयतसम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं और इन दोनों के मध्य में रहने वाले सभी मध्यम अन्तरात्मा हैं। तथा निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों से प्रणीत परम आवश्यक क्रियाओं से रहित जीव बहिरात्मा हैं।

इसीप्रकार से मार्गप्रकाश में भी कहा है—

"श्लोकार्थ—अन्य समय–परसमय के बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार होते हैं। इन दोनों में से जो देह इंद्रिय, आदि में उत्पन्न हुई आत्म बुद्धि वाला है वह बहिरात्मा है।"

(अनुष्टुभ्)

"जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक् ।
प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकक्रियाप्रयुक्तः
संसारोत्थप्रबलसुखदुःखाटवीदूरवर्ती ।
तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः ।
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ।।२५८।।

"श्लोकार्थ—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अंतरात्मा के तीन भेद हैं। उसमें से अविरत सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम—जघन्य अन्तरात्मा हैं, क्षीणमोह जीव अन्त्य—उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं और इन दोनों के मध्य में रहने वाले मध्यम अन्तरात्मा हैं।"

विशेषार्थ—श्री कुंदकुंद देव अन्यत्र ग्रंथ में कहते हैं कि[1] बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय हैं और परमात्मा को स्वसमय कहा है। इनके भेदों को तुम गुणस्थान में समझो। मिश्र गुणस्थान पर्यंत बहिरात्मा हैं, चतुर्थ गुणवर्ती जघन्य अंतरात्मा हैं। पंचमगुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक तरतमता से मध्यम अंतरात्मा हैं, क्षीणकषाय वाले बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अंतर आत्मा हैं और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन तथा सिद्ध भगवान् परमात्मा हैं। यहां मार्ग प्रकाश में जो अन्य समय है उसका अर्थ परसमय है तथा स्वसमय से परमात्मा को ग्रहण किया है ऐसा समझना।

उसीप्रकार से—[टीकाकार मुनिराज अध्यात्म भाषा से बहिरात्मा और अंतरात्मा के लक्षण को कहते हैं—]

(२५८) श्लोकार्थ—जो योगी नित्य ही सहज परमावश्यक क्रिया का प्रयोग करता हुआ, संसार में उत्पन्न हुये प्रबल सुख-दुःखरूपी वनी के दूरवर्ती होता

---

१. रयणसार गाथा १२८, १२९।

अन्तरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अन्तरंगप्पा ॥१५०॥

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा ।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरंगात्मा ॥१५०॥

जो बाह्य जल्प अरु अन्तरजल्प में भी ।
वर्तन करे वह मुनी बहिरातमा है ॥
जो जल्प से रहित सर्व विकल्प शून्य ।
वे ही श्रमण सतत अन्तर आतमा हैं ॥१५०॥

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोऽयम् । यस्तु जिनलिंगधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अशनशयनयानस्थानादिषु

है । इसलिये वह अन्तर्जल्प से आत्मा में स्थित होता हुआ अन्तरात्मा होता है और जो स्वात्मा से भ्रष्ट है तथा बाह्यतत्त्वों में निष्ठ है वह बहिरात्मा होता है ।

भावार्थ—यहां पर मात्र उत्तम अन्तरात्मा ही विवक्षित है । गौणरूप से मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा भी आ जाते हैं क्योंकि वे भी आत्मतत्त्व की भावना में तथा उसके साधनभूत ऐसे जिनेन्द्रदेव कथित व्यवहार मार्ग में स्थित हैं । किंतु जो आत्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र से रहित हैं वे बहिरात्मा हैं ।

गाथा १५०

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**अन्तरबाह्यजल्पे**] अन्तरङ्ग और बहिरंग जल्प में [**वर्तते**] वर्तता है, [**सः बहिरात्मा**] वह बहिरात्मा [**भवति**] होता है, और [**यः जल्पेषु**] जो जल्पसमूह में [**न वर्तते**] नहीं रहता है, [**सः अन्तरंगात्मा**] वह अंतरात्मा [**उच्यते**] कहा जाता है ।

टीका—यह, बाह्य और अंतर जल्प का निराकरण है । जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास मुनि पुण्य कर्म की आकांक्षा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि रूप बाह्य जल्प को करते हैं, और अशन, शयन, गमन, स्थान आदि क्रियाओं में सत्कार

सत्कारादिलाभलोभस्सन्नन्तर्जल्पे मनश्चकारेति स बहिरात्मा जीव इति। स्वात्मध्यान-परायणस्सन् निरवशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदा चिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(वसंततिलका)

"स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥"[1]

आदि लाभ के लोभी होते हुए अंतर्जल्प में मन को लगाते हैं वे बहिरात्मा जीव हैं। इनसे अतिरिक्त जो मुनि स्वात्मध्यान में परायण होते हुये, परिपूर्णरूप से अंतर्मुख हुये, प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त विकल्प जालों में कदाचित् भी नहीं वर्तते हैं। इस हेतु से वे परम तपोधन साक्षात् अन्तरात्मा होते हैं।

भावार्थ—यहां पर भी अन्तरात्मा से सातिशय अप्रमत्त सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनियों से लेकर ग्यारहवें तक मध्यम अन्तरात्मा गौणतया और बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अन्तरात्मा मुख्यतया विवक्षित हैं, क्योंकि टीकाकार ने 'साक्षात्' यह पद रखा है।

उसीप्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"**श्लोकार्थ**—'जिसमें स्वेच्छा से बहुत से विकल्प जाल उठ रहे हैं ऐसी इस विशाल नयपक्ष की कक्षा-नयों के समूह की भूमिका को उलंघन करके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में समरसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को यह तत्त्ववेदी प्राप्त कर लेता है।"

---

१. समयसार कलश ६०।

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरंगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ।।२५९।।

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणवो सोवि अन्तरंगप्पा ।
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।।१५१।।

यो धर्म्यशुक्लध्यानयोः परिणतः सोप्यन्तरंगात्मा ।
ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि ।।१५१।।

जो धर्म शुक्ल अर ध्यानमयी हुए हैं ।
वे साधु ही नियम से बस अन्तरात्मा ।।
जो ध्यान हीन मुनि वे बहिरातमा हैं ।
क्योंकि न शुद्ध नहिं भी शुभध्यान उनके ।।१५१।।

अब [टीकाकार मुनिराज अन्तस्तत्त्व को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(२५९) **श्लोकार्थ**—भवभयकारी ऐसे बाह्य और आभ्यन्तर जल्प को छोड़ कर समरसमयी एक चैतन्य चमत्कार का ही नित्य स्मरण करके, जिसने ज्ञान ज्योति से अपने अभ्यन्तर स्वरूप को प्रगट किया है ऐसा अन्तरात्मा मोह के क्षीण–समाप्त हो जाने पर कोई एक अद्भुत परमतत्त्व को अन्तरङ्ग में देख लेता है ।

गाथा १५१

अन्वयार्थ—[**यः**] जो [**धर्मशुक्लध्यानयोः**] धर्मध्यान और शुक्लध्यान से [**परिणतः**] परिणत है [**सः अपि**] वह भी [**अंतरंगात्मा**] अन्तरात्मा है, और [**ध्यानविहीनः श्रमणः**] ध्यान से रहित श्रमण [**बहिरात्मा**] बहिरात्मा है [**इति विजानीहि**] ऐसा तुम समझो ।

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम्। इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः, तस्य खलु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणाम भावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अत एव सहजचिद्विलासलक्षणमत्यपूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति। आभ्यां ध्यानाभ्यां विहीनो द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि।

टीका— यहां पर स्वात्माश्रित निश्चय धर्म और शुक्लध्यान ये दो ही उपादेय हैं, ऐसा कहा है।

यहां पर साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीणकषायी हैं, क्योंकि निश्चितरूप से उन भगवान् के सोलह कषायों के अभाव से दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मरूपी राजयोद्धा विलय को प्राप्त हो चुके हैं इसी हेतु से ये स्वाभाविक चैतन्यविलासरूप अति अपूर्व आत्मा का शुद्धनिश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों के द्वारा नित्य ही ध्यान करते हैं। किंतु इन दोनों ध्यान से रहित हुये द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा हैं ऐसा हे शिष्य! तुम जानो।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने स्पष्ट कहा है कि जिनके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का सर्वथा अभाव हो गया है ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि के ही निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान होता है। इस निश्चय धर्मध्यान को बारहवें गुणस्थान में मानने की बात 'ध्यानशतक' ग्रंथ में भी कही है। वे क्षीणकषायी ही उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं वे ही यहां विवक्षित हैं। इन दोनों ध्यानों से जो रहित हैं वे बहिरात्मा कहे गये हैं। इस कथन से उत्कृष्ट अंतरात्मा से अतिरिक्त सभी बहिरात्मा आते गये हैं। यहां बहिरात्मा शब्द से मिथ्यादृष्टि को नहीं लेना चाहिये। अथवा निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मध्यानों से रहित को बहिरात्मा मानने से मिथ्यादृष्टि ही आते हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में भी आज्ञा विचय आदि धर्मध्यान होने ही हैं। इस दृष्टि से जघन्य और मध्यम अंतरात्मा भी गौणरूप से आ सकते हैं ऐसा समझना। अथवा जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान से रहित हैं वे अर्थापत्ति से आर्तध्यान व रौद्रध्यान से सहित हो सकते हैं। वे धर्मध्यान शून्य द्रव्यलिंगी मुनि वास्तव में

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्म्यशुक्ल-
ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ ।
तास्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोऽयं
पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ॥२६०॥

किं च केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते—

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम् ।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ॥२६१॥

बहिरात्मा हैं । छठे गुणस्थानवर्ती साधु निश्चय धर्मध्यान की भावना से सहित हैं तथा चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती व्यवहार धर्मध्यान से परिणत हैं अतएव वे बहिरात्मा नहीं हैं, वे यहां गौण हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज इसी बात को दो कलश काव्य द्वारा कहते हैं–]

(२६०) श्लोकार्थ—कोई मुनि सतत निर्मल धर्म और शुक्लध्यानामृतरूपी समरस में वर्तते हैं वे सचमुच में अंतरात्मा हैं । तथा इन दो ध्यानों से रहित मुनि बहिरात्मा हैं । मैं पूर्व कथित (अन्तरात्मा) योगी की शरण को प्राप्त होता हूं ।

अब केवल शुद्धनिश्चयनय का स्वरूप कहा जाता है—

(२६१) श्लोकार्थ—बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है किंतु संसाररूपी रमणी के लिये प्रिय ऐसा यह विकल्प सुबुद्धियों को नहीं होता है ।

भावार्थ—यहां केवल मात्र शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ही यह कथन है क्योंकि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्धनिश्चयनय से सभी जीव सर्वथा शुद्ध ही हैं । संसार और मोक्ष की वहां बात ही नहीं है । क्योंकि जब सभी संसारी जीव भी सिद्ध सदृश पूर्णतया शुद्ध ही हैं तब संसार क्या होगा ? किंतु जब व्यवहारनय से भेद करके

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम् ।
तेन तु विरागचरिते श्रमणोभ्युत्थितो भवति ॥१५२॥

जो साधु ये प्रतिक्रमादि सभी क्रियायें ।
करते उन्हें सतत ही निश्चय चरित्र ॥
वे वीतरागमय चारित में उसी से ।
आरूढ़ भी नियम से फिर हो सकेंगे ॥१५२॥

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमत्रोक्तम् । यो हि विमुक्तैहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति इति ।

संसारी आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ किया जाता है उस समय पूर्व में यह विकल्प होता ही है अनन्तर निर्विकल्प अवस्थारूप ध्यान में विकल्प छूट जाता है । इस अपेक्षा से कबुद्धि कहा है ।

गाथा १५२

अन्वयार्थ—[**निश्चयस्य चारित्रं प्रतिक्रमण प्रभृति क्रियां**] निश्चयनय के चारित्ररूप प्रतिक्रमण आदि क्रिया को [**कुर्वन्**] करता हुआ [**श्रमणः**] श्रमण [**तेन तु**] उसी से [**विराग चरिते**] वीतराग चारित्र में [**अभ्युत्थितः भवति**] आरूढ़ हो जाता है ।

टीका—परमवीतराग चारित्र में स्थित हुये परमतपोधन के स्वरूप को यहां पर कहा है ।

जो ऐहिक व्यापार से रहित हुये साक्षात् अपुनर्भव के इच्छुक महामुमुक्षु सकल इंद्रियों के व्यापार को छोड़ देने से निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत्क्रिया को करते रहते हैं, उस कारण से वे तपोधन अपने स्वरूप में विश्रांति लक्षण ऐसे परमवीतराग चारित्र में स्थित होते हैं ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म मुक्त्वा विमुक्तेः ।
मूले शीले मलविरहिते सोऽयमाचारराशिः
तं वंदेऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम् ॥२६२॥

वयणमयं पडिक्कमणं, वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।
आलोयण वयणमयं, तं सव्वं जाण [1]सज्झायं ॥१५३॥

वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च ।
आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम् ॥१५३॥

वाचामयी प्रतिक्रमण वचमय नियम जो ।
वाणी स्वरूप अरु प्रत्याख्यान भी हैं ॥
आलोचना वचनरूप इसी तरह जो ।
स्वाध्यायरूप तुम उन, सबको समझ लो ॥१५३॥

[अब टीकाकार मुनिराज कलश काव्य कहते हैं—]

(२६२) **श्लोकार्थ**—जिसके दर्शन मोह और चारित्र मोह नष्ट हो चुके हैं, ऐसा जो अतुलमहिमाशाली आत्मा संसार में उत्पन्न होने वाले सुख के कारणभूत कर्म को छोड़कर मुक्ति के लिये मूल ऐसे मल से रहित चारित्र में स्थित होता है, सो यह आत्मा आचार की राशि स्वरूप—चारित्र का समूह ही है। समरसरूपी सुधा के सागर को वृद्धिगत करने के लिये पूर्णिमा के चन्द्रमास्वरूप ऐसे उस आत्मा को मैं वन्दन करता हूं।

गाथा १५३

अन्वयार्थ—[**वचनमयं प्रतिक्रमणं**] वचनमय प्रतिक्रमण, [**वचनमयं प्रत्याख्यानं**] वचनमय प्रत्याख्यान, [**नियमः च**] वचनमय नियम तथा [**वचनमयं आलोचनं**] वचनमय आलोचना [**तत्सर्वं**] उन सबको [**स्वाध्यायं जानीहि**] तू स्वाध्याय जान।

---

१. सज्झाउं (क) पाठा०।

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोऽयम् । पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियाकारणं निर्यापकाचार्यमुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यात्मकत्वान्न ग्राह्यं भवति, प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च । पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जानीहि इति ।

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः ।
नित्यानंदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ॥२६३॥

टीका—यह समस्त वचन विषयक व्यापार का निराकरण है ।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया का कारण ऐसा जो निर्यापकाचार्य के मुख-कमल से निकला हुआ और समस्त पापों के क्षय में हेतुभूत जो अखिल द्रव्यश्रुत है वह वचन वर्गणा के योग्य पुद्गल द्रव्यरूप होने से ग्राह्य नहीं है । तथा प्रत्याख्यान नियम और आलोचना भी (पुद्गल द्रव्यात्मक होने से) ग्राह्य नहीं है । पौद्गलिक वचनमय होने से ये सब स्वाध्याय हैं ऐसा हे शिष्य ! तू जान ।

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में स्थित हुये साधु के सभी वचनरूप क्रियायें अग्राह्य हैं अर्थात् उस अवस्था में वे स्वयं ही नहीं हैं और जब तक ये क्रियायें हैं तब तक सब स्वाध्यायरूप ही हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज निजात्मध्यानी साधु का स्वरूप कहते हैं—]

(२६३) **श्लोकार्थ**—निर्वाण स्त्री के पुष्ट स्तन युगल के आलिंगन जन्य सौख्य की स्पृहा से सहित भव्य जीव इसी हेतु से समस्त वचन रचना को छोड़कर और नित्यानन्द आदि अतुलमहिमा के धारक ऐसे अपने स्वरूप में स्थित होकर वह एकाकी समस्त जगत् जाल को तृण के समान देखता है ।

तथा चोक्तम्—

"परियट्टणं च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा ।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ ।।"

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं ।।१५४।।

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ।।१५४।।

जो शक्य हो यदि तुम्हें सब ध्यान रूप ।
आवश्यकी प्रतिक्रमादि क्रिया करीजे ।।
शक्तीविहीन जब तक यदि आप तब तक ।
श्रद्धान ही इन क्रियाओं में रखीजे ।।१५४।।

इसीप्रकार अन्यत्र भी कहा है—

गाथार्थ—[1]परिवर्तन–पढ़े हुये का दुहराना, वाचना–शास्त्र व्याख्यान, पृच्छना–पूछना अनुप्रेक्षा–बार-बार चिंतवन करना और धर्मकथा–त्रेसठशलाका पुरुषों के चरित्र को पढ़ना या उपदेश करना, स्तुति और मंगल सहित यह पांच प्रकार का स्वाध्याय होता है ।

गाथा १५४

अन्वयार्थ—[**यदि कर्तुं शक्यते**] यदि करना शक्य हो सके तो [**अहो**] अहो साधु ! [**ध्यानमयं**] ध्यानमय [**प्रतिक्रमणादिकं**] प्रतिक्रमण आदि [[2]**करोषि**] करो [**यदि शक्तिविहीनः**] यदि शक्ति हीन हो तो [**यावत् श्रद्धानं च एव**] तब तक श्रद्धान को ही [**कर्तव्यं**] करना चाहिए ।

---

१. मूलाचार के पंचाचार अधिकार में गाथा २१९ ।

२. 'कुर्यात्' पाठ संभावित है ।

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम् । मुक्तिसुन्दरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभ सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणे परद्रव्यपराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धे पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह । शक्तिहीनो यदि वग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

(शिखरिणी)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।

टीका—शुद्धनिश्चय धर्मध्यानरूप प्रतिक्रमण आदि ही करना चाहिए ऐसा यहां पर कहा है ।

सहज वैराग्यरूपी प्रासाद के शिखर के शिखामणि स्वरूप परद्रव्य से पराङ्मुख हुये तथा स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिमन् ! पंचेन्द्रिय के प्रसार से वर्जित गात्रमात्र परिग्रह धारक, परमागमरूपी मकरंद के झरते हुए मुखकमल से शोभायमान ऐसे हे पद्मप्रभ मुनिपुंगव ! संहनन शक्ति के प्रादुर्भाव होने पर तो मुक्ति सुन्दरी के प्रथम दर्शन में भेंट स्वरूप ऐसे निश्चय प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त और प्रत्याख्यान प्रमुख शुद्धनिश्चय क्रिया ही करना चाहिये और यदि इस दग्धकालरूप अकाल (पंचमकालरूप कलिकाल में) तू शक्तिहीन है तो तुझे केवल निजपरमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये ।

[टीकाकार मुनिराज उसी श्रद्धान की प्रेरणा देते हुए कलश काव्य कहते हैं—]

(२६४) **श्लोकार्थ**—पाप से भरपूर और कलिकाल के विलास से सहित इस असार संसार में निर्दोष जिननाथ को इस मार्ग में मुक्ति नहीं होती है इसलिये इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है ? निर्मल बुद्धि वालों ने भवभय हारी ऐसे इस निजात्मा के श्रद्धान को ही स्वीकृत किया है ।

अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥

जिणकहियपरमसुत्ते, पडिक्कमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ॥१५५॥

जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्ष्ययित्वा स्फुटम् ।
मौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम् ॥ १५५ ॥

भावार्थ—यहां टीकाकार का स्पष्टरूप से कहना है कि इस निकृष्ट काल में हीन संहनन होने से अध्यात्म ध्यान नहीं हो सकता है अतः आत्म तत्त्व का श्रद्धान ही करना उचित है । इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि पुनः इन अध्यात्म ग्रंथों की रचना क्यों की गई है ? किन्तु ऐसी बात नहीं है । जिनागम के द्वारा ऊंची से ऊंची अवस्थाओं की सभी बातों का वर्णन ग्रंथों में तो रहेगा ही और अपनी योग्यता के अनुसार ही ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये । पहले श्रावकों को श्रावकाचार आदि ग्रंथों से अपनी जीवन चर्या अवश्य निर्दोष बनाना चाहिए अनन्तर इन ग्रंथों के स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान को वृद्धि करना चाहिए ।

भगवती आराधना ग्रंथ में एक इसीप्रकार से प्रश्न हुआ है । यथा—"[१]यदि ते वर्तयितुं इदानींतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूप परिज्ञानात्सम्यग्ज्ञानं । तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति ।" अर्थात् यदि भक्त प्रत्याख्यान मरण ही आजकल हो सकता है तथा उत्तम संहनन के अभाव में प्रायोपगमन और इंगिनी इन दो मरणों को करने के लिए आजकल के साधुओं में सामर्थ्य नहीं है तो यहां पर इनका उपदेश क्यों करते हैं ? ऐसी बात नहीं है क्योंकि उनका स्वरूप जानने से सम्यग्ज्ञान होता है जो कि मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी ही है ।

गाथा १५५

अन्वयार्थ—[**जिनकथितपरमसूत्रे**] जिनकथित परम सूत्र में [**प्रतिक्रमणादिकं**] प्रतिक्रमण आदि की [**स्फुटं परीक्षयित्वा**] प्रगटरूप से परीक्षा करके [**योगी**

---

१. भगवती आ. श्री अपराजित सूरिकृत टीका में पृ. ६९० ।

सर्वज्ञ प्रोक्त परमागम सूत्र में जो ।
वर्णे प्रतिक्रमण आदि उन्हें समझकर ।।
भो साधु ! मौनयुत नित्य उन्हें करीजे ।
उससे स्वयं हि निज कारज साध लीजे ।।१५५।।

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम् । श्री मदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणप्रभृतिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगीश्वरः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसंगव्यासंगं मुक्त्वा चैकाकीभूय मौनव्रतेन सार्धं समस्तपशुजनैः निद्यमानोऽप्यभिन्नः सन् निजकार्यं निर्वाणवामलोचनासंभोगसौख्यमूलमनवरतं साधयेदिति ।

मौनव्रतेन] योगी मौनव्रतपूर्वक [**निजकार्यं नित्यं**] निजकार्य को नित्य ही [**साधयेत्**] सिद्ध करे ।

टीका—साक्षात् अंतर्मुख हुए परिणमित योगी को यहां पर यह शिक्षा कही है ।

श्रीमान् अर्हंत देव के मुखकमल से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसमें गर्भित हैं ऐसे चतुरवचनों से संदर्भित द्रव्यश्रुत में (कही गई) शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमण आदि सत्क्रिया को जानकर केवल स्वकार्य में तत्पर ऐसे परमजिनयोगीश्वर प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसी समस्त वचन रचना को छोड़कर और सर्वसंग के व्यासंग को भी छोड़कर, एकाकी होकर मौनव्रत से सहित समस्त पशु—अज्ञानीजनों के द्वारा निंदा किये जाने पर भी [1]अभिन्न (अक्षोभित) होता हुआ निर्वाण सुन्दरी के संभोग सौख्य का मूल ऐसे निजकार्य को सदैव ही साधित करे ।

[अब टीकाकार मुनिराज आत्मतत्त्व की साधना के उपाय को बतलाते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

---

१. छिन्न-भिन्न-अपने स्वरूप से च्युत नहीं होना ।

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम् ।
मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥२६५॥

(वसंततिलका)

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।
आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम् ॥२६६॥

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

---

(२६५) **श्लोकार्थ**—आत्मज्ञानी मुमुक्षु आत्मा अज्ञानी जनों द्वारा की गई लौकिक भीति को तथा घोर संसार की करने वाली, प्रशस्त और अप्रशस्तरूप वचन रचना को छोड़कर और कनक-कामिनी सम्बन्धी मोह को तजकर मुक्ति प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा में ही आत्मा के द्वारा अविचल स्थिति को प्राप्त होता है ।

(२६६) **श्लोकार्थ**—आत्मप्रवाद नामक पूर्व में कुशल, परमात्म ज्ञानी पशु सदृश-अज्ञानी मनुष्यों के द्वारा किये गए भय को छोड़कर तथा लौकिक जन से संबंधित उस सकल जल्प जाल को भी त्यागकर नित्य सुखदायी ऐसे एक निजतत्त्व को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—जो साधु परकृत निंदा से क्षुब्ध नहीं होते हैं और संसारी जनों से संबंधित लौकिक प्रपंचों से सर्वथा दूर रहते हैं वे ही निर्विकल्प ध्यान के अधिकारी हो सकते हैं तथा वे ही आत्म तत्त्व को सिद्धि कर सकते हैं अन्य नहीं ।

नानाजीवा नानाकर्म नानाविधा भवेल्लब्धिः ।
तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः ।।१५६।।

नाना प्रकार जन नाना विध करम हैं ।
नाना प्रकार लब्धी दिखती जगत में ।।
इस हेतु से स्वमत परमत के जनों से ।
जो भी विवाद वच का सब छोड़ दीजे ।।१५६।।

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम् । जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः त्रसाः स्थावराः । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञयसंज्ञिभेदात् पंच त्रसाः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः । भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता ह्यभव्याः । कर्म नानाविधं द्रव्यभावनोकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्रमंदमंदतरोदयभे-

गाथा १५६

अन्वयार्थ—[**नानाजीवाः**] नाना प्रकार के जीव हैं [**नानाकर्मः**] नाना प्रकार के कर्म हैं, [**नानाविधा लब्धिः**] और नाना प्रकार की लब्धियां हैं [**तस्मात्**] इसलिए [**स्वपर समयैः**] स्व और पर समय सम्बन्धी [**वचनविवादः**] वचन विवाद [**वर्जनीयः**] वर्जित करना चाहिए ।

टीका—यह वचन विषयक व्यापार के अभाव के हेतु का कथन है ।

जीव अनेक प्रकार के हैं, मुक्त और संसारी, भव्य और अभव्य तथा संसारी के त्रस और स्थावर इत्यादि भेद हैं । इनमें भी दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी इन भेदों से त्रस जीव के पांच भेद हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ऐसे स्थावर के भेद हैं ।

भावी काल में स्वाभाविक अनंतचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादिक गुणों से होने योग्य भव्य होते हैं, इनसे विपरीत अभव्य हैं । द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्म के भेद से कर्म अनेक प्रकार के हैं अथवा मूल प्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेदों से अथवा

दाढ्या । जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धिः कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यलाभेदात्, पञ्चधा । ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वादो न कर्तव्य इति ।

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम् ॥२६७॥

लद्धूणं णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्ति ॥१५७॥

तीव्रतर, तीव्र, मंद और मंदतररूप उदय के भेदों से भी अनेक प्रकार के हैं । जीवों के सुखादि की प्राप्ति हेतु लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्य इन भेदों से पांच प्रकार की है । इसलिये परमार्थ ज्ञाताओं को स्व और पर के समय—सम्प्रदायों में विवाद नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी जन जब जीवों के अनेक भेद प्रभेद कर्मों के अनेक प्रकार तथा काललब्धि, उपशमलब्धि, उपदेशलब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ऐसी लब्धियों के स्वरूप को समझ लेते हैं तब वे स्वसम्प्रदाय और परसंप्रदाय के विषयों में विसंवाद न करके परमवीतरागी बन जाते हैं क्योंकि सभी जीव कर्माधिन हैं पुनः उनके विषय में विसंवाद करना ठीक नहीं है ।

[टीकाकार मुनिराज वचन विकल्पों से हटाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(२६७) श्लोकार्थ—जीवों के संसार को करने वाले ऐसे बहुत प्रकार के भेद हैं तथा सदा जन्म के उत्पन्न करने वाले ऐसे कर्म भी अनेक प्रकार के हैं, यह लब्धि भी विमल जिनदेव के शासन में अनेक प्रकार की प्रसिद्ध है इसलिए स्वसमय और परसमयों के साथ वचन विवाद नहीं करना चाहिए ।

लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥१५७॥

कोई मनुष्य जिसविध निधि प्राप्त करके ।
हो गुप्त फल अनुभवे उसका स्वघर में ॥
वैसे हि ज्ञाननिधि ज्ञानी भोगता है ।
संपूर्ण अन्य जन संतति छोड़ करके ॥१५७॥

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः । कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः फलं हि सौजन्यं जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्यानुभवति इति । दृष्टान्तपक्षः । दार्ष्टान्तिपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदासन्नभव्यस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्यां परमगुरुचरणनलिनयुगलनिरतिशयभक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखमकरन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परेषां जनानां स्वरूपविकलानां ततिं समूहं ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति ।

गाथा १५७

अन्वयार्थ—[**एकः निधिं लब्ध्वा**] जैसे कोई निर्धन निधि को पाकर [**सुजनत्वेन**] सुजनरूप से–गुप्तरूप से [**तस्य**] उसके [**फलं अनुभवति**] फल का अनुभव करता है [**तथा**] वैसे ही [**ज्ञानी**] ज्ञानीजन [**परततिं**] परजनों के समुदाय को [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**ज्ञाननिधिं भुंक्ते**] ज्ञाननिधि का अनुभव करता है ।

टीका—यहां पर दृष्टांत की प्रमुखता से सहजतत्त्व की आराधना का विधान कहा है ।

कोई एक दरिद्र प्राणी कहीं पर कदाचित् पुण्य के उदय से निधि को प्राप्त कर उस निधि के फलस्वरूप सौजन्य–जन्मभूमि है ऐसे उस गुप्तस्थान में रहकर अत्यन्त गुप्त रीति से उसका अनुभव करता है यह दृष्टांत हुआ । अब दार्ष्टांत पक्ष में भी सहज परमतत्त्व ज्ञानी जीव कभी आसन्न भव्यता गुण के उदय में सहज वैराग्यरूपी सम्पत्ति के होने पर परम गुरु के चरण कमल युगल की निरतिशय–उत्कृष्ट भक्ति से मुक्ति

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः
लब्ध्वा पुण्यात्कांचनानां समूहम् ।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ।।२६८।।

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा संगं जननमरणातंकहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्धया हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्रूपे
क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः ।।२६९।।

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आलासयं च काऊण ।
अपमत्तपहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा ।।१५८।।

सुन्दरी के मुख की मकरन्द सदृश स्वाभाविक ज्ञानरूपी निधि को प्राप्त करके स्वरूप में शून्य ऐसे अन्यजनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण ऐसा समझकर छोड़ देता है ।

(२६८) **श्लोकार्थ**—इस लोक में कोई एक लौकिकजन पुण्य से कंचन-धन के समूह प्राप्त कर तथा गुप्त होकर रहता है वैसे ही परिग्रह रहित निर्ग्रंथ ऐसा ज्ञानी साधु ज्ञान की रक्षा करता है ।

(२६९) **श्लोकार्थ**—जन्म-मरण रूपी आतंक-व्याधि के कारण ऐसे समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने हृदय कमल में बुद्धि में पूर्ण वैराग्य भाव को करके तथा स्वाभाविक परमानंदमय निराकुलरूप ऐसे अपने स्वरूप में शक्तिपूर्वक स्थित होकर मोह के क्षीण हो जाने पर हम इस लोक को नित्य ही तृण सदृश देखते हैं ।

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा ।
अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः ॥१५८॥

तीर्थंकरादि सब पुरुषों ने इसी विध ।
व्यवहार निश्चय षडावश्यक किया कर ॥
हो अप्रमत्त फिर श्रेणी में पहुंच के ।
श्री केवली जिन हुए उनको नमूं मैं ॥१५८॥

परमावश्यकाधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् । स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यान-स्वरूपं बाह्यावश्यकादिक्रियाप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयपरमावश्यकं साक्षादपुनर्भववारांगनानङ्ग-सुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थंकरपरमदेवादयः स्वयंबुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धाश्चा-प्रमत्तादिसयोगिभट्टारकगुणस्थानपंक्तिमध्यारूढाः सन्तः केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः परमावश्यकात्माराधनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

गाथा १५८

अन्वयार्थ—[**सर्वे पुराण पुरुषाः**] सभी पुराण पुरुष [**एवं**] इसप्रकार से [**आवश्यकं चकृत्वा**] आवश्यक को करके [**अप्रमत्त प्रभृति स्थानं**] अप्रमत्त आदि गुण-स्थानों को [**प्रतिपद्य**] प्राप्त करके [**केवलिनः जाताः**] केवली भगवान् होगये हैं ।

टीका—परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप बाह्य आवश्यक आदि क्रिया से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय परमावश्यक रूप ऐसे साक्षात् अपुनर्भवरूपी रमणी के अनंग-अशरीरी-सुख के कारण को करके सभी पुराण पुरुष जिनमें से तीर्थंकर परमदेव आदि स्वयंबुद्ध हुये हैं और कोई बोधित बुद्ध हुये हैं ये सभी ही अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर सयोग केवली भट्टारक पर्यंत गुणस्थानों की पंक्तियों के मध्य आरूढ़ होते हुए सकल प्रत्यक्ष (केवलज्ञान) धारी केवली भगवान् हुये हैं वे परमावश्यक स्वरूप आत्मा की आराधना के प्रसाद से ही हुये हैं ऐसा समझना ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस अधिकार के उपसंहार में आत्मा की आराधना के लिये प्रेरित करते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।
तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
स स्यात् सर्वजनार्चितांघ्रिकमलः पापाटवीपावकः ॥२७०॥

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम् ।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय ॥२७१॥

---

(२७०) **श्लोकार्थ**—पहले जो सभी पुराण पुरुष योगी अपनी आत्मा की आराधना से अखिल कर्मरूपी राक्षस गणों को ध्वंस करके विष्णु-ज्ञान से तीन लोक में व्यापक और जिष्णु-जयशील हुए हैं। उनको जो मुक्ति की स्पृहा वाला भी निःस्पृह जीव एकाग्रमन से नित्य ही प्रणाम करता है वह पापरूपी अटवी को दग्ध करने में अग्निस्वरूप और सर्वजनों से अर्चित चरण कमल वाला हो जाता है।

भावार्थ—जो भव्य जीव स्वात्मा की आराधना से स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं उनको एकाग्रचित्त से नमस्कार करने वाला भक्त भी स्वयं सर्वजन पूज्य भगवान् बन जाता है।

(२७१) **श्लोकार्थ**—हे मन ! तू निर्मल सुख के लिये परम गुरु से धर्म को प्राप्त करके कनक और कामिनी सम्बन्धी हेयरूप मोह को छोड़कर, नित्यानंदरूप निरुपम गुणों से अलंकृत, दिव्य ज्ञान वाले, अव्यग्ररूप-व्यग्रता (आकुलता रहित) ऐसे परमात्मा में शीघ्र ही प्रवेश कर।

भावार्थ—यहाँ टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव महामुनि अपने मन को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे मन ! यदि तू परमात्मा में तन्मय होगा तो परमात्मा बन जावेगा अन्यथा बाह्य वस्तुओं में उलझा रहने से दुःख ही दुःख उठावेगा।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्यकाधिकार एकादशमः श्रुतस्कन्धः ।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य सदृश, पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय परमावश्यक अधिकार नामका ग्यारहवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ।

[१२]

शुद्धोपयोग अधिकार

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ।

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।
केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥१५९॥

(चालछंद हे दीनबंधु)

श्री केवली भगवान तो व्यवहार नय से ही ।
संपूर्ण वस्तु जानते व देखते सभी ॥
पर शुद्ध निश्चयनय से, वे केवली जिनजी ।
निज आतमा को जानते वा देखते नित ही ॥१५९॥

अब समस्त कर्मों के प्रलय में हेतुभूत ऐसा शुद्धोपयोग अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १५९

अन्वयार्थ—[**व्यवहारनयेन**] व्यवहारनय से [**केवली भगवान्**] केवली भगवान [**सर्वं जानाति पश्यति**] सब कुछ जानते और देखते हैं [**नियमेन**] निश्चयनय से [**केवलज्ञानी**] केवलज्ञानी [**आत्मानं जानाति पश्यति**] आत्मा को जानते और देखते हैं ।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम्। आत्मगुणघातकघातिकर्मप्रध्वंसनेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यवहारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः परमभट्टारकः 'पराश्रितो व्यवहारः' इति वचनात्। शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनीसमुद्भूतमूलध्यानाभावात्* (?) स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च। किं कृत्वा? ज्ञानस्य धर्मोऽयं यावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति; आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।

टीका—ज्ञानी कथंचित् स्वपर प्रकाशक है, ऐसा यहां पर कहा है।

परम भट्टारक भगवान् परमेश्वर आत्म गुणों के घातक घातिकर्म के ध्वंस हो जाने से प्राप्त हुए सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा व्यवहारनय से तीनलोकवर्ती और तीनकालवर्ती ऐसे चराचर सहित द्रव्य गुण पर्यायों को एक समय में जानते हैं और देखते हैं क्योंकि "पराश्रितोव्यवहारः" व्यवहार पराश्रित है। ऐसा वचन है।

शुद्धनिश्चयनय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग के परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि विविध विकल्परूपी सेना की उत्पत्ति के लिये मूल ऐसे ध्यान का अभाव हो जाने से वे भगवान् तीनों काल में उपाधि रहित, अवधि रहित, नित्य, शुद्ध, सहज ज्ञान और सहज दर्शन के द्वारा निज कारण परमात्मा को स्वयं कार्य परमात्मा होते हुए भी जानते और देखते हैं। क्या करके जानते देखते हैं? ज्ञान का धर्म ही तो स्वपर प्रकाशकपना है प्रदीप के समान। घटादि के जानने रूप क्रिया से प्रकाशरूप दीपक भिन्न होते हुए भी स्वयं प्रकाशरूप होने से अपने को और

---

* यहां संस्कृत टीका में अशुद्धि मालूम होती है, इसलिये संस्कृत टीका में तथा उसके अनुवाद में शंका को सूचित करने के लिये प्रश्नवाचक चिह्न दिया है।

उक्तं च षण्णवतिपाषंडिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः—

(अनुष्टुभ्)

"यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक् ।।"

अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्येवेति सततनिरुपरागनिरंजनस्वभावनिरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात् । सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतःकारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति ।

परको प्रकाशित कर देता है । उसी प्रकार से आत्मा भी ज्योतिःस्वरूप होने से व्यवहारनय से त्रिलोक और त्रिकालरूप परको तथा स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को प्रकाशित करता है ।

छ्यानवे पाखंडि मतों पर विजय प्राप्त करने से उपार्जित की है विशालकीर्ति जिन्होंने ऐसे महासेन पंडित देव ने भी ऐसे ही कहा है—

श्लोकार्थ—"यथार्थरूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति—जाननेरूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है ।"

अब निश्चयनय के पक्ष में भी (ज्ञान के) स्वपर प्रकाशकपना है ही है, क्योंकि वह उपराग रहित निरंजन स्वभाव में निरत है । तथा—"स्वाश्रितो निश्चयः" निश्चय स्वाश्रित है ऐसा वचन है । उसीको कहते हैं—सहजज्ञान, संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से आत्मा से भिन्न है क्योंकि भिन्न नाम और भिन्न लक्षण आदि से लक्षित हो रहा है तथापि वह सहजज्ञान भिन्न लक्षण आदि से लक्षित होते हुए भी परमार्थ से भिन्न नहीं है । इसलिये यह (सहज ज्ञान) आत्मा में होने वाले दर्शन, सुख चारित्र आदि को जानता है और कारण परमात्मास्वरूप ऐसी अपनी आत्मा को भी जानता है । ऐसा अर्थ हुआ ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मंदाक्रांता)

"बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोत्यन्तगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ।।"

तथा हि—

(सग्धरा)

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति ।

उसीप्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—'अपनी अचल महिमा में लीन हुआ पूर्ण ज्ञान जाज्वल्यमान हो रहा है, जो कि कर्म बंध के विच्छेद से अतुल और अक्षय ऐसे मोक्ष का अनुभव करता हुआ नित्य उद्योतरूप सहजावस्था को प्रकटित करता हुआ एकांत से—सर्वथा शुद्ध है, और एकाकाररूप स्वरस के भार से अत्यन्त गम्भीर तथा धीर है।"

भावार्थ—जब कर्म बंध का अभाव हो जाता है तब ज्ञान उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट होता हुआ पूर्णरूप प्रकट हो जाता है और अपने स्वभाव में ही लीन रहता है।

उसीप्रकार से [टीकाकार श्री मुनिराज इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

(२७२) **श्लोकार्थ**—यह केवलज्ञान की मूर्तिस्वरूप आत्मा व्यवहारनय से सदा ही विश्व को जानता है, और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुखकमल पर

---

१. समयसार कलश–१६२

शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्वेदवो जिनेशः
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहृतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ॥२७२॥

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा।
दिनकरप्रकाशतापौ यथा वर्तेते तथा ज्ञातव्यम् ॥१६०॥

अर्हंत केवली के, ये ज्ञान व दर्शन।
दोनों सदा करें ही इकसाथ में वर्तन॥
रवि का प्रकाश औ प्रताप साथ ही जैसे।
होते सदा प्रभू के ज्ञान दर्श भी वैसे॥१६०॥

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तम्। अत्र दृष्टान्त-

---

काम पीड़ा को तथा सौभाग्यचिह्न युक्त शोभा को विस्तृत करता है। निश्चयनय से वह देव जिनेश्वर मल और क्लेश को नष्ट करने वाला होता हुआ अतिशयरूप से अपने स्वरूप को ही जानता है।

भावार्थ—केवलज्ञानी आत्मा व्यवहारनय से समस्त विश्व को जानता है और निश्चयनय से अपने स्वरूप को ही जानता है।

गाथा १६०

अन्वयार्थ—[**केवलज्ञानिनः**] केवलज्ञानी के [**ज्ञानं तथा च दर्शनं**] ज्ञान और दर्शन [**युगपद्**] युगपत् [**वर्तते**] होते हैं, [**यथा**] जैसे [**दिनकर प्रकाश-तापौ**] सूर्य के प्रकाश और ताप [**वर्तते**] युगपत् रहते हैं [**तथा ज्ञातव्यं**] वैसे ही जानना चाहिये।

टीका—यहां पर केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत् रहना यह कथन दृष्टांतमुख से किया है।

यथा क्वचित्काले बलाहकप्रक्षोभाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तेते तथैव च भगवतः परमेश्वरस्य तीर्थाधिनाथस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपर्यायात्मकेषु ज्ञेयेषु सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तेते। किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

"णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं॥"

अन्यच्च—

यहां पर दृष्टांत के पक्ष में किसी काल में मेघ के प्रक्षोभ का अभाव होने पर—बादलों के न होने पर आकाश स्थल के मध्य में स्थित हुये भास्कर के प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं। उसी प्रकार से तीर्थाधिनाथ भगवान परमेश्वर के तीनों जगत् और तीनों कालवर्ती स्थावर और जंगम रूप द्रव्य गुण पर्यायात्मक ज्ञेय पदार्थों में सकल विमल केवलज्ञान और केवल दर्शन एक साथ होते हैं, और विशेष यह है कि संसारी जीवों के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है, ऐसा समझना।

इसी प्रकार से प्रवचनसार में भी कहा है—

"गाथार्थ—ज्ञान[1] पदार्थों के अंत को प्राप्त हो चुका है और दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो गया है पुनः जो इष्ट है वह सब उपलब्ध हो गया है।"

और अन्य भी है—

---

१. प्रवचनसार गाथा-६१

"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोण्णि ।।"

तथा हि—

(अनुष्टुभ)

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हृतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम् ।।२७३।।

(वसंततिलका)

सद्बोधपोतमधिरुह्य भवाम्बुराशि-
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।

"गाथार्थ—छद्मस्थ[1] जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि उनके युगपत् दो उपयोग नहीं होते हैं। और केवली भगवान के वे दोनों उपयोग युगपत् ही होते हैं।"

उसी प्रकार से [श्री टीकाकार मुनिराज केवलज्ञानी भगवान की चरण शरण को ग्रहण करते हुये चार श्लोक कहते हैं—]

(२७३) श्लोकार्थ—धर्मतीर्थ के अधिपति, विश्वलोक के एक नाथ असदृश-लोकोत्तर ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान् में सतत् सब तरफ से ज्ञान और दर्शन युगपत् रहते हैं। जैसे अखिल तिमिर समूह को नष्ट करने वाले, तेज के पुंज स्वरूप, इस सूर्य में ये उष्णत्व और प्रकाश एक साथ इस लोक में जगत के जीवों के नेत्र गोचर होते हैं। उसी प्रकार से वे ज्ञान और दर्शन भी केवली के युगपत् प्रगट होते हैं।

(२७४) श्लोकार्थ—हे देव ! आप सद्बोधरूपी जहाज में बैठकर संसाररूपी समुद्र को उलंघ कर सहसा शाश्वतपुरी में पहुंच गये हैं। अब मैं भी उस जिननाथ के

---

१. द्रव्यसंग्रह गाथा-४४

तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ।।२७४।।

(मंदाक्रांता)

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव काचित् ।
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानंगसौख्यप्रदायाः
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ।।२७५।।

(अनुष्टुभ्)

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मे जगाम सः ।
अलिलीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम् ।।२७६।।

मार्ग से उसी शाश्वतनगरी को प्राप्त करता हूं । क्योंकि इस लोक में उत्तम पुरुषों के लिये क्या अन्य कुछ (उस मार्ग से अतिरिक्त) शरण है ?

भावार्थ—जिनराज ने जिस ज्ञान के आश्रय से संसार से निकलकर मुक्ति को प्राप्त किया है उस मार्ग के अतिरिक्त मार्ग से कोई भी जीव मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये उसी जिनदेव के मार्ग की शरण लेना चाहिये ।

(२७५) श्लोकार्थ—केवलज्ञान भानु ऐसे वे एक देव जिनदेव जयशील हो रहे हैं । वे समरसमयी अनंग सौख्य को प्रदान करने वाली ऐसे उस मुक्ति सुन्दरी के मुखकमल पर इच्छानुसार किसी एक अद्भुत कांति को विस्तृत करते हैं, क्योंकि कौन अपनी स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर सुख देने में समर्थ नहीं होगा ?

(२७६) श्लोकार्थ—उन जिनेन्द्रदेव ने मुक्ति कामिनी के मुखकमल के प्रति भ्रमर की लीला को धारण किया, पुनः यथेष्ट अद्वितीय अनंग–आत्मिक सुख को प्राप्त किया ।

णाणं परप्पयासं, दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव ।
आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ॥१६१॥

एकांत से यदि ज्ञान ये परको हि प्रकाशे ।
दर्शन भी यदि आत्मा को मात्र प्रकाशे ॥
आत्मा स्वपर प्रकाशी है मान्यता यही ।
तब तो सुनो जो दोष इसमें आवते सही ॥१६१॥

आत्मनः स्वपर प्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोयम् । इह हि तावदात्मनः स्वपर-प्रकाशकत्वं कथमिति चेत् । ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्म-प्रकाशकासमर्थत्वात् परप्रकाशकमेव, यद्येवं दृष्टिर्निरंकुशा केवलमभ्यंतरे ह्यात्मानं प्रकाश-यति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शन-शुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्त्वत्तस्सकाशादपरः कश्चिज्जनः । अथ ह्यविरुद्धा

गाथा १६१

अन्वयार्थ—[**ज्ञानं पर प्रकाशं च**] ज्ञान परप्रकाशी है और [**दृष्टिः आत्मप्रकाशिका एव**] दर्शन आत्म प्रकाशी ही है तथा [**आत्मा स्वपरप्रकाशः भवति**] आत्मा स्व और पर का प्रकाशक होता है, [**यदि इति हि खलु मन्यसे**] यदि तुम ऐसा ही निश्चित मानते हो, तो ठीक नहीं है ।

यह आत्मा के स्वपर प्रकाशकपने के विरोध का कथन है । प्रथम ही यहां आत्मा को स्वपर प्रकाशकपना किस प्रकार है ? आत्मा ज्ञान दर्शनादि विशेष गुणों से समृद्ध है, उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से परप्रकाशक ही है, यदि ऐसी बात है तो दर्शन निरंकुश हुआ केवल अभ्यंतर में ही आत्मा को प्रकाशित करता है और इस विधि से आत्मा ही स्वपर प्रकाशक है, इसप्रकार मानने पर तो हे जड़मति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शन शुद्धि के अभाव से ऐसा मानता हो तो वास्तव में तुझसे भिन्न अन्य कोई पुरुष जड़ नहीं है, अर्थात् तू ही मूर्ख है ।

स्याद्वादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतम् तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति; न केवलं स्यान्मते दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति । दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्मा-णामाधारो ह्यात्मा । व्यवहारपक्षेपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न चात्मसंबन्धः सदा बहिरवस्थितत्वात्, आत्मप्रतिपत्तेरभावात् न सर्वगतत्वं; अतःकारणाविदं ज्ञानं न भवति, मृगतृष्णाजलवत् प्रतिभासमात्रमेव । दर्शनपक्षेऽपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिप त्तिकारणं दर्शनं भवति । सदैव सर्वं पश्यति हि चक्षुः स्वस्याभ्यन्तरस्थितां कनीनिकां न पश्यत्येव । अतः स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव । ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

इसलिये सत् पुरुषों को अविरुद्ध स्याद्वाद विद्या देवता की सम्यक् प्रकार से अर्चना—आराधना करनी चाहिये, उस स्याद्वाद में एकांत से ज्ञान को पर प्रकाशकता नहीं है, स्याद्वादमत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता है। क्योंकि आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है ।

व्यवहार पक्ष में भी केवल परप्रकाशीज्ञान का आत्मा के साथ संबंध नहीं रहेगा, क्योंकि सदा वह बाहर ही स्थित रहेगा, तथा आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से वह सर्वगत भी नहीं रहेगा और इस कारण से यह ज्ञान ही नहीं होगा प्रत्युत मृग-तृष्णा के जल सदृश प्रतिभास मात्र ही रहेगा । दर्शन के पक्ष में भी कहते हैं कि उसी प्रकार से दर्शन भी केवल अभ्यंतर के ज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि चक्षु सदा ही सब देखती है, किन्तु अपने भीतर में स्थित हुई कनीनिका—पुतली को नहीं देखती है । इसलिये ज्ञान और दर्शन इन दोनों में स्वपर प्रकाशपना अविरुद्ध ही है । इस हेतु से ज्ञान दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही स्वपर प्रकाशक है, ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से श्रीमान् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

(स्रग्धरा)

"जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
तेनात्यंतं विकास प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्वतं ज्ञेयजालम् ।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥२७७॥

णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णि दं तम्हा ॥१६२॥

"श्लोकार्थ—जिसने कर्मों को छिन्न कर दिया है, ऐसा वह आत्मा, भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्व को युगपत् जानता हुआ भी मोह के अभाव से पररूप परिणत नहीं होता है । इसलिये जिसने अत्यन्त विकसित हुई ज्ञप्ति के विस्तार से समस्त ज्ञेयाकारों को पी लिया है । ऐसे तीन लोक संबंधी पदार्थों को पृथक् और अपृथक् उद्योतित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।"

उसी प्रकार से [अब टीकाकार मुनिराज इसी को स्पष्ट करते हुये कहते हैं—]

(२७७) **श्लोकार्थ**—ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोकालोक को अथवा उसके समस्त ज्ञेय जाल को प्रगटित करता है । और नित्य शुद्ध, क्षायिक दर्शन भी साक्षात् स्वपर को विषय करता है । उन दोनों के द्वारा यह देव (आत्मा) स्वपर विषयक ज्ञेय समूह को जानता है ।

ज्ञानं परप्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६२॥

यदि मात्र परप्रकाशक ये ज्ञान है तब तो ।
इस ज्ञान से वो दर्शन होवेगा भिन्न तो ॥
क्योंकि तुम्हारे मत से दर्शन स्वगत-रहे ।
नहिं परप्रकाश करता परद्रव्यगत न है ॥१६२॥

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियम् । केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य चात्मप्रकाशकस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्यविंध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत् । आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव, निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्यशून्यतापत्तिरेव, अथवा अत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते, अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः

गाथा १६२

अन्वयार्थ—[**ज्ञानं पर प्रकाशं**] ज्ञान परप्रकाशी है [**तदा**] तब तो [**ज्ञानेन दर्शनं भिन्नं**] ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध हुआ, [**दर्शनं परद्रव्यगतं न भवति**] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत—परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं होता है [**इति वर्णितं तस्मात्**] ऐसा पूर्व में वर्णन किया है ।

टीका—पूर्व सूत्र में कथित पूर्वपक्ष का यह सिद्धान्त संबंधी कथन है ।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशी होवे तो परप्रकाशन में प्रधान ऐसे इस ज्ञान से दर्शन भिन्न ही रहेगा । और यदि ऐसा है तो परप्रकाशी ज्ञान और स्वप्रकाशी दर्शन का संबंध कैसे होगा ? जैसे कि सह्य और विंध्य पर्वत का अथवा भागीरथी और श्रीपर्वत का संबंध नहीं है ।

जो आत्मा में स्थित है वह दर्शन ही है, तब तो निराधार होने से उस ज्ञान को शून्यता की ही आपत्ति होती है । अथवा जहां, जहां ज्ञान जावेगा, वे वे सभी द्रव्य चेतनरूप हो जावेंगे, अतः त्रिभुवन में कोई अचेतन पदार्थ नहीं सिद्ध होगा, ऐसा इस

पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यसे हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्यभिहितम् । ततः खल्विदमेव समाधानं सिद्धान्तहृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपंडितदेवैः—

"ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्टयोः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन बह्वक्षणवत्सः ।।२७८।।

महान दूषण का प्रसंग हो जावेगा । इस दोष के भय से यदि तुम ऐसा कहो कि ज्ञान केवल परप्रकाशी नहीं है तब तो हे शिष्य ! दर्शन भी केवल आत्मगत नहीं है, ऐसा ही कहना होगा । इसलिये निश्चितरूप से यही समाधान सिद्धांत के रहस्यरूप है कि ज्ञान और दर्शन कथंचित् स्वपरप्रकाशी हैं ही हैं ।

उसीप्रकार से श्री महासेन पंडित देव ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—ज्ञान से आत्मा न भिन्न है और न अभिन्न है किंतु कथंचित् भिन्नाभिन्न है, क्योंकि पूर्व और अपर—दोनों अवस्थाओं में व्याप्त हुआ जो ज्ञान है, सो यह आत्मा है ऐसा कहा गया है ।"

उसीप्रकार से [अब टीकाकार मुनिराज इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

(२७८) श्लोकार्थ—आत्मा (एकांत से) ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार दर्शन भी नहीं है, किंतु उन दोनों से युक्त हुआ वह स्वपर विषय को जानता और देखता अवश्य है,

अप्पा परप्पयासो, तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।।१६३।।

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ।।१६३।।

आत्मा है पर प्रकाशक यदि आपका ये मत ।
तो आत्मा से दर्शन होगा स्वयं पृथक् ।।
क्योंकि तुम्हारा दर्शन नहिं पर प्रकाशता ।
ऐसी तुम्हीं ने पहले रक्खी थी मान्यता ।।१६३।।

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोयम् । यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतम्, इदानीमात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तथैव प्रत्यादिष्टं *भावभाववतो-रेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वात् । पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातम् । अत्रात्मनः परप्रकाशकत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम् । अपि चात्मा

पाप समूह के हरण करने वाले ऐसे आत्मा में संज्ञा के भेद से ज्ञान और दर्शन में भेद हो गया है, किंतु परमार्थ से अग्नि और उष्णता के समान वह भेद नहीं है ।

गाथा १६३

अन्वयार्थ—[**आत्मा परप्रकाशः**] यदि आत्मा परप्रकाशी है [**तदा**] तब तो [**आत्मना दर्शनं भिन्नं**] आत्मा से दर्शन भिन्न हो जावेगा [**दर्शनं परद्रव्य-गतं न भवति**] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है । [**इति वर्णितं तस्मात्**] ऐसा पूर्व सूत्र में वर्णन किया गया है ।

टीका—एकांत से आत्मा के परप्रकाशकत्व का यह निरसन है । जिसप्रकार पहले एकांत से ज्ञान के परप्रकाशकत्व का निराकरण किया है, वैसे ही अब यदि "आत्मा केवल परप्रकाशी है" तो उसका उसीप्रकार खण्डन हो जाता है, क्योंकि भाव और भाववान् एक अस्तित्व से बने हैं । पहले ज्ञान को परप्रकाशक मानने पर उससे दर्शन को भिन्न कहा है और यहां पर आत्मा को परप्रकाशक कहने पर उससे ही दर्शन

---

* यहाँ कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

न परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम् । ततः खल्वात्मा स्वपरप्रकाशक इति यावत् । यथा कथंचित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पावकोष्णवदिति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम् ।
सम्यग्दृष्टिर्निखिलकरणग्रामनीहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ॥२७९॥

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

भिन्न हो जावेगा, ऐसा समझना चाहिये । और यदि "आत्मा परद्रव्यगत नहीं है" ऐसा कहोगे तो दर्शन भी अभिन्न ही रहेगा ऐसा समझना चाहिये । अर्थात् आत्मा को स्वपरप्रकाशी कहने से दर्शन को भी आत्मा से अभिन्न ही कहना चाहिये । इसलिये आत्मा निश्चितरूप से स्वपरप्रकाशक है, ऐसा समझना । जैसे कथंचित् ज्ञान को स्वपरप्रकाशी सिद्ध किया है वैसे ही आत्मा को समझना, क्योंकि धर्म और धर्मी एक स्वरूप हैं, अग्नि और उष्णता के समान । अर्थात्—आत्मा धर्मी है, क्योंकि वह अतिशयरूप से ज्ञान और दर्शन से युक्त है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुनरपि धर्म और धर्मी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

(२७९) **श्लोकार्थ**—आत्मा धर्मी है, क्योंकि वह अतिशयरूप से ज्ञान और दर्शन से युक्त है उसमें ही नित्य उस अविचल स्थिति को प्राप्त करके, अखिल इन्द्रिय समूहरूपी हिम के लिये सूर्य स्वरूप सम्यग्दृष्टि 'जीव' प्रगट हुयी सहज अवस्था से सुस्थित ऐसे उस मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६४॥

अतएव अब समझ लो व्यवहार नय से यह ।
है ज्ञान परप्रकाशी दर्शन उसी तरह ॥
व्यवहार नय से आत्मा पर को प्रकाशता ।
दर्शन भी तो वैसे ही पर को प्रकाशता ॥१६४॥

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनमाह । इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादित-सकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्यायप्रकरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत् पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् व्यवहारनयबलेनेति । ततो दर्शनमपि तादृशमेव । त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थंकरपरमदेवस्य शतमखशतप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य कार्यपरमात्मनश्च तद्वदेव परप्रकाशकत्वम् । तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवतः केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति ।

गाथा १६४

अन्वयार्थ—[**व्यवहारनयेन**] व्यवहार नय से [**ज्ञानं परप्रकाशं**] ज्ञान परप्रकाशी है [**दर्शनं तस्मात**] इसलिये दर्शन भी परप्रकाशी है, [**व्यवहारनयेन**] व्यवहार नय से [**आत्मा परप्रकाशः**] आत्मा परप्रकाशी है [**दर्शनं तस्मात्**] अतः दर्शन भी परप्रकाशी है ।

टीका—व्यवहारनय की सफलता को प्रकाशित करते हुए कहते हैं ।

प्रश्न—यहाँ जो सकल कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाला सकल विमल केवल ज्ञान है वह पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतनरूप परद्रव्य और उनकी गुण-पर्यायों के समूह का प्रकाशक कैसे है ?

उत्तर—"पराश्रितो व्यवहारः" (असद्भूत) व्यवहार पराश्रित है, इस वचन से व्यवहारनय की अपेक्षा से ऐसा है, इसलिये दर्शन भी वैसा ही है और उसी-प्रकार से सौ इंद्रों से प्रत्यक्ष में वंदना योग्य, ऐसे त्रैलोक्य में प्रक्षोभ के लिये कारण-

तथा चोक्तं श्रुतबिन्दौ—

(मालिनी)

"जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः ।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
समभिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम् ॥"

तथा हि—

भूत तीर्थंकरपरमदेव जो कि कार्य परमात्मा हैं वे भी परप्रकाशक हैं। उसी व्यवहार नय के बल से वास्तव में उन भगवान का केवलदर्शन भी वैसा ही है।

इसीप्रकार मे 'श्रुतबिंदु' में भी कहा है—

"श्लोकार्थ—जिन्होंने दोषों को जीत लिया है, देवेन्द्र और नरेन्द्रों के मुकुटों में लगे हुये प्रकाशशील अनर्घ्य मालाओं से अर्चित हैं चरणयुगल जिनके ऐसे जिनेन्द्र भगवान जयवंत हो रहे हैं। विषयों में परस्पर में प्रवेश न करते हुये ऐसे तीनों लोक और अलोक जिनमें युगपत् ही व्याप्त हो रहे हैं।"

भावार्थ—जिनके ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक और अलोक एवं उनके चेतन-अचेतन पदार्थ परस्पर में एक दूसरे में प्रवेश न करके अथवा ज्ञान ज्ञेय में और ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश न करके एक साथ झलक रहे हैं ऐसे महिमाशाली शतेन्द्र पूजित, निर्दोष जिनेन्द्र भगवान सदा जयशील हैं।"

उसीप्रकार [श्री टीकाकार मुनिराज ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—]

---

१. यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६५॥

ये ज्ञान निश्चय नय से आतमा को जानता ।
वैसे ही ये दर्शन भी आतमा प्रकाशता ॥
आत्मा भी निश्चयनय से आतम प्रकाशता ।
दर्शन भी तो वैसे ही आत्मा प्रकाशता ॥१६५॥

---

(२८०) श्लोकार्थ—ज्ञानपुंज स्वरूप यह आत्मा अत्यन्त प्रगट दर्शन वाला होता हुआ व्यवहारनय से सर्वलोक को देखने वाला है तथा समस्त मूर्तिक अमूर्तिक ऐसे तत्त्वार्थ समूह को जानता हुआ वह परम लक्ष्मी रूपी कामिनी का प्रिय वल्लभ हो जाता है ।

भावार्थ—आत्मा के दर्शन और ज्ञान ये भेद सद्भूत व्यवहारनय से ही हैं निश्चयनय से तो यह अखण्ड एक ही है ।

गाथा १६५

अन्वयार्थ—[**निश्चयनयेन**] निश्चयनय से [**ज्ञानं**] ज्ञान [**आत्मप्रकाशं**] आत्म प्रकाशी है, [**दर्शनं तस्मात्**] दर्शन भी उसीप्रकार आत्म प्रकाशी है । [**निश्चयनयेन**] निश्चयनय से [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मप्रकाशः**] आत्मप्रकाशी है, [**दर्शनं तस्मात्**] दर्शन भी वैसा ही है ।

निश्चयनयेन स्वरूपाख्यानमेतत् । निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिहाभिहितं तथा सकलावरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्तबहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव । इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहजशुद्धज्ञानदर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजंगमात्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्यायविषयेषु *आकाशाप्रकाशकादि[प्रकाशाप्रकाशकादि]विकल्पविदूरस्थान् स्वस्वरूपे *संज्ञालक्षणप्रकाशतया निरवशेषेणान्तर्मुखत्वादनवरतम् अखंडाद्वैतचिच्चमत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैषः ।

टीका—यह निश्चयनय की अपेक्षा स्वरूप का कथन है ।

यहां निश्चयनय से शुद्धज्ञान को स्वप्रकाशक लक्षण वाला कहा है, उसीप्रकार से सकल आवरण से रहित शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशकरूप ही है । निश्चितरूप से आत्मा सकल इंद्रियों के व्यापार से मुक्त होने से स्वप्रकाशक लक्षण से लक्षित ही है और दर्शन भी बाह्य विषयों से रहित होने से स्वप्रकाशकत्व प्रधान ही है । इसप्रकार स्वरूप को प्रत्यक्ष करने रूप लक्षण से लक्षित अक्षुण्ण—अखंड सहज शुद्ध ज्ञान दर्शनमय होने से निश्चय से जगत्त्रय, कालत्रयवर्ती स्थावर जंगमरूप समस्त द्रव्य गुण और पर्यायरूप विषयों में आकार प्रकाशक आदि विकल्पों से अति दूर रहता हुआ अपने स्वरूप में सम्यक् अनुभव लक्षण प्रकाश के द्वारा निरवशेषरूप से अंतर्मुख होने से सतत अखण्ड, अद्वैत चिच्चमत्कार मूर्ति स्वरूप आत्मा रहता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज ज्ञानदर्शनमयी आत्मा की महिमा बतलाते हुए कहते हैं—]

(२८१) श्लोकार्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान निश्चय से स्वप्रकाशात्मक है । जो दर्शन है वह भी साक्षात् बाह्य आलंबन को नष्ट कर चुका है, यह आत्मा इस दर्शनरूप भी है । ऐसा यह आत्मा एकाकाररूप निजरस के विस्तार से

---

* यहां कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ।।२८१।।

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ।।१६६।।

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान् ।
यदि कोपि भणत्येवं तस्य च किं दूषणं भवति ।।१६६।।

भगवान् केवली यदि आतम स्वरूप को ।
बस देखते हैं किन्तु नहिं लोक अलोक को ।।
यदि आप ऐसा कहते तो सत्य ये नहीं ।
इसमें अनेक दूषण क्या हैं सुनो वही ।।१६६।।

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम् । व्यवहारेण पुद्गलादित्रिकाल-विषयद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलावबोधमयत्वादि विविध-

---

परिपूर्ण भरित पवित्र है और पुराण–सनातन है । यह नित्य ही निर्विकल्प महिमारूप अपने आपमें निश्चितरूप से वास करता है ।

गाथा १६६

अन्वयार्थ—[**केवली भगवान्**] केवली भगवान् [**आत्मस्वरूपं पश्यति**] आत्मा के स्वरूप को देखते हैं [**न लोकालोकौ**] किंतु लोकालोक को नहीं, [**एवं यदि कः अपि भणति**] ऐसा यदि कोई भी कहता है तो [**तस्य च किं दूषणं भवति**] उसके लिये क्या दूषण है ?

टीका—शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से परके अन्य पदार्थों के देखने का यह निराकरण है ।

व्यवहारनय से तीनों काल सम्बन्धी पुद्गल आदि द्रव्यों को और उनकी गुण पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ सकल विमल केवलज्ञानमयत्व आदि विविध

महिमाधारोऽपि स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात् केवलस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानंदमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चय नयविवक्षया यः कोपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्तःशुद्धयावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नेव ग्रहणविरहति व्यावहारप्रपंचः ॥२८२॥

महिमाओं के धारी होते हुए भी तथा वे भगवान केवलदर्शनरूप तृतीय लोचन वाले होते हुए भी परम निरपेक्षता के कारण निश्चयनय से परिपूर्ण तथा अंतर्मुख होने से केवल स्वरूप के प्रति प्रत्यक्ष मात्र के व्यापार में लीन हुए निरंजन निज सहज दर्शन के द्वारा सच्चिदानंदमय आत्मा को देखते हैं । इसप्रकार शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से जो कोई भी शुद्ध चैतन्यतत्त्व के ज्ञाता परम जिन योगीश्वर कहते हैं उस कथन में वास्तव में दूषण नहीं है ।

भावार्थ—नय की विवक्षा से इस कथन में कोई दोष नहीं है । अथवा क्या दूषण आता है सो आगे दो गाथाओं से दिखाते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस बात को स्पष्ट करते हुए कलश काव्य कहते हैं —]

(२८२) श्लोकार्थ—यह आत्मा अपनी अन्तरङ्ग शुद्धि का आवास होने से महिमा के आधारभूत अत्यन्त धीर और स्वात्मा में अतिशयतया अविचलरूप से सर्वदा आभ्यंतर में निमग्न ऐसे एक विशुद्ध सहज परमात्मा को देखता है । क्योंकि स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यावहारिक प्रपंच है ही नहीं ।

भावार्थ—यहां ज्ञान, दर्शन या आत्मा में जो स्वस्वरूप के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है वह निश्चयनय से है और जो परवस्तु के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है वह व्यवहारनय से

मुत्तममुत्तं दव्वं, चेयणमियरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६७॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च ।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति ॥१६७॥

मूर्तिक अमूर्त चेतन और जड़ हैं द्रव्य जो ।
निजपर स्वरूप जो भी संपूर्ण वस्तु को ॥
जो देख रहें नित ही उनका ही ज्ञान वो ।
प्रत्यक्ष व अतीन्द्रिय माना गया है वो ॥१६७॥

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत् । षण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य पंचानाम् अमूर्तत्वम्, चेतनत्वं जीवस्यैव पंचानामचेतनत्वम् । मूर्तामूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषं त्रिकालविषयम् अनवरतं पश्यतो भगवतः श्रीमदर्हत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति ।

है । अतः स्व की अपेक्षावाला—स्वाश्रित निश्चय है और पर की अपेक्षावाला पराश्रित व्यवहार है । ऐसी विवक्षा शैली से ही ऐसा कथन है ।

गाथा १६७

अन्वयार्थ—[**मूर्तं अमूर्तं**] मूर्तिक अमूर्तिक, [**चेतनं इतरत्**] चेतन और अचेतन [**द्रव्यं**] द्रव्यों को [**स्वकं च सर्वं**] अपने को तथा समस्त को [**पश्यतः तु**] देखने वाले का [**ज्ञानं**] ज्ञान [**अतीन्द्रियं प्रत्यक्षं भवति**] अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है ।

टीका—यह केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है ।

छहों द्रव्यों में से पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है शेष पांचों द्रव्य अमूर्तिक हैं और जीव ही चेतन है शेष पांचों द्रव्य अचेतन हैं । इन तीन काल सम्बन्धी मूर्तिक, अमूर्तिक, चेतन, अचेतन, स्वद्रव्य आदि अशेष को सतत देखते हुए श्रीमान् अर्हंत परमेश्वर भगवान् के क्रम और इन्द्रियों के व्यवधान से रहित अतीन्द्रिय ऐसा सकल विमल केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

"जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ प्रथमरखिलं ज्ञेयमन्येतनं च ।
तार्तीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ।।२८३।।

इसीप्रकार से प्रवचनसार में भी कहा है—

"गाथार्थ—[1]देखने वाले का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय को और प्रच्छन्न को इन सबको, स्व को तथा पर को भी देखता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।"

भावार्थ—जो सर्वदर्शी भगवान् अमूर्तिक पदार्थों को, मूर्तिक पुद्गल में भी अविभागी परमाणु जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों को तथा प्रच्छन्न—काल और देश से अत्यन्त परोक्ष ऐसे राम रावण आदि और हिमवान् सुमेरु आदि पदार्थों को, अपनी आत्मा को और संपूर्ण लोकालोक को स्पष्ट देखते हैं, इसलिये उनका ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज भी अतीन्द्रिय ज्ञानी की स्तुति करते हुए कहते हैं—]

(२८३) **श्लोकार्थ**—केवलज्ञान नामका जो तीसरा एक अन्य नेत्र है, उसी नेत्र के द्वारा ये प्रसिद्ध महिमाशाली, त्रिभुवन गुरु, शाश्वत अनंतधाम में निवास करने

---

१. प्रव. गाथा ५४.

पुव्वुत्तसयलदव्वं, णाणागुणपज्जएण संजुत्तं ।
जो ण य पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६८॥

पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम् ।
यो न च पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य ॥१६८॥

जो पूर्व में कहे हैं संपूर्ण द्रव्य भी ।
नाना गुणों व नाना पर्याय युक्त भी ॥
स्पष्ट रूप से जो नहिं देखते उन्हें ।
उनका परोक्ष दर्शन प्रत्यक्ष नहिं बने ॥१६८॥

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम् । पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादिद्रव्यं समस्तगुणपर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्याचेतनगुणाः, अमूर्तस्यामूर्तगुणाः, चेतनस्य चेतनगुणाः षड्ढानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः

वाले तीर्थनाथ जिनेन्द्र भगवान् लोकालोक को, स्व परको तथा चेतन और अचेतन ऐसे अखिल पदार्थ को सम्यक् प्रकार से जानते हैं ।

गाथा १६८

अन्वयार्थ—[**नाना गुणपर्यायेण**] नाना गुण पर्यायों से [**संयुक्तं पूर्वोक्तसकलद्रव्यं**] संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को [**यः च**] जो [**सम्यक् न पश्यति**] सम्यक् प्रकार से नहीं देखता है, [**तस्य**] उसके [**परोक्षदृष्टिः भवेत्**] परोक्ष दर्शन होता है ।

टीका—केवलदर्शन के अभाव से सर्वज्ञता नहीं है, ऐसा यहां पर कहा है ।

पूर्व सूत्र में कथित मूर्तादि द्रव्य समस्त गुण और पर्यायों से सहित हैं । मूर्तद्रव्य के मूर्तगुण हैं, अचेतन के अचेतन गुण हैं, अमूर्त के अमूर्त गुण हैं, चेतन के चेतन गुण हैं । छह प्रकार की हानि और वृद्धिरूप सूक्ष्म परमागमरूप प्रमाण से स्वीकार

अर्थपर्यायाः षण्णां द्रव्याणां साधारणाः, नरनारकाविव्यंजनपर्याया जीवानां पंचसंसार-प्रपंचानां, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्यायाः, चतुर्णां धर्मादीनां शुद्ध-पर्यायाश्चेति, एभिः संयुक्तं तद्द्रव्यजालं यः खलु न पश्यति, तस्य संसारिणामिव परोक्षदृष्टिरिति ।

(वसंततिलका)

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी ।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥१५६॥

लोयालोयं जाणइ, अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

करने योग्य अर्थ पर्यायें हैं जो कि छहों द्रव्यों में साधारण हैं, नर नारकादि व्यंजन पर्यायें हैं, जो कि पांच प्रकार के संसार प्रपंच-परिवर्तन से सहित ऐसे जीवों के होती हैं । पुद्गलों के स्थूल-स्थूल आदि स्कंध पर्यायें हैं और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन चार द्रव्यों में शुद्ध पर्यायें ही होती हैं, इन गुण पर्यायों से संयुक्त उन द्रव्य समूहों को जो वास्तव में नहीं देखते हैं, उनके, संसारी जीवों के समान परोक्षरूप दर्शन होता है । अर्थात् जो बाह्य पदार्थों को नहीं देखते हैं उनका दर्शन परोक्ष ही है अतः वे सर्वज्ञ भी नहीं हो सकते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज पूर्ण दर्शन के बिना सर्वज्ञता भी नहीं है ऐसा कहते हैं—]

(२८४) **श्लोकार्थ**—"जो मैं सर्वज्ञ हूं" ऐसे अभिमान वाले हुए जीव एक ही समय में तीनों जगत् को और तीनों कालों को शीघ्रता से युगपत् नहीं देखते हैं, उन्हें हमेशा अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है, पुनः यहां उन जड़ात्मा को सर्वज्ञता कैसे होगी ?

लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६९॥

भगवान् केवली यदि इन लोक अलोक को ।
बस जानते हैं निज को नहि जानते हैं वो ॥
यदि आप ऐसा कहते तो जान लीजिये ।
क्या होंगे इसमें दूषण वे ध्यान दीजिये ॥१६९॥

व्यवहारनयप्रादुर्भावकथनमिदम् । सकलविमलकेवलज्ञानत्रितयलोचनो भगवान् अपुनर्भवकमनीयकामिनीजीवितेशः षड्द्रव्यसंकीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाशमात्रालोकं च जानाति, पराश्रितो व्यवहार इति मानात् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपराग-शुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति, यदि व्यवहारनयविवक्षया कोपि जिननाथतत्त्वविचारलब्धः (दक्षः) कदाचिदेवं वक्ति चेत्, तस्य न खलु दूषणमिति ।

गाथा १६९

अन्वयार्थ—[**केवली भगवान्**] केवली भगवान् [**लोकालोकौ**] लोकालोक को [**जानाति**] जानते हैं, [**आत्मानं नैव**] किंतु आत्मा को नहीं, [**यदि एवं कः अपि भणति**] यदि ऐसा कोई भी कहता है तो [**तस्य च किं दूषणं भवति**] उसको क्या दूषण होता है ?

टीका—व्यवहारनय के प्रादुर्भाव का यह कथन है ।

अपुनर्भवरूपी कमनीय कामिनी के प्राणनाथ, ऐसे सकल विमल केवलज्ञान रूपी तृतीय नेत्रधारी भगवान् छहों द्रव्यों से व्याप्त तीनों लोकों को और शुद्ध आकाश मात्र अलोक को जानते हैं तो व्यवहार की प्रधानता होने से वे व्यवहारनय से जानते हैं क्योंकि "व्यवहार पराश्रित है" ऐसा माना गया है, किंतु वे राग रहित शुद्धात्मा के स्वरूप को नहीं जानते हैं । यदि व्यवहारनय की विवक्षा से कोई भी जिननाथ के तत्त्व विचार में निपुण जीव कदाचित् ऐसा कहते हैं तो उन्हें वास्तव में दूषण नहीं है ।

भावार्थ—अथवा केवली भगवान् परप्रकाशी हैं स्वप्रकाशी नहीं, ऐसी मान्यता में क्या दूषण है सो आगे दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(अपरवक्त्र)

"स्थितिजननिरोधलक्षणं
चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलांछनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ।।"[1]

तथा हि—

(वसंततिलका)

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्य दोषः ।।२८५।।

इसीप्रकार से श्री समंतभद्र स्वामी ने भी कहा है—

"श्लोकार्थ—हे जिनदेव ! आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं यह चर जंगम और अचर स्थावररूप जगत् प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षणवाला है, ऐसा यह आपका वचन सर्वज्ञता का चिह्न है ।"

उसीप्रकार [टीकाकार मुनिराज व्यवहार कथन की अपेक्षा से कलश काव्य कहते हैं—]

(२८५) श्लोकार्थ—तीर्थनाथ भगवान वास्तव में अखिल लोक को जानते हैं किंतु वे निज सौख्य में निष्ट एक निर्दोष अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं । इस प्रकार से कोई भी मुनिपति व्यवहार मार्ग से उन समदर्शी को ऐसा कहते हैं तो उन्हें कोई दोष नहीं है ।

---

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, मुनिसुव्रतनाथ की स्तुति में श्लोक, ११४

णाणं जीवसरूवं, तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं ण वि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं ।।१७०।।

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्जानात्यात्मकं आत्मा ।
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ।।१७०।।

यह ज्ञान तो आतमा का लक्षण है सासता ।
अतएव आतमा को आत्मा ही जानता ।।
यदि ज्ञान आत्मा को नहिं जानता सही ।
तब तो ये ज्ञान आत्मा से भिन्न होगा ही ।।१७०।।

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्तः । इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं, बहिर्व्यावृत्तकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु

भावार्थ--यदि कोई मुनिराज व्यवहारनय की प्रधानता से ऐसा कहते हैं कि जिनदेव लोक को तो जानते हैं, किंतु आत्मा को नहीं जानते हैं तो इस कथन में कोई दोष नहीं है क्योंकि स्याद्वाद में सभी कथन नयों की अपेक्षा से ही होता है ।

गाथा १७०

अन्वयार्थ—[**ज्ञानं जीवस्वरूपं**] ज्ञान जीव का स्वरूप है [**तस्मात्**] इसलिये [**आत्मा आत्मकं जानाति**] आत्मा आत्मा को जानता है, [**न अपि आत्मानं जानाति**] यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो [**आत्मनः व्यतिरिक्तः भवति**] वह आत्मा से भिन्न हो जावेगा ।

टीका—'जीव ज्ञानस्वरूप है' ऐसा यहां वितर्क पूर्वक कहा है । प्रथमतः ज्ञान तो वास्तव में जीव का स्वरूप है, इसी हेतु से कोई आत्मा जो कि भव्य जीव है, वह अखण्ड, अद्वैत स्वभाव में लीन, निरतिशय अद्वितीय परम भावना से सनाथ मुक्ति सुन्दरी के नाथ, और बाह्य कौतूहल से रहित ऐसी निज परमात्मा को जानता है ऐसा जो कथन है सो यह वास्तव में स्वभाववाद है । इससे विपरीत जो वितर्क–ऊहापोह या विचार है वह वास्तव में विभाववाद है, जो कि प्राथमिक शिष्यों का अभाव है ।

स्वभाववादः । अस्य विपरीतो वितर्कः स खलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः । कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा, स्वरूपावस्थितः संतिष्ठति । यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति । हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतनः । किं बहुना । तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अत एव आत्मनः सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति । तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति ।

प्रश्न—यह वितर्क हिंसा कैसे है ? क्योंकि वास्तव में आत्मा पूर्वोक्त स्वरूप आत्मा को नहीं जानता है, किंतु स्वरूप में अवस्थित रहता है । जिसप्रकार उष्ण स्वरूप वाली अग्नि के स्वरूप को क्या अग्नि जानती है ? अर्थात् नहीं जानती है उसी प्रकार से ज्ञान और ज्ञेयरूप विकल्प के अभाव से सो यह आत्मा आत्मा में स्थित रहता है अर्थात् आत्मा को नहीं जानता है क्योंकि वह उसीमें स्थित है अथवा उसीरूप है ।

उत्तर—हे प्राथमिक शिष्य ! क्या अग्नि के समान यह आत्मा अचेतन है ? बहुत कहने से क्या, यदि ज्ञान इस आत्मा को नहीं जानता है तो देवदत्त से रहित इस कुल्हाड़ी के समान यह ज्ञान अर्थक्रियाकारी नहीं रहेगा, इस हेतु से वह आत्मा से भिन्न सिद्ध होगा । किंतु यह बात वास्तव में स्वभाव वादियों को सम्मत नहीं है ।

विशेषार्थ—गाथा १६९ में जो कहा है कि केवली भगवान लोकालोक को तो जानते हैं किंतु आत्मा को नहीं, यदि ऐसा कोई कहे तो क्या दूषण है ? वास्तव में सिद्धांत की अपेक्षा ज्ञान को पर-प्रकाशी कहा है उसी दृष्टि से यहां प्रश्न है । टीकाकार ने इसे व्यवहारनय की अपेक्षा से सिद्ध कर दिया है और कहा कि ऐसा कहने वालों को कोई दूषण नहीं है । पुनः आचार्य ने १७० वीं गाथा में कहा है कि ज्ञान तो जीव का स्वभाव है यदि वह स्वयं अपनी आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न हो जावेगा । टीकाकार ने ज्ञान को परप्रकाशी कहने में विभाववाद कहकर उसका निराकरण कर दिया है क्योंकि निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान तथा दर्शन स्वपर-प्रकाशी हैं । इस बात को गाथा १६५ में कह चुके हैं तथा आगे १७१ में भी कहेंगे । कारण यह है कि यदि ज्ञान अपने को नहीं जानेगा तो जानने रूप अर्थ क्रिया से शून्य

तथा चोक्तम्—

"णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ।।"

अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं, णाणं तह दंसणं होदि ।।१७१।।

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्ध्यात्मको न संदेहः ।
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ।।१७१।।

आत्मा को ज्ञान जानो औ ज्ञान आत्मा ।
ऐसा हि जान निश्चित संदेह नाशना ।।
अतएव ज्ञान होता निजपर-प्रकाशकर ।
दर्शन उसी तरह से निजपर-प्रकाशकर ।।१७१।।

भावार्थ—ज्ञान तो शुद्ध आत्मा का स्वभाव है यदि वह साधक अवस्था में अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करता है तो वह आत्मा का स्वभाव नहीं रहेगा । किंतु ऐसा है नहीं अतः ज्ञान स्वसंवेदनरूप से प्रारम्भ अवस्था में भी आत्मा का अनुभव कराता है ।

इसीप्रकार से और भी कहा है—

"गाथार्थ—ज्ञान जीव से अभिन्न है, इसलिये यह आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह जीव से भिन्न ही सिद्ध होगा ।"

गाथा १७१

अन्वयार्थ—[**आत्मानं ज्ञानं विद्धि**] तुम आत्मा को ज्ञान समझो और [**ज्ञानं आत्मकः विद्धि**] ज्ञानको आत्मा समझो, [**न संदेहः**] इसमें संदेह नहीं है । [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं तथा दर्शनं**] ज्ञान तथा दर्शन [**स्वपरप्रकाशं**] स्वपरप्रकाशी [**भवति**] होते हैं ।

गुणगुणिनोः भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं स्वस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थसहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञानमात्मेति जानीहि । तत्त्वं स्वपरप्रकाशं ज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र संदेहो नास्ति ।

(अनुष्टुभ्)

आत्मानं ज्ञानरूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

टीका—गुण और गुणी में भेद के अभावरूप स्वरूप का यह कथन है ।

हे शिष्य ! समस्त परद्रव्य से पराङ्मुख ऐसी आत्मा को स्वस्वरूप के जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप तुम समझो, तथा विज्ञान को ही आत्मा ऐसा जानो, इसलिये तात्त्विक बात यह है कि ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही स्वपरप्रकाशी हैं । इसमें संदेह नहीं है ।

[अब टीकाकार मुनिराज काव्य कलश द्वारा इसी बात को पुष्ट करते हैं—]

(२८७) श्लोकार्थ—आत्मा को ज्ञान दर्शनरूप और ज्ञान दर्शन को तुम आत्मारूप जानो । क्योंकि जो स्व और पर रूप तत्त्व हैं उन सबको यह आत्मा स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है ।

विशेषार्थ—गाथा १५९ से लेकर १७१ तक ऐसे १३ गाथाओं में आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण की विशेष विवेचना की है । जिसमें मात्र गाथाओं के अर्थ को क्रम से पढ़ लेने पर भाव स्पष्ट हो जाते हैं, यथा—केवली भगवान् व्यवहार से सर्व को जानते और देखते हैं, निश्चयनय से वे आत्मा को जानते और देखते हैं । केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन युगपत् रहते हैं जैसे कि सूर्य के प्रकाश और ताप साथ-साथ रहते हैं । "ज्ञान परप्रकाशी है, दर्शन आत्मप्रकाशी है, तथा आत्मा स्वपरप्रकाशी है, यदि तुम ऐसा मानो तो क्या दूषण आता है सो दिखाते हैं ?"

यदि ज्ञान परप्रकाशी है तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहेगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्य का जानने वाला नहीं है ऐसा तुमने कहा है।

यदि आत्मा परप्रकाशी है तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहेगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है, ऐसा तुमने कहा है। अर्थात् ज्ञानको परप्रकाशी और दर्शन को स्वप्रकाशी कहने से उपर्युक्त दो गाथा कथित दूषण आ जाते हैं।

[पुनः आचार्य देव स्वयं नयों की अपेक्षा से वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं—]

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशी है, दर्शन भी वैसा है, व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशी है और दर्शन भी वैसा है। निश्चयनय से ज्ञान आत्मप्रकाशी है दर्शन भी वैसा है, निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशी है और दर्शन भी वैसा है। यहां पर निश्चयनय स्वाश्रित है और व्यवहार पराश्रित है, इसलिये ऐसा कहा गया है। पुनः कहते हैं—

केवली भगवान आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं यदि कोई ऐसा कहता है तो उसके क्या दूषण होता है ? अर्थात् नयों की अपेक्षा से कोई दूषण नहीं है, अथवा आगे दो गाथाओं से दूषण दिखाते हैं—

मूर्त–अमूर्त, चेतन–अचेतन द्रव्य को तथा स्वको और समस्त को देखने वाले सर्वदर्शी का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। नाना पर्यायों से सहित पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को जो सम्यक् युगपत् अथवा स्पष्ट नहीं देखते हैं, उनके परोक्ष दर्शन होता है। अर्थात् जिनका दर्शन आत्मा को ही जानता है, परपदार्थों को नहीं, उनका दर्शन परोक्ष ही रहता है न कि प्रत्यक्ष। पुनः कहते हैं कि—

"केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं किंतु आत्मा को नहीं जानते हैं, यदि ऐसा कोई कहता है तो उसके क्या दूषण होता है ?" अर्थात् नयों की अपेक्षा से कुछ भी दूषण नहीं है, अथवा आगे कही गई दो गाथाओं से दूषण दिखाते हैं।

"ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिये आत्मा–आत्मा को जानता है यदि वह आत्मा को नहीं जाने तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जावेगा।" इसलिये तुम आत्मा

को ज्ञान समझो और ज्ञान को ही आत्मा समझो इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इस हेतु से ज्ञान स्वपरप्रकाशी है और दर्शन भी स्वपरप्रकाशी है। ऐसा समझना चाहिए।

यहां तक आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा को परप्रकाशी और निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा इन तीनों को स्वप्रकाशी कहकर पुनः इन तीनों को ही कथंचित् एक दूसरे से अभिन्न सिद्ध करते हुए स्वपर-प्रकाशी सिद्ध किया है

अब इस ज्ञान-दर्शन के विषय में अन्य ग्रंथों की चर्चा देखिये—

"[1]अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है।" बात यह है कि सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अथवा विशेष को छोड़कर सामान्य अर्थक्रिया करने में असमर्थ है अतः यह अवस्तु है, इस कारण केवल विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा और केवल सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन भी प्रमाण नहीं हो सकेगा।

"[2]जं 'सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं" यहां पर भी 'सामान्य' शब्द का अर्थ आत्मा है क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारणरूप से पाया जाता है।"

श्रीमान् भट्टाकलंक देवकृत लघीयस्त्रय की टीका में भी स्पष्टतया कहा है कि-"यहां पर सामान्य के ग्रहण को दर्शन कहा है किंतु सिद्धांत में" "स्वरूप के ग्रहण को दर्शन कहा है अतः उपर्युक्त कथन में सिद्धांत के साथ विरोध क्यों नहीं होगा ?"

---

१. "अंतर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोः" [ध० पु० १ पृ० १४६]

२. "जं सामण्णं गहणं"..... तथात्मनः सकल बाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेश भाजो ग्रहणात्।" [ध० पु० १ पृ० १४८]

३. ननु स्वरूप ग्रहणमेव दर्शनमितिराद्धांतेन कथं न विरोधः इति चेन्न, अभिप्राय भेदात् .....तत्त्वतस्तु स्वरूपग्रहणमेव दर्शनं केवलिनां तयोर्युगपत्प्रवृत्तेः। अन्यथा ज्ञानस्य सामान्य विशेषात्मकवस्तु विषयत्वाभावप्रसंगात्। [लघीयस्त्रयं प्र० १४]

ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अभिप्राय से भेद है। पर के विसंवाद को दूर करने के लिये न्याय शास्त्र होते हैं इसलिए उनमें स्वीकृत निर्विकल्पदर्शन (बौद्ध ने ज्ञानको निर्विकल्पदर्शन कहा है) की प्रमाणता का खण्डन करने के लिए स्याद्वादियों ने दर्शन को सामान्य ग्रहण करने वाला माना है.....किंतु वास्तव में स्वरूप का ग्रहण करना ही दर्शन है क्योंकि केवलियों में ज्ञान और दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति होती है।

इसी बात को द्रव्यसंग्रह की टीका में भी कहा है—

तर्क–[1]न्याय के अभिप्राय से सत्तावलोकन को दर्शन कहा है इसके बाद सिद्धांत के अभिप्राय से कहते हैं–आगे होने वाले ज्ञानकी उत्पत्ति के लिये प्रयत्नरूप जो निज आत्मा का परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन वह दर्शन कहलाता है और उसके पीछे जो बाह्य विषय में विकल्परूप से पदार्थ का ग्रहण है वह ज्ञान है, यह वार्तिक है।.....शिष्य कहता है कि यदि आत्मा का ग्राहक दर्शन है और परका ग्राहक ज्ञान है तो नैयायिक के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है वैसे जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानेगा ?

इसका उत्तर यह है कि–नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन ये दो गुण पृथक्–पृथक् नहीं हैं। किंतु जैनमत में आत्मा ज्ञान गुण से परद्रव्य को जानता है और दर्शन गुण से आत्मा को जानता है।.....क्योंकि यदि सामान्य ग्राहक दर्शन और विशेष ग्राहक ज्ञान होंगे तब ज्ञान को प्रमाणता नहीं होगी। क्योंकि वस्तु का ग्राहक प्रमाण है और वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, पुनः ज्ञान ने वस्तु के एकदेशरूप ऐसे विशेष को ही ग्रहण किया है वह विशेष वस्तु नहीं है। अतः सिद्धांत से निश्चय से गुण गुणी में अभेद होने से संशय, विमोह, विभ्रम से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञान स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है।"

निष्कर्ष यह निकला कि [2]न्याय अर्थ और सिद्धांत–अर्थ को जानकर दुराग्रह का त्याग करके नय विभाग से जब कोई मध्यस्थ वृत्ति से व्याख्यान करता है तब दोनों

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह पृ० १८६।

२. यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धांतार्थं च ज्ञात्वैकांत दुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति।

जाणंतो पस्संतो, ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा, तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥१७२॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः ।
केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः ॥१७२॥

भगवान केवली का जानन व देखना ।
होता न इच्छापूर्वक अतएव बंध ना ॥
इससे हि केवली जिन लोकालोक नित कहें ।
इच्छा बिना न उनके कर्मों का बंध है ॥१७२॥

सर्वज्ञवीतरागस्य वांछाभावत्वमत्रोक्तम् । भगवानर्हत्परमेष्ठी सादिसनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वम-

---

बातें घट जाती हैं । क्योंकि 'तर्क ग्रंथ में मुख्यरूप से परसमय—अन्य सम्प्रदाय का व्याख्यान है और पुनः सिद्धांत में मुख्य वृत्ति से स्वसमय का व्याख्यान है ।

यहां पर इस नियमसार में भी आचार्यदेव ने सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए प्रश्न उठाये हैं, पुनः अध्यात्म ग्रंथ में नयविवक्षा से ज्ञान, दर्शन, तथा आत्मा इन तीनों को भी कथंचित् स्वपरप्रकाशी सिद्ध कर दिया है, ऐसा समझना ।

गाथा १७२

अन्वयार्थ—[**केवलिनः**] केवली भगवान् का [**जानन् पश्यन् ईहापूर्वं न भवति**] जानना और देखना ईहा पूर्वक नहीं होता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**केवलज्ञानी**] जो केवलज्ञानी है [**सः**] वह [**तेन तु**] उस हेतु से [**अबंधकः भणितः**] अबंधक कहा गया है ।

टीका—यहां पर सर्वज्ञ वीतराग के वांछा का अभाव कहा है । भगवान् अर्हंत परमेष्ठी सादिसांत अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभावभूत शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की

१- तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं.....सिद्धांते पुनः स्वसमय व्याख्यानं मुख्यवृत्त्या ।
[बृहद्द्रव्यसंग्रह पृ. १९२]

श्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान् अबन्धक इति ।

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे—

"ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ।।"

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

जानन् सर्वं भुवनभुवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।

अपेक्षा से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने से विश्व को निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी मन की प्रवृत्ति का अभाव होने से उन केवली परम भट्टारक के ईहापूर्वक वर्तन नहीं होता है । इसलिये वे भगवान् केवलज्ञानी हैं यह बात प्रसिद्ध है, पुनः उसी कारण से वे भगवान् अबंधक हैं ।

उसीप्रकार से श्री प्रवचनसार में कहा है—

"गाथार्थ—आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उनरूप परिणमन नहीं करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन पदार्थों में उत्पन्न ही होता है, इसलिये वह अबंधक कहा गया है ।"

भावार्थ—केवलज्ञानी भगवान् सभी पदार्थों को जानते हुए भी न उनरूप परिणत ही होते हैं न उनको ग्रहण ही करते हैं और न उनरूप से उत्पन्न होते हैं और इसीलिये उन्हें पूर्ण वीतरागता रहने से कर्मों का बंध नहीं होता है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज काव्य कलश द्वारा कहते हैं—]

(२८८) श्लोकार्थ—सहज महिमाशाली देवदेव जिनेश्वर भुवनरूपी भवन के भीतर में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हुए तथा वैसे ही देखते हुए भी मोह का

मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

परिणामपुव्ववयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।
परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
ईहापुव्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।
ईहारहियं वयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७४॥

परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।
परिणामरहितवचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७३॥
ईहापूर्वं वचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।
ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७४॥

जीवों के जो वचन हों परिणाम पूर्वक ।
वे बंध के ही कारण क्योंकि मनःपूर्वक ॥
परिणाम रहित वाणी ज्ञानी प्रभु की है ।
अतएव बंध उनके कैसे भी नहीं है ॥१७३॥

अभाव हो जाने से अखिल अन्य पदार्थों को नित्य ही (कदापि) ग्रहण नहीं करते हैं किंतु ज्ञान ज्योति से मल के क्लेश को नष्ट कर देने वाले वे समस्त लोक के एक साक्षी होते हैं ।

भावार्थ—केवली भगवान् सम्पूर्ण जगत् को जानते देखते हैं फिर भी मोहनीय कर्म के सर्वथा अभाव हो जाने से वे किसी में रागद्वेष नहीं करते हैं, अतएव वे केवल ज्ञाता दृष्टा ही रहते हैं ।

गाथा १७३-१७४

अन्वयार्थ—[**परिणामपूर्ववचनं**] परिणाम पूर्वक वचन [**जीवस्य च**] जीव के लिये [**बंधकारणं भवति**] बंध का कारण है, [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी के [**परिणाम रहितवचनं**] परिणामरहित वचन हैं [**तस्मात् बंध न हि**] इसलिये उनके बंध नहीं होता है ।

जीवों के वचन जो भी अभिलाष रहित हों।
वे बंध के हैं कारण इच्छा बिना न हों।
श्री केवली प्रभू के इच्छा रहित वचन।
इस हेतु बंध उनके होता न ये नियम ॥१७४॥

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम्। सम्यग्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धिपूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमिति यावत्। कुतः? 'अमनस्काः केवलिनः' इति वचनात्। अतः कारणाज्जीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बंधकारणमित्यर्थः, मनःपरिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति; ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकजीवस्य बंधकारणं भवति, केवलिमुखारविंदविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मकः समस्तजनहृदयाह्लादकारणं; ततः सम्यग्ज्ञानिनो बंधाभाव इति।

[**ईहापूर्वं वचनं**] ईहापूर्वक वचन [**जीवस्य च**] जीव के [**बंधकारणं भवति**] बंध के लिये कारण होते हैं [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी के [**ईहारहितं वचनं**] ईहा रहित वचन हैं [**तस्मात्**] इसलिये उनके [**बंधः न हि**] बंध नहीं है।

टीका—यहां पर ज्ञानी के बंधाभाव स्वरूप को कहा है।

सम्यक्ज्ञानी क्वचित् कदाचित् भी अपनी बुद्धिपूर्वक वचन नहीं बोलते हैं, अर्थात् अपने मन के उपयोग पूर्वक वचन नहीं बोलते हैं।

प्रश्न—मनःपूर्वक क्यों नहीं बोलते हैं?

उत्तर—क्योंकि "अमनस्काः केवलिनः" केवली भगवान् मनरहित होते हैं ऐसा वचन है। इसकारण से मनकी परिणति पूर्वक हुये जीव के वचन बंध के कारण होते हैं ऐसा अर्थ हुआ और मन की परिणति पूर्वक वचन केवली के नहीं होते हैं।

ईहापूर्वक वचन ही अभिलाषासहित के लिये बंध के कारण होते हैं, किंतु केवली भगवान् के मुखकमल से निकली हुई दिव्यध्वनि ईहा—इच्छापूर्वक नहीं है तथा समस्त जीवों के हृदय को आह्लाद का कारण है, इसलिये सम्यग्ज्ञानी के बन्ध का अभाव है।

(मंदाक्रांता)

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव
तस्मादेष प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।
अस्मिन् बंधःकथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ॥२८९॥

(मंदाक्रांता)

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्घः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ॥२९०॥

[अब टीकाकार मुनिराज केवली भगवान् की दिव्यध्वनि की प्रशंसा करते हुए आगे कलशरूप तीन काव्य कहते हैं—]

(२८९) श्लोकार्थ—इन केवली भगवान् में इच्छापूर्वक वचन रचना का स्वरूप नहीं है, इसलिये ये भगवान् प्रकटरूप से महिमाशाली हैं और विश्वलोक के एक-अद्वितीय स्वामी हैं। इनमें द्रव्य और भावरूप यह बंध कैसे हो सकता है ? क्योंकि मोह का अभाव हो जाने से उनके समस्त रागद्वेषादि समूह निश्चितरूप से नहीं रहता है।

(२९०) श्लोकार्थ—जिन्होंने अष्टकर्म के आधे अर्थात् चार घातिया कर्मों को नाश कर दिया है ऐसे एक अर्हंतदेव ही त्रिभुवन के गुरु हैं क्योंकि यह समस्त लोक और उसमें स्थित समस्त वस्तु समूह उनके सज्ज्ञान में स्थित है। ऐसे साक्षात् स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् में न बंध ही है और न मोक्ष ही है, तथा न उनमें कोई मूर्च्छा-अज्ञानदशा ही है और न चेतना-ज्ञानदशा ही है।

भावार्थ—अर्हंतदेव ही सर्वज्ञ हैं अतः उनमें बंध-मोक्ष या ज्ञान तथा अज्ञान-रूप अवस्थायें नहीं हैं क्योंकि वे पूर्णज्ञानी हैं, ज्ञान स्वरूप ही परिणत हो चुके हैं।

(मंदाक्रांता)

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपंचो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः ।
एष श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ॥२९१॥

ठाणणिसेज्जविहारा, ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
तम्हा ण होइ बंधो, साक्खट्ठं मोहणीयस्स ॥१७५॥

स्थाननिषण्णविहारा ईहापूर्वं न भवन्ति केवलिनः ।
तस्माच्च भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य ॥१७५॥

श्री केवली प्रभू जो बैठे व खड़े हों ।
विहरें न इच्छा पूर्वक स्वयमेव क्रिया हो ॥
अतएव बंध उनके कैसे भि नहीं है ।
इंद्रिय विषय ग्रहण से मोहो के बंध है ॥१७५॥

(२९१) **श्लोकार्थ**—इन जिनेन्द्र भगवान् में धर्म और कर्म का प्रपंच नहीं है क्योंकि राग का अभाव हो जाने से अतुल महिमाशाली वीतराग देव शोभायमान होते हैं। ये श्रीमान् भगवान् अपने सुख में लीन हैं, सिद्धिरूपी रमणी के स्वामी हैं, तथा सब ओर से जिन्होंने ज्ञानज्योति के द्वारा समस्त भुवन के अभ्यन्तर भाग को व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ—अर्हंत भगवान् के मोहनीय कर्म का पूर्णतया अभाव हो जाने से वे वीतरागी हैं तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय के अभाव से वे केवलज्ञानी हैं, सर्वदर्शी हैं तथा अनन्तशक्तिशाली हैं। इसलिये उनका ज्ञान तीनों लोकों में और अलोक में भी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।

गाथा १७५

अन्वयार्थ—[**केवलिनः**] केवली भगवान् के [**स्थाननिषण्णविहाराः**] खड़े होना, बैठना और विहार करना [**ईहापूर्वं न भवंति**] इच्छापूर्वक नहीं होते हैं,

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्योतनमेतत् । भगवतः परमार्हन्त्यलक्ष्मीविराजमानस्य केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्त्तनम्, अतः स भगवान् न चेहते मनःप्रवृत्तेरभावात् अमनस्काः केवलिनः इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रीविहारादिकं करोति । ततस्तस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबंधो न भवति । स च बंधः पुनः किमर्थं जातः कस्य संबंधश्च । मोहनीयकर्मविलास विजृम्भितः, अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्त्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणामेव बंध इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

[**तस्मात् बंधः न भवति**] इसलिये उनके बंध नहीं होता, तथा [**मोहनीयस्य**] मोह से सहित जीव के [**साक्षार्थं**] इंद्रिय के विषयसहितरूप से बन्ध होता है ।

टीका—केवली भट्टारक के अमनस्कता का यह प्रकाशन है । परम आर्हन्त्यलक्ष्मी से विराजमान परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान् के इच्छापूर्वक कुछ भी प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए वे भगवान् इच्छा नहीं करते हैं क्योंकि उनके मन की प्रवृत्ति का अभाव है अथवा "अमनस्काः केवलिनः" केवली भगवान् मनरहित हैं, ऐसा कथन होने से वे भगवान् न इच्छापूर्वक ठहरते हैं, न इच्छापूर्वक बैठते हैं और न इच्छापूर्वक श्रीविहार आदि ही करते हैं । इसलिए उन तीर्थंकर परमदेव के द्रव्य और भावरूप से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों प्रकार का बन्ध नहीं होता है ।

प्रश्न—पुनः यह बन्ध किसकारण से होता है ? और किसके होता है ?

उत्तर—वह कर्मबन्ध मोहनीयकर्म के विलास से उत्पन्न होता है, साक्षार्थ—इन्द्रियों के विषय से जो सहित हैं वे साक्षार्थ हैं, ऐसे मोहनीयकर्म के वशीभूत हुए इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति करनेवाले संसारी जीवों के ही वह बन्ध होता है । ऐसा अर्थ हुआ ।

उसीप्रकार से प्रवचनसार में कहा है—

"ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदया तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ।।"

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासनकंपकारणमहाकैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः ।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वं पुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ।।२९२।।

गाथार्थ—[1]अर्हंतदेवों के उस काल में खड़े होना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना यह क्रियायें स्वभाव से होती हैं जैसे कि स्त्रियों में मायाचार स्वभाव से होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज अर्हंतदेव की महिमा को बतलाते हुए कलश-काव्य कहते हैं—]

(२९२) श्लोकार्थ—देवेन्द्रों के आसन कंपायमान होने में कारणभूत ऐसे महान् कैवल्यबोध के उदय हो जाने पर मुक्तिश्रीरूपी स्त्री के मुखकमल को विकसित करने में सूर्यस्वरूप और सद्धर्म की रक्षा के लिए मणिसदृश ऐसे पुराण-सनातनरूप जिनेन्द्रदेव की यदि संपूर्ण प्रवृत्तियां होती हैं तो भी उनके मन नहीं है । अर्थात् वे क्रियायें अभिप्रायपूर्वक नहीं हैं । सो ये भगवान् अपरिमेय-अगम्य महिमा-शाली हैं और पापरूपी वन के लिए पावकस्वरूप हैं ।

भावार्थ—अर्हंत भगवान् के केवलज्ञान प्रगट होते ही देवों के आसन कंपित हो जाते हैं । ऐसे महिमाशाली जिनेन्द्र की सारी प्रवृत्तियां अभिप्राय रहित होती हैं क्योंकि उनके भाव इंद्रिय और भाव मन नहीं हैं ।

---

१. प्रवचनसार गाथा ४४ ।

आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७६॥

आयुषः क्षयेण पुनः निर्नाशो भवति शेषप्रकृतीनाम् ।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समयमात्रेण ॥१७६॥

आयु का नाश होता उन केवली के जब ।
और शेष प्रकृतियों का जड़ से विनाश तब ॥
तब शीघ्र इक समय में वे लोक शिखर पे ।
जाकर के तिष्ठते हैं मुक्तिरंगना वर के ॥१७६॥

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयम् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृतत्फलप्राप्तिप्रयोजनविकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकर्मक्षये जाते वेदनीयनामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्नाशो भवति । शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति ।

गाथा १७६

अन्वयार्थ—[**पुनः**] फिर—उन केवली के [**आयुषः क्षयेण**] आयु के क्षय से [**शेष प्रकृतीनां**] शेष प्रकृतियों का [**निर्नाशः भवति**] संपूर्णतया विनाश हो जाता है [**पश्चात्**] पुनः वे [**शीघ्रं समयमात्रेण**] शीघ्र ही एक समय मात्र में [**लोकाग्रं प्राप्नोति**] लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेते हैं ।

टीका—शुद्ध जीव के स्वाभाविक गति की प्राप्ति के उपाय का यह कथन है ।

स्वाभाविक गति क्रिया से परिणत, छह अपक्रम से रहित, सिद्ध-क्षेत्र के सन्मुख हुए जो भगवान हैं, उनके ध्यान, ध्येय, ध्याता और उसके फल की प्राप्ति और प्रयोजन के विकल्पों से शून्य, अपने स्वरूप में अविचलस्थितिरूप ऐसे परम शुक्लध्यान के द्वारा आयु कर्म का क्षय हो जाने पर वेदनीय, नाम और गोत्र नामकी शेष प्रकृतियों का समूल नाश हो जाता है । शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमाशाली ऐसे अपने स्वरूप

(अनुष्टुभ्)

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् ।
सिद्धानां लक्षणं यस्माद्ऊर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ।।२९३।।

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ।।२९४।।

में लीन होते हुये भी वे भगवान् व्यवहारनय से ऊर्ध्वक्षण में लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेते हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज सिद्धों के गुणों का गान करते हुये तीन श्लोक कहते हैं—]

(२९३) **श्लोकार्थ**—जो छह अपक्रम से सहित हैं ऐसे संसारी जीवों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न है, इसलिये वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं और सदाशिव—कल्याण स्वरूप हैं ।

भावार्थ—संसारी जीव परभव में जाते समय चार विदिशाओं को छोड़कर चार दिशाओं में और ऊर्ध्व-अधो ऐसी छह दिशाओं में गमन करते हैं । इसे ही षट् अपक्रम कहते हैं ।

(२९४) **श्लोकार्थ**—बंध का उच्छेद हो जाने से अतुल महिमाधारी ऐसे सिद्ध भगवान् अब देवों और विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन के विषय नहीं हैं ऐसी बात प्रसिद्ध है । वे देवदेव व्यवहारनय से लोक के अग्रभाग में सुरक्षित हैं और निश्चयनय से अपनी आत्मा में अतिशयतया अविचलरूप से ही रहते हैं ।

(अनुष्टुभ्)

पंचसंसारनिर्मुक्तान् पंचसंसारमुक्तये ।
पंचसिद्धानहं वंदे पंचमोक्षफलप्रदान् ॥२६५॥

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धम्
ज्ञानादिचतुःस्वभावं अक्षयमविनाशमच्छेद्यम् ॥१७७॥

निर्वाण धाम आठों कर्मों से शून्य है ।
जन्मजरामृत्यु से परम शुद्ध है ॥
वर ज्ञान दर्श वीरज सुख चार स्वभावी ।
अक्षय विनाश विरहित अच्छेद्य स्वभावी ॥१७७॥

(२६५) **श्लोकार्थ**—पांच प्रकार के संसार से रहित, पांच प्रकार के मोक्ष को प्रदान करनेवाले ऐसे पांच प्रकार के सिद्धों को मैं पांच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वंदन करता हूं ।

भावार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच प्रकार का संसार है, इन पांच प्रकार के संसार से मुक्त–रहित जो फल है उनको सिद्ध करनेवाले पांच प्रकार के सिद्ध हो जाते हैं, पांच प्रकार के संसार से छूटने के लिए उनको यहां वंदन किया गया है ।

गाथा १७७

अन्वयार्थ—ये सिद्ध भगवान् [**जातिजरामरणरहितं**] जन्म, जरा और मरण से रहित [**परमम्**] परम, [**कर्माष्टवर्जितं**] आठ कर्मों से रहित, [**शुद्धं**] शुद्ध [**ज्ञानादि चतुः स्वभावं**] ज्ञानादि चार स्वभाववाले [**अक्षयं**] अक्षय [**अविनाशं**] अविनाशी और [**अच्छेद्यं**] अच्छेद्य हैं ।

कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । निसर्गतः संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितम्, परमपारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात्परमम्, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्माष्टकवर्जितम्, द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धम्, सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजचिच्छक्तिमयत्वाज्ज्ञानादिचतुःस्वभावम्, सादिसांतमूर्तेन्द्रियात्मकविजातीयविभावव्यंजनपर्यायवीतत्वादक्षयम्, प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वाभावादविनाशम्, वधबन्धच्छेदयोग्यमूर्तिमुक्तत्वादच्छेद्यमिति ।

(मालिनी)

अविचलितमखंडज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं
निखिलदुरितदुर्गव्रातदावाग्निरूपम् ।

टीका—कारण परमतत्त्व के स्वरूप का यह कथन है ।

स्वभाव से संसार का अभाव होने से जो जन्म, जरा और मरण से रहित हैं, परम पारिणामिक भाव के द्वारा परमस्वभाव होने से परम हैं, त्रैकालिक उपाधि रहित स्वरूपवाले होने से आठों कर्मों से रहित हैं, द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित होने से शुद्ध हैं, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजचैतन्य शक्तिमय होने से ज्ञानादि चार स्वभाववाले हैं, अर्थात् अनंतचतुष्टय सहित हैं, सादि और सांत, मूर्तिक इंद्रियरूप, विजातीय ऐसी विभावव्यंजन पर्याय से रहित होने से अक्षय हैं, प्रशस्त तथा अप्रशस्तगति के लिए हेतु भूत ऐसे पुण्य–पाप कर्मरूप द्वंद्व के अभाव से अविनाशी हैं, और बंध तथा बंध के द्वारा छेदन के योग्य ऐसी मूर्ति से युक्त होने से अच्छेद्य–नहीं छिदने योग्य हैं ।

भावार्थ—यह सिद्धों का स्वरूप बतलाया गया है, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से संसारी जीवों की आत्मा भी ऐसी ही सिद्धस्वरूप है उसे कारणपरमतत्त्व कहते हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज सिद्धभक्ति की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(२९६) **श्लोकार्थ**—जो अविचल हैं, अखण्ड ज्ञानरूप हैं, राग द्वेषादि द्वंद्व में स्थित नहीं हैं, समस्त दुरित के दुस्तर समूह को भस्मसात् करने में अग्निरूप हैं

भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥२९६॥

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं, णिच्चं अचलं अणालंबं ॥१७८॥

अव्याबाधमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।
पुनरागमनविरहितं नित्यमचलमनालंबम् ॥१७८॥

बाधा रहित अतीन्द्रिय अनुपम कहा गया ।
सब पुण्य पाप विरहित परिशुद्ध हो गया ।
पुनरागमन विवर्जित औ नित्य रूप है ।
निरालम्बी अविचल व पूर्ण है ॥१७८॥

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तम् । अखिलदुरघवीरवैरीवरूथिनीसंभ्रमागोचरसहजज्ञानदुर्गनिलयत्वादव्याबाधम्, सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वाद-

---

ऐसे निज में उत्पन्न हुए दिव्यसुखरूपी अमृत को तुम भजो, यदि उसे भजोगे तो तुम्हें सकल विमलज्ञान प्रकट होगा ।

भावार्थ—शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना से ही पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है, इसलिए उसीका आश्रय लेना श्रेयस्कर है ।

गाथा १७८

अन्वयार्थ—ये सिद्ध भगवान् [**अव्याबाधं**] अव्याबाध, [**अतीन्द्रियं**] अतीन्द्रिय, [**अनुपमं**] अनुपम [**पुण्यपापनिर्मुक्तं**] पुण्य-पाप से रहित, [**पुनरागमनविरहितं**] पुनरागमन से रहित, [**नित्यं**] नित्य, [**अचलं**] अचल और [**निरालंबं**] निरालंब हैं ।

टीका—यहां पर भी निरुपाधिस्वरूप लक्षणवाले ऐसे परमात्मतत्त्व का कथन है ।

तीन्द्रियम्, त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वादनौपम्यम् संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाभावात्पुण्यपापनिर्मुक्तम्, पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविरहितम्, नित्यमरणतद्भवमरणकारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यम्, निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावादचलम्, परद्रव्यावलम्बनाभावादनालम्बमिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मंदाक्रान्ता)

"आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।
एतेतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥"[1]

समस्त दुष्ट पापरूपी वैरी की सेना के उपद्रव के अगोचर ऐसे सहज ज्ञानरूपी गढ़ में निवास होने से जो अव्याबाध है, संपूर्ण आत्मप्रदेशों में भरे हुए चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय हैं, तीनों तत्त्वों में—बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व इन तीनों में विशेष होने से जो अनुपम हैं, संसाररूपी स्त्री के सम्भोग से उत्पन्न होनेवाले सुख दुःखों का अभाव होने से जो पुण्य और पाप से निर्मुक्त हैं, पुनरागमन के कारणभूत ऐसे प्रशस्त और अप्रशस्त मोह, राग, द्वेष का अभाव हो जाने से जो पुनरागमन से रहित हैं, नित्यमरण और तद्भवमरण के कारणभूत शरीर के सम्बन्ध का अभाव होने से जो नित्य हैं, अपनी गुण और पर्यायों से च्युत नहीं होने से अचल हैं और परद्रव्य के आलम्बन का अभाव होने से जो निरालंब हैं। इन उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट सिद्धपरमात्मा होते हैं।

इसीप्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—"हे अंधप्राणियों! अनादि संसार से पद-पद पर ये रागी जीव नित्य ही मत्त हो रहे हैं, और जिस पद में सो रहे हैं, वह पद अपद है, अपद है ऐसा

१. समयसार कलश श्लोक १३८।

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२६७॥

तुम समझो । इधर आवो, आवो तुम्हारा पद यह है, यह है जहां पर शुद्ध-शुद्ध चैतन्य धातु अपने रस के अतिशय भार से स्थायी भाव को प्राप्त हो रहा है ।"

भावार्थ—आचार्यप्रवर भव्यजीवों को अत्यन्त करुणाभाव से समझा रहे हैं कि अरे भव्य ! राग से अंधे हुये ये संसारी प्राणी अनादिकाल से अपने स्थान से च्युत होते हुए अन्य क्षणिक निन्द्यस्थान में भटक रहे हैं वास्तव में यह तुम्हारा स्थान नहीं है, यहां दो-दो बार कहने से आचार्य श्री की अतिशय करुणा झलक रही है । वास्तव में आचार्य बड़े ही प्रेम से बुला रहे हैं कि हे भाई ! इधर आवो आवो जो कि मोक्षपद है और जहां कि चैतन्यमयी धातु से घटित तुम्हारा दिव्य शरीर है जो कि अविनाशी है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज इस कलिकाल में भी महामुनि की प्रशंसा करते हुए कलशकाव्य कहते हैं—]

(२६७) श्लोकार्थ—भाव पाँच होते हैं जिनमें यह परम पंचमभाव सतत् स्थायी है, संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टियों के गोचर है । पापरूपी अटवी को जलाने के लिये अग्नि सदृश ऐसे बुद्धिमान् एक मुनिराज ही उस पंचमभाव को जानकर पुनः समस्त रागद्वेष के समूह को छोड़कर इस कलियुग में शोभायमान होते हैं ।

भावार्थ—टीकाकार का स्पष्ट कहना है कि आज इस कलिकालरूप निकृष्ट काल में भी वीतरागी महामुनि पंचमभाव का आश्रय लेने वाले निःस्पृह ऐसे विचरण करते हैं ।

णवि दुक्खं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७६॥

नापि दुःखं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा ।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१७६॥

जहां पे न दुःख किंचित् नहिं इंद्रियों का सुख ।
पीड़ा नहीं है कुछ भी, बाधा भी नहीं कुछ ॥
नहिं मृत्यु भी जहां पर नहिं जन्म भी रहे ।
होता वहीं पे निश्चित निर्वाण जान ये ॥१७६॥

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावान्निर्वाणं भवतीत्युक्तम् । निरुपरागरत्नत्रयात्मकपरमात्मनः सततान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्य तस्य नाऽशुभपरिणतेरभावान्न चाशुभकर्म अशुभकर्माभावान्न दुःखम्, शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म शुभकर्माभावान्न खलु संसारसुखम्, पीडायोग्ययातनाशरीराभावान्न पीडा, असातावेदनी-

---

गाथा १७६

अन्वयार्थ—[**दुःखं न अपि**] जहां दुःख भी नहीं है, [**सौख्यं न अपि**] सुख भी नहीं है, [**पीड़ा अपि न**] पीड़ा भी नहीं है [**बाधा न एव विद्यते**] बाधा भी नहीं है [**मरणं न अपि**] मरण भी नहीं है तथा [**जननं अपि न**] जन्म भी नहीं है [**तत्र एव च निर्वाणं भवति**] वहीं पर निर्वाण है ।

टीका—सांसारिक विकारसमूह के अभाव से ही निर्वाण होता है ऐसा यहां पर कहा है ।

निरन्तर अंतर्मुखाकार से परिणत ऐसे परम अध्यात्मस्वरूप में लीन हुये ऐसे उन निरुपराग रत्नत्रयात्मक परमात्मा में अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं हैं और अशुभकर्म के अभाव से उनके दुःख भी नहीं है तथा शुभ परिणति के अभाव से उनके शुभकर्म नहीं है और शुभकर्म के न होने से वास्तव में उन्हें संसार के सुख भी नहीं हैं, पीड़ा के योग्य यातनारूप शरीर के अभाव से उन्हें

यकर्माभावान्नैव विद्यते बाधा, पंचविधनोकर्माभावान्न मरणम्, पंचविधनोकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकाराभावान्न जननम् । एवंलक्षणलक्षिताक्षुण्णविक्षेपविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति ।

(मालिनी)

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम् ।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरसुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम् ॥२९८॥

पीड़ा नहीं है, असातावेदनीयकर्म के अभाव से उन्हें बाधा भी नहीं है, पांच प्रकार के नोकर्म के अभाव से उनके मरण भी नहीं है तथा पांच प्रकार के नोकर्म के लिये कारणभूत ऐसे कर्मपुद्गलों को स्वीकार न करने से उन्हें जन्म भी नहीं है। इन लक्षणों से लक्षित, अखण्ड और विक्षेपरहित ऐसे परमतत्त्व को सदा निर्वाण होता है।

भावार्थ—संसार में कर्म के निमित्त से होनेवाले विभावों के अभाव से परमतत्त्व स्वरूप परमात्मा ही निर्वाण के अधिकारी हैं। यहां पंचविध नोकर्म से औदारिक आदि पांच शरीरों का ग्रहण समझना चाहिए।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज उसी परमतत्त्व स्वरूप आत्मा की आराधना के लिये प्रेरणा देते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(२९८) श्लोकार्थ—इस लोक में जिसके हमेशा भव-भव के दुःख और सुख नहीं है, बाधा नहीं है तथा जन्म, मरण और पीड़ा भी नहीं है। मैं कामसुख से विमुख होता हुआ मुक्तिसुख की प्राप्ति के लिये नित्य ही उस परमात्मतत्त्व को नमस्कार करता हूं, उसकी स्तुति करता हूं और उसी की सम्यक् प्रकार से भावना करता हूं।

(अनुष्टुभ्)

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः ।
अहमात्मानमानन्दमंदिरं नौमि नित्यशः ।।२९९।।

णवि इंदिय उवसग्गा, णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।।१८०।।

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।
न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव च भवति निर्वाणम् ।।१८०।।

नहिं इन्द्रियां जहां पर उपसर्ग भी नहीं ।
नहिं मोह और विस्मय निद्रा भी तो नहीं ।।
बाधा नहीं क्षुधा की तृष्णा भि नहीं है ।
होती वहीं तो निश्चित निर्वाण मही है ।।१८०।।

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्वस्वरूपाख्यानमेतत् । अखंडैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात् स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियव्यापाराः देवमानवतिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न

(२९९) **श्लोकार्थ**—आत्मा की आराधना से हीन जीव अपराध सहित हैं ऐसा माना गया है, इसलिये मैं नित्य ही आनन्द के मन्दिर-स्थान स्वरूप अपनी आत्मा को नमस्कार करता हूं ।

गाथा १८०

अन्वयार्थ—[**इन्द्रियाः उपसर्गाः अपि**] जहां पर इंद्रियां नहीं हैं और उपसर्ग भी नहीं है [**मोहः विस्मयः अपि न**] मोह और विस्मय भी नहीं है, [**निद्रा च न**] और निद्रा भी नहीं है, [**तृष्णा च न**] तृष्णा भी नहीं है तथा [**क्षुधा न एव**] क्षुधा भी नहीं है [**तत्र एव च निर्वाणं भवति**] वहीं पर निर्वाण है ।

टीका—यह परमनिर्वाण के योग्य ऐसे परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है ।

अखण्ड एकप्रदेशी ज्ञानस्वरूप होने से स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामवाली इन पांच इंद्रियों के व्यापार (उस परमतत्त्व) में नहीं हैं, तथा देव,

भवन्ति, क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्न दर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहनीयद्वितयमपि, बाह्यप्रपंचविमुखत्वान्न विस्मयः, नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा, असातावेदनीयकर्मनिर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च। तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति।

तथा चोक्तममृताशीतौ—

(मालिनी)

"ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा।
तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात्॥"

मनुष्य, तिर्यञ्च और अचेतन कृत उपसर्ग भी नहीं हैं, क्षायिकज्ञान और यथाख्यातचारित्रमय होने से दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से भिन्न ऐसे दोनों मोहनीय कर्म भी नहीं हैं, बाह्यप्रपंचों से विमुख होने से जहां पर विस्मय—आश्चर्य नहीं है, नित्य उन्मीलित—प्रगटरूप शुद्धज्ञान स्वरूप होने से जहां पर निद्रा भी नहीं है तथा असातावेदनीयकर्म का समूलनाश हो जाने से क्षुधा और तृषा भी नहीं हैं उसी परमब्रह्म स्वरूप में सदा ब्रह्म निर्वाण है।

भावार्थ—जिस परमतत्त्व के अनुभव में ये इन्द्रियव्यापार, उपसर्ग आदि नहीं हैं उसी परमतत्त्व में आत्मा की तन्मयता हो जाना ही परमनिर्वाण है।

इसीप्रकार से अमृताशीति ग्रंथ में भी कहा है—

"श्लोकार्थ—[1]जहां पर ज्वर, जन्म और जरा की वेदना भी नहीं है, मृत्यु भी तिरस्कार नहीं कर सकती है, तथा जहां पर गति और अगति भी नहीं है। उस परमतत्त्व को अतिनिर्मल चित्तवाले पुरुष शरीर में स्थित होते हुए भी गुणों में गुरु ऐसे गुरुदेव के पादकमल की सेवा के प्रसाद से प्राप्त कर लेते हैं।"

१- अमृताशीति श्लोक ५८।

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पे-
ऽक्षाणामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किंचित् ।
नैवान्ये वा भवगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ॥३००॥

णवि कम्मं णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

भावार्थ—जिस परमतत्त्व में जन्म, मरण आदि के दुःख, पराभव, गमन-आगमन आदि कुछ भी विकार नहीं है। उस तत्त्व को प्राप्त करने के लिये गुरुओं के चरणकमलों की उपासना ही सबसे प्रमुख उपाय है।

इसीप्रकार से टीकाकार मुनिराज भी निर्वाण के स्वरूप को कहते हुए श्लोक कहते हैं—

(३००) **श्लोकार्थ**—अनुपम गुणों से अलंकृत और निर्विकल्प ऐसे जिस ब्रह्म में—आत्मतत्त्व में इंद्रियों का विविध और विषमरूप किंचित् भी वर्तन अत्यन्तरूप से नहीं है, तथा संसार के लिये मूलभूत, अन्य संसारी गुण समुदाय भी नहीं हैं। उस ब्रह्मस्वरूप में नित्य ही निजसुखमय एक-अद्वितीय निर्वाण प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—अनंत गुणपुंज स्वरूप और समस्त विकल्पों से रहित पूर्ण निर्विकल्प ऐसे शुद्धात्मा में शुद्ध निश्चयनय से संसार संबंधी रागद्वेष आदि विकार भाव नहीं हैं। बस ऐसी वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर ही निर्वाण सुख प्रगट हो जाता है।

नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे ।
नापि धर्म्यशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१८१॥

जहां कर्म है नहीं कुछ नोकर्म भी नहीं ।
चिंता व आर्तरौद्री दुर्ध्यान भी नहीं ॥
नहिं धर्म शुक्ल दोनों भि ध्यान जहां पर ।
निर्वाण नाम से तो होता वही सुन्दर ॥१८१॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । सदा निरंजनत्वान्न द्रव्यकर्माष्टकं, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वान्न नोकर्मपंचकं च, अमनस्कत्वान्नचिंता, औदयिकादिविभावभावानामभावादार्तरौद्रध्याने न स्तः, धर्म्यशुक्लध्यानयोग्यचरमशरीराभावात्तद्द्वितयमपि न भवति । तत्रैव च महानंद इति ।

गाथा १८१

अन्वयार्थ—[**कर्म नोकर्म अपि न**] जहां पर कर्म और नोकर्म भी नहीं हैं, [चिंता अपि न] चिंता भी नहीं है, [**आर्तरौद्रे एव न**] आर्त-रौद्रध्यान भी नहीं है तथा [**धर्मशुक्लध्याने अपि न**] धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी नहीं हैं [**तत्र एव च निर्वाणं भवति**] वहीं पर निर्वाण है ।

टीका—सकलकर्म से निर्मुक्त, शुभ-अशुभ और शुद्धरूप ध्यान-ध्येय से वर्जित ऐसे परमतत्त्व के स्वरूप का यह कथन है ।

सदा निरंजनरूप होने से जिनके आठों कर्म नहीं हैं, तीनों कालों में उपाधि रहित स्वरूपवाले होने से जो पांच [1]प्रकार से नोकर्म से रहित हैं, मनरहित होने से जिन्हें चिंता नहीं है, औदयिक आदि विभावभावों के अभाव से जिनके आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य ऐसे चरमशरीर के अभाव से ये दोनों ध्यान भी नहीं हैं । वहीं पर महान आनन्द है ऐसा समझना ।

---

१. औदारिक आदि पांच प्रकार के शरीर पांच प्रकार के नोकर्म हैं ।

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्मशेषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम् ।
तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥३०१॥

विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८२॥

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम् ।
केवलदृष्टिरमूर्तत्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वम् ॥१८२॥

भावार्थ—जिस अवस्था में कर्म नोकर्म आदि समाप्त होचुके हैं उसी अवस्था में महान आनन्द प्रगट होजाता है जो कि परमानन्द कहलाता है वही अनंत-सुखरूप है उसी का नाम परमनिर्वाण है ।

[अब टीकाकार मुनिराज भी पूर्णशुद्ध अवस्था की महिमा को कहते हुए एक कलश काव्य कहते हैं—]

(३०१) **श्लोकार्थ**—निर्वाण में स्थित, दुरितरूपी तिमिर समुदाय को नष्ट करनेवाले ऐसे विशुद्ध परमब्रह्म में अशेषकर्म नहीं हैं तथा वे चारों ध्यान भी नहीं हैं उन ज्ञानपुंजस्वरूप परमब्रह्म ऐसे सिद्धभगवान् के ऐसी कोई मुक्ति होजाती है जो कि वचन और मन से दूर है ।

भावार्थ—धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी सिद्धि के लिये साधन हैं अतएव ये ध्यान भी सिद्धि की प्राप्ति होजाने पर नहीं रहते हैं । यही कारण है कि सिद्धों की सिद्धावस्था सामान्यजनों के वचन और मन के अगोचर है ।

गाथा १८२

अन्वयार्थ—उन सिद्धभगवान् के [**केवलज्ञानं**] केवलज्ञान, [**केवलदृष्टिः**] केवलदर्शन, [**केवलसौख्यं च**] केवलसौख्य, [**केवलं वीर्यं**] केवलवीर्य, [**अमूर्तत्वं**]

निर्वाण धाम पर जो श्री सिद्ध प्रभु रहें।
कैवल्य ज्ञान केवल दर्शन उन्हीं के हैं॥
कैवल्यवीर्य केवल सुख भी उन्हीं के हैं।
अस्तित्व सप्रदेशी अनमूर्त गुण भी हैं॥१८२॥

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत्। निरवशेषेणान्तर्मुखाकार-स्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मविलये जाते ततो भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वादि-स्वभावगुणा भवन्ति इति।

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदाद्भवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।

अमूर्तत्व, [**अस्तित्वं**] अस्तित्व और [**सप्रदेशत्वं**] सप्रदेशत्व [**विद्यते**] होते हैं।

टीका—भगवान् सिद्ध के स्वाभाविक गुणों के स्वरूप का यह कथन है।

संपूर्णतया अंतर्मुखाकार ऐसे स्वात्माश्रित निश्चय परमशुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का विलय होजाने पर भगवान् सिद्धपरमेष्ठी के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसौख्य, अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व आदि ऐसे स्वाभाविक गुण होते हैं।

भावार्थ—सिद्धों के अनंतदर्शन आदि अनंतचतुष्टय और नामकर्म आदि के अभाव से अमूर्तत्व आदि गुण प्रगट हो जाते हैं जो कि स्वभावगुण कहलाते हैं।

[अब टीकाकार मुनिराज इन्हीं स्वभावगुणों को कहते हुए एक कलश-काव्य कहते हैं—]

(३०२) श्लोकार्थ—बंध का विच्छेद होजाने से नित्यशुद्ध तथा प्रसिद्ध ऐसे उन सिद्धभगवान् में अतिशयरूप यह केवलज्ञान होता है, साक्षात् समस्त पदार्थों

दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणः शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ।।३०२।।

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ।।१८३।।

निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः ।
कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्यन्तम् ।।१८३।।

निर्वाण ही तो जग में बस सिद्ध कहाते ।
जो सिद्ध हैं वे ही तो निर्वाण कहाते ।।
जब आत्मा ये कर्मों से मुक्त हो जाता ।
उस ही समय लोकाग्र के पर्यंत में जाता ।।१८३।।

सिद्धिसिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत् । निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्ठो भवति ।

को विषय करनेवाला ऐसा दर्शन—केवलदर्शन होता है तथा आत्यन्तिक सौख्य प्रगट हो जाता है एवं अत्यन्त शुद्ध ऐसे अनन्तवीर्य आदि अन्य गुणमणियों के समूह भी नित्य ही रहते हैं ।

भावार्थ—कर्मबंध का अभाव होजाने से सिद्धभगवान् के केवलज्ञानादि अनन्तगुणसमूह प्रगट होजाते हैं ।

गाथा १८३

अन्वयार्थ—[**निर्वाणं एव सिद्धाः**] निर्वाण ही सिद्ध हैं और [**सिद्धाः निर्वाणं**] सिद्ध ही निर्वाण हैं [**इति समुद्दिष्टाः**] ऐसा कहा गया है, क्योंकि [**कर्म विमुक्तः आत्मा**] कर्म से विमुक्त आत्मा ही [**लोकाग्रपर्यंतं**] लोक के अग्रभाग पर्यंत [**गच्छति**] जाता है ।

टीका—सिद्धि और सिद्धभगवान् में एकत्व का प्रतिपादन करनेवाला यह कथन है ।

'निर्वाण' शब्द यहाँ पर दो में स्थित है ।

कथमिति चेत् । 'निर्वाणमेव सिद्धा' इति वचनात् । सिद्धाः सिद्धक्षेत्रे तिष्ठंतीति व्यवहारः, निश्चयतो भगवंतः स्वस्वरूपे तिष्ठंति । ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वं सफलं जातम् । अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकलकर्मकलंकपंकविमुक्तः स परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यंतं गच्छतीति ।

(मालिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
क्वचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च ।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।३०३।।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'निर्वाणमेव सिद्धाः' निर्वाण ही सिद्ध हैं, ऐसा वचन पाया जाता है। सिद्ध भगवान् सिद्ध क्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है, निश्चय से भगवान् अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं और इस हेतु से "निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं," इस प्रकार के क्रम से निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द इन दोनों में एकत्व सफल हो गया है।

तथा, जो कोई आसन्नभव्य जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुए परमभाव की भावना से सकल कर्म कलंक रूपी कीचड़ से विमुक्त हो जाते हैं, वे परमात्मा होकर लोक के अग्रभाग तक चले जाते हैं।

[अब टीकाकार मुनिराज पुनरपि निर्वाण और निर्वाण प्राप्त जीवों में अभेद दिखलाते हुए कलश काव्य कहते हैं—]

(३०३) **श्लोकार्थ**—जिनेंद्र देव के मत की मुक्ति में और मुक्त जीव में हम कहीं पर भी युक्ति से और आगम से भेद नहीं समझते हैं। यदि पुनः इस लोक में कोई भव्य जीव सम्पूर्ण कर्म को निर्मूल कर देता है, तो वह परमश्री-मुक्तिलक्ष्मी रूपी कामिनी का प्रिय वल्लभ हो जाता है।

जीवाणं पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥

जीवानां पुद्गलानां गमनं जानीहि यावद्धर्मास्तिकः ।
धर्मास्तिकायाभावे तस्मात्परतो न गच्छंति ॥१८४॥

जीवों का पुद्गलों का जाना हो वहीं तक ।
धर्मास्तिकाय रहता सहकारि जहां तक ॥
धर्मास्ति काय का कहां अभाव है आगे ।
इससे ही सिद्ध लोक से जाते नहीं आगे ॥१८४॥

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धम् । जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं विभावक्रिया षट्कापक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः । अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया

भावार्थ—कर्मों से छूटना ही मुक्ति है और जो कर्मों से छूट चुके हैं वे ही मुक्त हैं । पुनः मुक्ति और मुक्त जीवों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि मुक्ति के बिना मुक्त जीव अथवा मुक्त जीवों के बिना मुक्ति नामकी कोई चीज नहीं है ।

गाथा १८४

अन्वयार्थ—[**जीवानां पुद्गलानां गमनं**] जीवों का और पुद्गलों का गमन [**जानीहि**] वहां तक ही जानो कि [**यावत् धर्मास्तिकः**] जहां तक धर्मास्तिकाय है, [**धर्मास्तिकाया भावे**] क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में [**तस्मात् परतः**] उससे आगे [**न गच्छंति**] नहीं जाते हैं ।

टीका—यहां सिद्धक्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्गलों के गमन का निषेध किया है ।

जीवों की स्वभाव क्रिया सिद्धि के लिये गमन है और विभाव क्रिया छह अपक्रम से युक्त गमन है अर्थात् अन्य भव में जाते समय छह दिशाओं में जो गमन होता है उसे अपक्रम कहते हैं । पुद्गलों की स्वभाव क्रिया परमाणु की गति है और विभाव क्रिया द्व्यणुक आदि स्कंधों की गतिरूप है । इसलिये इनकी त्रिलोक शिखर के

नास्ति, परतो गतिहेतोर्धर्मास्ति कायाभावात्; यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति। अत एव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रिया-परिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति।

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः।
नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ॥३०४॥

णियमं णियमस्स फलं, णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥१८५॥

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या।
पूर्वापरविरोधो मार्जयित्वा पूरयन्तु समयज्ञाः ॥१८५॥

इस विध से जो नियम है औ उस नियम का फल।
प्रवचन की भक्ति से ही, मैंने कहा सकल॥
यदि इसमें कुछ भी पूर्वापर से विरोध हो।
शोधन करें उसका जो, ज्ञानी विशेष हों॥१८५॥

ऊपर गतिक्रिया नहीं है, क्योंकि उसके आगे गति के हेतुभूत ऐसे धर्मास्तिकाय का अभाव है, जैसे जल के अभाव में मछलियों की गति क्रिया नहीं होती है। इसलिये जहां तक धर्मास्तिकाय रहता है उतने क्षेत्र पर्यंत ही स्वभाव और विभावरूप गति क्रिया में परिणत हुये जीव और पुद्गलों का गमन होता है।

[टीकाकार मुनिराज इसी बात को कलश काव्य से कहते हैं—]

(३०४) **श्लोकार्थ**—त्रिलोक शिखर से ऊपर में जीव और पुद्गल इन दोनों का गमन नहीं होता है। क्योंकि वहां नित्य ही गति हेतुक (धर्मास्तिकाय) का अभाव है।

गाथा १८५

अन्वयार्थ—[**नियमः नियमस्य फलं**] नियम और नियम का फल [**प्रवचनस्य भक्त्या**] प्रवचन की भक्ति से [**निर्दिष्टं**] कहा गया है। [**यदि पूर्वापरविरोधः**] यदि

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोयम् । नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम् । न कवित्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तमं पदं कुर्वन्त्विति ।

(मालिनी)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

इसमें पूर्वापर विरोध हो तो [**समयज्ञाः**] आगम के ज्ञाता [**अपनीय**] उसे दूर करके [**पूरयंतु**] पूर्ण करें ।

शास्त्र के आरम्भ में कथित नियम शब्द का और उसके फल का यह उपसंहार है ।

नियम तो शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यान स्वरूप से प्रतिपादित किया गया है और उसका फल परम निर्वाण है ऐसा प्रतिपादित किया है कवित्व के गर्व से मैंने यह कथन नहीं किया है । किंतु प्रवचन की भक्ति से यह सब प्रतिपादित किया गया है । यदि इसमें पूर्वापर दोष होवे तो आगम वेत्ता परमकवीश्वर उन दोषात्मक पदों का लोप करके दूर करके उत्तम पद को कर लेवें, ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार मुनिराज नियम और उसके फल के महत्त्व को कहते हुए एक काव्य कहते हैं—]

(३०५) **श्लोकार्थ**—यह नियमसार और उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में जयशील हो रहा है, क्योंकि वह निर्वाण का कारण है । प्रवचन की भक्ति से सूत्रकार श्री कुंदकुंददेव ने जो कहा है वह निश्चितरूप से अखिल भव्य समूह के लिये निर्वाण का मार्ग है ।

ईसाभावेण पुणो, केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥१८६॥

ईर्षाभावेन पुनः केचिन्निन्दन्ति सुन्दरं मार्गम् ।
तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुध्वं जिनमार्गे ॥१८६॥

कुछ लोग ईर्ष्या से सुन्दर सुमार्ग की ।
निंदा किया करते हैं मिथ्यात्व के वश ही ॥
उनके वचन को सुनकर जिनमार्ग के प्रति ।
तुम भक्ति को न छोड़ो नित प्रति करो रति ॥१८६॥

इह हि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् । केचन मंदबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकलक्षणनिर्विकल्पकनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धरत्नत्रय – प्रतिपक्षमिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरायणाः ईर्ष्याभावेन समत्सरपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचाररत्नत्रयात्मकं अभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं

गाथा १८६

अन्वयार्थ—[**पुनः ईर्षाभावेन**] पुनः ईर्षाभाव से [**केचित्**] कोई लोग [**सुन्दरं मार्गं निंदन्ति**] सुन्दर मार्ग की निंदा करते हैं, [**तेषां वचनं**] उनके वचन [**श्रुत्वा**] सुनकर [**जिनमार्गे**] जिनेंद्र देव के मार्ग में [**अभक्तिं मा कुरुध्वं**] तुम लोग अभक्ति मत करो ।

टीका—यहां पर भव्यजीव के लिये शिक्षा दी है ।

कोई मंद बुद्धि वाले त्रिकाल निरावरण नित्यानंदरूप एक लक्षण वाले निर्विकल्प ऐसे निजकारण परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान उसीका ज्ञान और उसीमें अनुष्ठान रूप जो शुद्ध रत्नत्रय है उसके प्रतिपक्षी ऐसे मिथ्यात्व कर्म के उदय की सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में परायण हुये जीव ईर्ष्याभाव से मत्सरसहित परिणाम से सुन्दर मार्ग को जो कि पाप क्रिया से निवृत्ति त्यागरूप है, भेदोपचार रत्नत्रयात्मक है और अभेदोपचार रत्नत्रयात्मक है ऐसे वीतराग सर्वज्ञ देव

त्मकमभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति, तेषां स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यभक्तिं जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गे हे भव्य मा कुरुष्व, पुनर्भक्तिः कर्तव्येति ।

(शार्दूलविक्रीडित)

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनीषावने*
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ।।३०६।।

तथा हि—

के मार्ग की कोई लोग निंदा करते हैं। उन स्वरूप से शून्य हुये जनों के कुहेतु और कुदृष्टांत से सहित कुतर्क वचन को सुनकर जिनेश्वर देव के द्वारा प्रणीत शुद्ध रत्नत्रय मार्ग में हे भव्य ! तुम अभक्ति मत करो, किंतु तुम्हें उस मार्ग में भक्ति ही करना चाहिए।

[अब टीकाकार मुनिराज जिनेन्द्र देव की भक्ति की प्रेरणा देते हुए दो कलश काव्य कहते हैं—]

(३०६) श्लोकार्थ—देह समूहरूपी वृक्ष पंक्ति से जो भयप्रद है, दुःख परंपरा रूपी जंगली पशुओं से जो व्याप्त है, अति कराल कालरूपी अग्नि जहां पर सबका भक्षण कर रही है, जिसमें बुद्धिरूपी जल सूख रहा है और जो दर्शन मोह से सहित जीवों के लिए नाना दुर्नयरूपी मार्गों से अत्यन्त दुर्गम है ऐसे इस संसाररूपी विकट वन में जैन दर्शन ही एक शरण है।

भावार्थ—मिथ्यात्व से ग्रसित हुए प्राणियों के लिए इस संसार में एक जैन धर्म ही परम शरण है, अन्य कुछ नहीं है।

---

* यहां कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेऽत्युत्सुका ॥३०७॥

णियभावणाणिमित्तं, मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८७॥

निजभावनानिमित्तं मया कृतं नियमसारनामश्रुतम् ।
ज्ञात्वा जिनोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ॥१८७॥

जिनमें विरोध पूर्वापर से कभी नहीं ।
ऐसा जिनोपदेश मैंने जानकर के ही ॥
निज आत्म भावना को भाने के लिये ही ।
यह नियमसार नामक श्रुत की रचा सही ॥१८७॥

---

(३०७) **श्लोकार्थ**—जिनप्रभु का यह ज्ञानरूपी शरीर लोकालोक का स्थान है, जिन्होंने शंख की ध्वनि से अखिल-भूमण्डल को कम्पित कर दिया था ऐसे उन श्री नेमिनाथ तीर्थंकर का स्तवन करने के लिये तीन लोक में भी कोई मनुष्य अथवा देव समर्थ है ? फिर भी उनके स्तवन में कारण केवल एक जिनेन्द्र देव के प्रति अति उत्सुक भक्ति ही है ऐसा मैं समझता हूं ।

भावार्थ—श्री नेमि जिनेन्द्र देव की स्तुति करने के लिए यद्यपि मैं समर्थ नहीं हूं फिर भी उनके प्रति उत्कट भक्ति ही मुझे स्तुति करने में वाचालित कर रही है ।

गाथा १८७

अन्वयार्थ—[**पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं**] पूर्वापरदोष से रहित ऐसे [**जिनोपदेशं ज्ञात्वा**] जिनेन्द्र देव के उपदेश को जानकर [**मया**] मैंने [**निज भावना निमित्तं**] अपनी भावना के निमित्त [**नियमसार नामश्रुतं**] नियमसार नामक शास्त्र को [**कृतं**] कहा है ।

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोयम् । अत्राचार्याः प्रारब्धस्यान्तगमनत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निजभावनानिमित्तमशुभवंचनार्थं नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृतम् । किं कृत्वा, पूर्वं ज्ञात्वा अवंचकपरमगुरुप्रसादेन बुद्ध्वेति । कम् ? जिनोपदेशं वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गतपरमोपदेशम् । तं पुनः किं विशिष्टम् ? पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहरागद्वेषाभावादाप्तमुखविनिर्गतत्वान्निर्दोषमिति ।

टीका—शास्त्र के नामकरण के कथन द्वारा यह इस शास्त्र के उपसंहार का कथन है ।

यहां पर आचार्यवर्य श्री कुंदकुंद भगवान प्रारम्भ किये हुए ग्रन्थ के अंत को प्राप्त करने से अतिशय रूप कृतार्थता को प्राप्त होकर कहते हैं कि निज भावना के निमित्त से अशुभ की वंचना के लिये सैकड़ों परम अध्यात्म शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने इस "नियमसार" नामक शास्त्र को रचा है ।

प्रश्न—क्या करके यह शास्त्र रचा है ?

उत्तर—पहले जानकर अवंचक परमगुरु के प्रसाद से समझकर इसको रचा है ।

प्रश्न—किसको जानकर ?

उत्तर—जिनोपदेश को—वीतराग सर्वज्ञदेव के मुखारविंद से निकले हुए ऐसे परम उपदेश को जानकर ।

प्रश्न—पुनः वह उपदेश कैसा है ?

उत्तर—पूर्वापर दोष में हेतु भूत ऐसे सकल मोह, राग, द्वेष का अभाव हो जाने से जो आप्त सच्चे देव हैं, उनके मुख कमल से निर्गत होने से जो निर्दोष हैं इसलिये यह पूर्वापर दोष रहित है ।

[अब इस शास्त्र का उपसंहार करते हुए टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—]

किञ्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसंसूचित-विशुद्धमोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्य-विचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रति-क्रमणप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकांडाडंबर-समृद्धस्य उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति। सूत्रतात्पर्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्, शास्त्रतात्पर्यं त्विदमुपदर्शनेन। भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाध-निरन्तरानंगपरमानन्दप्रदं निरतिशय नित्यशुद्धनिरंजननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं समस्तनयनिचयांचितं पंचमगतिहेतुभूतं पंचेन्द्रियप्रसरवंजितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं

जो नियमसार शास्त्र निश्चित रूप से संपूर्ण आगम के अर्थ समूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है, 'नियम' शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग को जिसने सम्यक् प्रकार से सूचित किया है, जो श्रेष्ठ पंचास्तिकाय के वर्णन से सहित है, जिसमें पंचाचार का विस्तृत वर्णन संग्रहीत है। जो छह द्रव्यों के वर्णन से विचित्र है, जिसमें सात तत्त्व और नव पदार्थ गर्भित हैं, जो पांच प्रकार के भावों को विस्तार से प्रतिपादित करने में परायण है, जो निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय प्रायश्चित्त, परम आलोचना, नियम व्युत्सर्ग आदि समस्त परमार्थ क्रिया कांड के आडम्बर से समृद्धशाली है और जो तीन उपयोगों से महान् है ऐसे इस परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो प्रकार का तात्पर्य है—एक सूत्र तात्पर्य दूसरा शास्त्र तात्पर्य।

सूत्र का तात्पर्य तो पद्य—गाथा के कथन से प्रत्येक सूत्र में ही प्रतिपादित किया गया है और शास्त्र का तात्पर्य निम्न टीका के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। यह नियमसार शास्त्र भागवत् शास्त्र है, जो कि निर्वाण सुन्दरी से उत्पन्न होने वाले परम वीतरागी स्वरूप, अव्याबाध, निरंतर और अनंग—अतीन्द्रिय परमानन्द को देने वाला है, जो निरतिशय, नित्य शुद्ध, निरंजन, निजकारण परमात्मा की भावना का कारण है, जो समस्त नयों के समुदाय से सुशोभित है, जो पंचमगति का कारणभूत है, और जो पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित गात्र—मात्र परिग्रहधारी—दिगम्बर महामुनि के

ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्र-हृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रह-प्रपंचाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मक-भेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति ।

(मालिनी)

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्तं
ललितपदनिकायैर्निर्मितं शास्त्रमेतत् ।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

द्वारा रचित है, ऐसे इस शास्त्र को जो निश्चित रूप से निश्चय और व्यवहार नय के अविरोध से जानते हैं, वे समस्त अध्यात्म शास्त्र के रहस्य को जानने वाले, परमानन्द वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्य-अभ्यन्तर ऐसे चौबीस प्रकार के परिग्रह रूप प्रपंच के परित्यागी, त्रैकालिक उपाधि रहित स्वरूप में लीन हुए निजकारण परमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप ऐसे भेदोपचार कल्पना से निरपेक्ष, स्वस्थ, रत्नत्रय में तत्पर होते हुए महापुरुष निश्चित रूप से शब्दब्रह्म के फलस्वरूप शाश्वत सुख के भोक्ता हो जाते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस भागवत् स्वरूप नियमसार ग्रंथ की तात्पर्य-वृत्ति टीका को पूर्ण करते हुए चार कलश काव्यों के द्वारा ग्रंथ के माहात्म्य को तथा शुभ कामना को व्यक्त कर रहे हैं ।]

(३०८) **श्लोकार्थ**—सुकविजनरूपी कमलों को आनन्दित करने में सूर्य स्वरूप ऐसे पद्मप्रभ मलधारि देव ने ललित पदसमूहों से इस प्रशस्त शास्त्र को बनाया है । जो विशुद्ध आत्मा के आकांक्षी जीव इसको अपने हृदय में धारण करते हैं वे परम लक्ष्मीरूपी कामिनी के प्रियकांत हो जाते हैं ।

(अनुष्टुभ्)

पद्मप्रभाभिधानोद्घसिन्धुनाथसमुद्भवा ।
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०९॥

(अनुष्टुभ्)

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

(वसन्ततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे
तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिंबम् ।
तात्पर्यवृत्तिरपहस्ततहेयवृत्तिः
स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

(३०९) **श्लोकार्थ**—पद्मप्रभ नाम के उत्कृष्ट समुद्र से उत्पन्न हुई यह रचना रूपी-तरंगमाला है, वह सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहे ।

(३१०) **श्लोकार्थ**—इस ग्रंथ में कोई पद व्याकरण शास्त्र से विरुद्ध होवे तो भद्रस्वभावी कविजन उसका लोप करके पदों को उत्तम कर लेवें ।

भावार्थ—यदि इस शास्त्र में व्याकरण शास्त्र से कोई पद, वाक्य गलत हो तो भद्र परिणामी कवि इसको सुधार कर पढ़ें, यह तात्पर्य है ।

(३११) **श्लोकार्थ**—जब तक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्र बिंब सुन्दर सदागतिपथ-आकाश मार्ग में शोभित होता रहे तभी तक जिसने हेयवृत्तियों को दूर कर दिया है, ऐसी यह तात्पर्यवृत्ति व्याख्या सत्पुरुषों के विशाल हृदय में स्थित रहे ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशः श्रुतस्कन्धः ।।

समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के सदृश पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित गात्र-मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारि देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्य वृत्ति नामक टीका में शुद्धोपयोग-अधिकार नामक बारहवां श्रुत स्कन्ध समाप्त हुआ ।

भाषानुवादकर्त्र्याः प्रशस्तिः

महावीरं जिनं नत्वा महावीरैकशासनम् ।
भारतीं सर्वसाधूंश्च स्तौमि सिद्धिफलाप्तये ।। १ ।।

प्रसिद्धे मूलसंघेऽस्मिन् कुंदकुंदान्वयाभिधे ।
ख्याते सरस्वतीगच्छे बलात्कारे गणे शुभे ।। २ ।।

तस्मिन्नाचार्यमालास्ति जिनसूत्रेण गुम्फिता ।
तस्यामेको मणिः संप्रत्याचार्यः शांतिसागरः ।। ३ ।।

कलिकालैकनेताऽसौ मुनिमार्गस्य दर्शकः ।
चारित्र चक्रभृन्नैच्यप्यकिञ्चनो दिगम्बरः ।। ४ ।।

चतुःसंघैकधौरेय नप्तृटे वीरसागरः ।
मम दीक्षागुरुर्जीयात् महाव्रतप्रदायकः ।। ५ ।।

ज्ञानमत्याख्ययैषाहमार्यिका भुवि विश्रुता ।
चतुरनुयोगवार्धीत्रगाहनतत्परा ।। ६ ।।

कष्टसहस्रीनाम्नाष्टसहस्रीग्रन्थभव्यमुम् ।
अनूद्याध्यात्मग्रन्थश्चानूदितो मातृभाषया ।। ७ ।।

वीराब्दे द्व्यधिके पंचविंशे चैत्रेऽसिते शुभे ।
नवम्यां च तिथौ क्षेत्र कुरुजाङ्गलदेशके ।। ८ ।।

हस्तिनागपुरे तीर्थे शांतिनाथजिनालये ।
शास्त्रनियमसारस्यानुवादः पूर्णतामगात् ।। ९ ।।

यावत्कं जैनधर्मोऽयं वर्तते भुवि सौख्यदः ।
तावत्कं सानुवादोऽयं ग्रंथो जगति विद्यताम् ।।१०।।

स्वात्मसौख्यामृतं महर्घं पठितृभ्योऽपि सत्वरम् ।
दद्यात् बोधिं समाधिं च शांतिमात्यंतिकीमपि ।।११।।

।। इति शं भूयात् ।।

५०२

भाषानुवाद कर्त्री की प्रशस्ति

श्री महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके भगवान् महावीर का एकच्छत्र शासन ऐसे जैन धर्म की, जिनवाणी भारती की और सर्व साधुओं की सिद्धिफल की प्राप्ति के लिये मैं स्तुति करती हूं।

श्री मूलसंघ में कुंदकुंदाम्नाय प्रसिद्ध है, उसमें सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण है। उसमें जिनसूत्र से गूंथी हुई ऐसी आचार्यों की परंपरारूप माला है। इस युग में उसी माला के एक मणिस्वरूप आचार्य श्री शांतिसागर महाराज हुये हैं। ये इस कलिकाल में मुनिमार्ग के दिखलाने वाले एक नेता थे। चारित्रचक्रवर्ती होते हुये भी अकिंचन दिगम्बर थे। उन्हीं के पट्ट पर चतुर्विध संघ के अधिनायक वीरसागर महाराज हुये हैं, ये मुझे महाव्रत की आर्यिका दीक्षा देने वाले मेरे दीक्षा गुरु सदा जयशील होवें। सो मैं इस जगत में 'ज्ञानमती' नाम से आर्यिका हूं। मैं सतत चारों अनुयोग रूपी समुद्र में अवगाहन करती रहती हूं।

जिसका 'कष्ट सहस्री' दूसरा नाम है ऐसे 'अष्ट सहस्री' नामक न्याय ग्रंथ का मैंने मातृ भाषा में अनुवाद करके पश्चात् इस अध्यात्मग्रन्थ नियमसार का हिंदी अनुवाद किया है। वीर संवत् पच्चीस सौ दो (२५०२) में, चैत्र कृष्णा नवमी जो कि ऋषभदेव का जन्म दिवस है इसलिये शुभ तिथि है उस पवित्र तिथि में, कुरुजांगल देश में स्थित हस्तिनापुर नामक तीर्थक्षेत्र पर श्री शांतिनाथ भगवान् के मन्दिर में इस 'नियमसार' शास्त्र का अनुवाद पूर्ण हुआ है।

जब तक इस पृथ्वी तल पर सुख को देने वाला यह जैन धर्म रहेगा, तब तक इस जगत में अनुवाद सहित यह ग्रंथ विद्यमान रहे। यह ग्रंथ मुझे और पढ़ने वालों को भी स्वात्मसुखरूपी अमृत को देवे तथा शीघ्र ही बोधि–रत्नत्रय की प्राप्ति, समाधि और आत्यंतिक शांति को भी प्रदान करे।

॥ इति शं भूयात् ॥

परिशिष्ट

जिन गाथाओं में दिगम्बर मुनियों के वाचक मुनि, साधु, श्रमण, संयत, आचार्य, उपाध्याय ये शब्द आये हैं। वे गाथायें:—

१. पंचाचारसमग्गा, पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा, **आयरिया** एरिसा होंति ॥७३॥

२. रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावरहिया, **उवज्झाया** एरिसा होंति ॥७४॥

३. वावारविप्पमुक्का, चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा, **साहू** एदेरिसा होंति ॥७५॥

४. मोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु **साहु** परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

५. चत्ता अगुत्तिभावं, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो **साहू**।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

६. उत्तम अट्ठं आदा, तम्हि ठिदा हणदि **मुणिवरा** कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि, उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥९२॥

७. झाणणिलीणो **साहू**, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

८. एवं भेदब्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि, धरिदुं सो **संजदो** णियमा ॥१०६॥

९. णोकम्मकम्म रहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि, **समणस्सालोयणं** होदि ॥१०७॥

१०. उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स ॥११६॥

११. किं बहुणा भणिएण दु, चरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माण खयहेउ ॥११७॥

१२. किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

१३. सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ।१३४॥

१४. रायादी परिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य कह हवे जोगो ॥१३७॥

१५. सव्वविय्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥

१६. वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

१७. जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

१८. आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

१९. आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासय परिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

२०. जो धम्मसुक्क झाणम्हि, परिणदो सोवि अंतरंगप्पा ।
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

२१. पडिकमणपहुदि किरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
वेण दु विराग चरिए, **समणो** अब्भुट्ठिदो होदि ।।१५२।।

२२. जिणकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण **जोई**, णियकज्जं साहये णिच्चं ।।१५५।।

जिन गाथाओं में व्यवहार निश्चयनयों का नाम आया है वे गाथायें निम्न-लिखित हैं—

१. कत्ताभोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि **ववहारा** ।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु **णिच्छयदो** ।।८।।

२. **दव्वत्थिएण** जीवा, वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणएण जीवा, संजुत्ता होंति दुविहेहिं ।।१९।।

३. एदे सव्वे भावा, **ववहारणयं** पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, **सुद्धणया** संसिदी जीवा ।।४९।।

४. ववहारणयचारित्तो, **ववहारणयस्स** होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्तो, तवचरणं होदि **णिच्छयदो** ।।५५।।

५. कालुस्समोहसण्णा रागद्दोसाइअसुह भावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती, **ववहारणएण** परिकहियं ।।९६।।

६. एरिसयभावणाए, **ववहारणयस्स** होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि ।।३६।।

७. मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं, **ववहारणयेण** परिकहियं ।।१३५।।

८. जाणदि पस्सदि सव्वं, **ववहारणएण** केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि **णियमेण** अप्पाणं ।।१५९।।

९. णाणं परप्पयासं **ववहारणएण** दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो, **ववहारणएण** दंसणं तम्हा ॥१६४॥

१०. णाणं अप्पपयासं, **णिच्छयणयएण** दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो, **णिच्छयणयएण** दंसणं तम्हा ॥१६५॥

कुछ विशेष गाथायें :

अन्य करणानुयोग ग्रन्थ से जानने की प्रेरणा—

चउदह भेदा भणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं **लोयविभागेसु** णादव्वं ॥ १७ ॥

इस काल में ध्यानमय क्रियायें शक्य नहीं हैं—

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, **सद्दहणं** चेव कायव्वं ॥१५४॥

सभी तीर्थंकरों ने योगभक्ति की है—

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥१४०॥

सभी महापुरुषों ने आवश्यक के बल से केवलज्ञान पाया है—

सव्वे **पुराणपुरिसा**, एवं आवासयं य काऊण ।
अपमत्तापहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा ॥१५८॥

यह गाथा समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में भी आई है—

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, **जीव** मणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४६॥

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित कलशकाव्य (विशेष काव्य)

पद्मप्रभस्तुति—

१. जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः,
सुकृतनिलयगोत्रः पंडिताम्भोजमित्रः ।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहित्यमित्र,
सकलहितचरित्रः, **श्रीसुसीमासुपुत्रः** ॥९६॥

२. मदननगसुरेशः कांतकायप्रदेशः
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः ।
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः **चारुपद्मप्रभेशः** ॥१००॥

३. **पद्मप्रभाभिधानोद्यसिंधुनाथसमुद्भवा ।**
उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०१॥

नेमिनाथ स्तुति—

४. शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरगिरिसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं वा **नेमिरानंदभूमिः** ॥१३॥

५. जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेसहान्त-
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम् ।
तमपि किल यजेहं, **नेमितीर्थंकरेशं**
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥१४॥

६. लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं **श्रीनेमितीर्थेश्वरम्** ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनंदत्युत्सुका ॥३०७॥

वीरजिन स्तुति—

७. जयति जगति **वीरः** शुद्धभावास्तमारः
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८॥

८. इत्थं बुद्धबोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चितांघ्रेः ।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः ॥६१॥

जिनेंद्रदेव की स्तुति के अनेक श्लोक हैं उनमें से यहां एक देते हैं—

९. नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जड़मते ! पुण्यार्जितास्ते ननु ।
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वंद्वार्चनायामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥२९॥

आचार्यों के नामस्मरण—

१०. सिद्धांतोद्यश्रीधवं **सिद्धसेनं**, तर्काब्जार्कं **भट्टपूर्वाकलंकम्** ।
शब्दाब्धीन्दुं **पूज्यपादं** च वंदे, तद्विद्याढ्यं **वीरनंदि** व्रतीन्द्रम् ॥३॥

११. सकलकरणग्रामालम्बाद्विमुक्तमनाकुलम् ।
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम् ।
शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरम्
निरुपममिदं वंद्यं **श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः** ॥१०४॥

१२. नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये, स्मरेभकुंभस्थलभेदनाय वै ।
विनेयपंकेज विकासभानवे, विराजते **माधवसेनसूरये** ॥१०८॥

१३. यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षोर्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय, **श्रीवीरनंदिमुनिनामधराय नित्यम्** ।।२६।

इस काल में सच्चे मुनि हैं—

१४. कोऽपि क्वापि **मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं**
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्म रक्षामणिः ।
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेक परिग्रहव्रजिकरः पापाटवीपावकः ।।२४१।।

१५. भावाः पंच भवंति येषु सततं भावः परः पंचमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्या पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति **कलौ युगे मुनिपतिः** पापाटवीपावकः ।।२६७।।

इस काल में ध्यान शक्य नहीं तो श्रद्धान करना चाहिये—

१६. असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्नद्यजिननाथस्य भवति ।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं **स्वीकृतमिदम्** ।।२६४।।

अध्यात्म से संयमरत्नमाला निकाली है—

१७. अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशेर्मयोद्धृता **संयमरत्नमाला** ।
बभूव या तत्त्वविदां सुकंठे, सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ।।१८७।।

आलोचना कामधेनु है—

१८. **आलोचना** सनातनशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तमार्गफलदा यन्नामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल **कामधेनुः** ।।१७२।।

१९. शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ, संसृतावपि च नास्ति विशेषः ।
एवमेव खलु **तत्त्वविचारे**, शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदंति ॥७३॥

२०. **शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं** यस्य चित्तालये बभौ ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥१२४॥

२१. निर्यापकाचार्य निरुक्तियुक्ता-मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तं ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात् **तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै** ॥१२५॥

२२. जयति सहजतेजः प्रास्तरागांधकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्र शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥१२६॥

२३. अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ्नित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः **किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः** ॥१२४३॥

२४. **मुक्त्वा** जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यंतरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकं ।
ज्ञानज्योतिः प्रकटित निजाभ्यन्तरागान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमंतर्ददर्श ॥१२६॥

❀ श्री नियमसार की वर्णानुक्रम सूची ❀

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अइथूलथूल थूलं	२१	६६
अणुखंधवियप्पेण दु	२०	६४
अण्णणिरावेक्खो जो	२८	७६
अत्तागमतच्चाण	५	१२
अत्तादि अत्तमज्झं	२६	७४
अप्पसरूवं पेच्छदि	१६६	४४६
अप्पसरूवालंबण	११६	३३२
अप्पाणं विणु णाणं	१७१	४६०
अप्पा परप्पयासो	१६३	४४३
अरसमरूवमगंधं	४६	१३३
अव्वाबाहमणिंदिय	१७८	४७७
असरीरा अविणासा	४८	१३७
अंतरबाहिरजप्पे	१५०	४२०
आ		
आउस्स खयेण पुणो	१७६	४७३
आदा खु मज्झ णाणे	१००	२६६
आराहणाइ वट्टइ	८४	२१३
आलोयणमालुंछण	१०८	२६४
आवासं जइ इच्छसि	१४७	४०३
आवासएण जुत्तो	१४६	४०७
आवासएण हीणो	१४८	४०५
ई		
ईसाभावेण पुणो	१८६	४६३
ईहापुव्वं वयणं	१७४	४६७
उ		
उक्किट्ठो जो बोहो	११६	३२५
उत्तमअट्ठं आदा	६२	२३६
उम्मग्गं परिचत्ता	८६	२१८
उसहादिजिणवरिंदा	१४०	३७६
ए		
एको मे सासदो अप्पा	१०२	२७३
एगो य मरदि जीवो	१०१	२७०
एदे छद्दव्वाणि य	३४	६६
एदे सव्वे भावा	४६	१४०
एयरसरूवगंधं	२७	७६
एरिसभेदब्भासे	८२	२०६
एरिसय भावणाए	७६	१६६
एवं भेदब्भासं	१०६	२८३
क		
कत्ता भोत्ता आदा	१८	५४
कदकारिदाणुमोदण	६३	१६६
कम्ममहीरुहमूल	११०	३००
कम्मादो अप्पाणं	१११	३०३
कायकिरियाणियत्ती	७०	१८३
कायाईपरदव्वे	१२१	३३७
कालुस्समोहसण्णा	६६	१७५
किं काहदि वणवासो	१२४	३४५
किं बहुणा भणिएण दु	११७	३२७
कुलजोणिजीवमग्गण	५६	१५२
केवलणाणसहावो	६६	२५५
केवलमिंदियरहियं	११	३१
कोहं खमया माणं	११५	३२०
कोहादिसगब्भाव-	११४	३१६

	गाथा	पृष्ठ
ग		
गमणणिमित्तं धम्म-	३०	८४
गामे वा णयरे वा	५८	१५६
घ		
घणघाइकम्मरहिया	७१	१८४
च		
चउगइभवसंभमणं	४२	१२०
चउदहभेदा भणिदा	१७	४६
चक्खु अचक्खू ओही	१४	४२
चत्ता ह्यगुत्तिभावं	८८	२२३
चल मलिणमगाढत्त-	५२	१४५
छ		
छायातवमादीया	२३	६६
छुहतण्हभीरुरोसो	१	६
ज		
जं किंचि मे दुच्चरित्तं	१०३	२७५
जदि सक्कदि कादुं जे	१५४	४१८
जस्स रागो दु दोसो दु	१२८	३५६
जस्स सण्णिहिदो अप्पा	१२७	३५४
जाइजरमरणरहियं	१७७	४७५
जाणंतो पस्संतो	१७२	४६५
जाणदि पस्सदि सव्वं	१५९	४३०
जा रायादिणियत्ती	६९	१८०
जारिसिया सिद्धप्पा	४७	१३६
जिणकहियपरमसुत्ते	१५५	४२०
जीवाण पुग्गलाण	१८४	४९०
जीवादिबहित्तच्चं	३८	१०५
जीवादीदव्वाणं	३३	९४
जीवादु पुग्गलादो	३२	९१
जीवा पोग्गलकाया	९	२५
जीवो उवओगमओ	१०	२९
जुगवं वट्टइ णाणं	१६०	४३४
जो चरदि संजदो खलु	१४४	३९३
जो ण हवदि अण्णवसो	१४१	३८४
जो दु अट्टं च रुद्दं च	१२९	३५७
जो दुगंछा भयं वेदं	१३२	३६२
जो दु धम्मं च सुक्कं च	१३३	३६४
जो दु पुण्णं च पावं च	१३०	३५९
जो दु हस्सं रई सोगं	१३१	३६२
जो धम्मसुक्कझाण-	१५१	४१२
जो पस्सदि अप्पाणं	१०९	२९६
जो समो सव्वभूदेसु	१२६	३४९
झ		
झाणणिलीणो साहू	९३	२४५
ठ		
ठाणणिसेज्जविहारा	१७५	४७०
ण		
णट्ठट्ठकम्मबंधा	७२	१८८
णमिऊण जिणं वीरं	१	४
णरणारयतिरियसुरा	१५	४६
ण वसो अवसो अवस-	१४२	३८७
णवि इंदिय उवसग्गा	१८०	४८२
णवि कम्मं णोकम्मं	१८१	४८४
णवि दुक्खं णवि सुक्खं	१७९	४८०
णंताणंतभवेण स-	११८	३३०
णाणं अप्पपयासं	१६५	४४७
णाण जीवसरूवं	१७०	४५७
णाणं परप्पयासं	१६१	४३८
णाणं परप्पयासं	१६२	४४०
णाणं परप्पयासं	१६४	४४४
णाणाजीवा णाणा-	१५६	४२२
णाहं कोहो माणो	८१	२००
णाहं णारयभावो	७७	२००

	गाथा	पृष्ठ
णाहं बालो बुड्ढो	७६	२००
णाहं मग्गणठाणो	७८	२००
णाहं रागो दोसो	८०	२००
णिक्कसायस्स दंतस्स	१०५	२८१
णिग्गंथो णीरागो	४४	१३०
णिद्दंडो णिद्दंद्वो	४३	१२५
णियभावणाणिमित्तं	१८७	४६५
णियभावं णवि मुच्चइ	६७	२५८
णियमं णियमस्स फलं	१८५	४६१
णियमं मोक्खउवायो	४	१०
णियमेण य जं कज्जं	३	८
णिव्वाणमेव सिद्धा	१८३	४८८
णिस्सेसदोसरहिओ	७	१६
णोकम्मकम्मरहियं	१०७	२६१
णो खइयभावठाणा	४१	११३
णो खलु सहावठाणा	३६	१०७
णो ठिदिबंधट्ठाणा	४०	१०६
त		
तस्स मुहग्गदवयणं	८	२३
तह दंसणउवओगो	१३	३७
थ		
थीराजचोरभत्तक-	६७	१७७
द		
दट्ठूण इच्छिरूवं	५६	१५७
दव्वपुणपज्जयाणं	१४५	३६६
दव्वत्थिएण जीवा	१६	५७
ध		
धाउचउक्कस्स पुणो	२५	७१
प		
पडिकमणणामधेये	६४	२४७
पडिकमणपहुदिकिरियं	१५२	४२५
पयडिट्ठिदिअणुभाग-	६८	२६२
परिचत्ता परभावं	१४६	३६८
परिणामपुव्ववयणं	१७३	४६७
पंचाचारसमग्गा	७३	१६०
पासुगभूमिपदेसे	६५	१७२
पासुगमग्गेण दिवा	६१	१६०
पुग्गलदव्वं मोत्तं	३७	१०१
पुव्वुत्तसयलदव्वं	१६८	४५३
पुव्वुत्तसयलभावा	५०	१४३
पेसुण्णहासकक्कस-	६२	१६३
पोग्गलदव्वं उच्चइ	२६	८१
पोयइकमंडलाई	६४	१६६
ब		
बंधणछेदणमारण	६८	१७६
भ		
भूपव्वदमादीया	२२	६६
म		
मग्गो मग्गफलं ति य	२	६
मदमाणमायलोहवि-	११२	३०६
ममत्तिं परिवज्जामि	६६	२६३
माणुस्सा दुवियप्पा	१६	४६
मिच्छत्तपहुदिभावा	६०	२३३
मिच्छादंसणणाण-	६१	२३७
मुत्तममुत्तं दव्वं	१६७	४५१
मोक्खपहे अप्पाणं	१३६	३७२
मोक्खंगयपुरिसाणं	१३५	३६६
मोत्तूण अट्टरुद्दं	८६	२२७
मोत्तूण अणायारं	८५	२१५
मोत्तूण वयणरयणं	८३	२०६
मोत्तूण सयलजप्पम-	६५	२५३
मोत्तूण सल्लभावं	८७	२२१

	गाथा	पृष्ठ
र		
रयणत्तयसंजुत्ता	७४	१९२
रागेण व दोसेण व	५७	१५४
रायादीपरिहारे	१२७	३७४
ल		
लद्धूणं णिहि एक्को	१५७	४२४
लोयायासे ताव	३६	९९
लोयालोयं जाणइ	१६९	४५४
व		
वट्टदि जो सो समणो	१४३	३८८
वण्णरसगंधफासा	४५	१३३
वदसमिदिसीलसंजम-	११३	३१६
वयणमयं पडिकमणं	१५३	४१६
वयणोच्चारणकिरियं	१२२	३४१
ववहारणयचरित्तो	५५	१४६
वावारविप्पमुक्का	७५	१९४
विज्जदि केवलणाणं	१८२	४८६
विरदो सव्वसावज्जे	१२५	३४८
विवरीयाभिणिवेसवि-	५१	१४५
विवरीयाभिणिवेसं	१३९	३७७
स		
सण्णाणा चउभेयं	१२	३१
समयावलिभेदेण दु	३१	८७
सम्मत्तणाणचरणे	१३४	३६७
सम्मत्तस्स णिमित्तं	५३	१४५
सम्मं सण्णाणं	५४	१४६
सम्मं मे सव्वभूदेसु	१०४	२७८
सव्वविअप्पाभावे	१३८	३७५
सव्वे पुराणपुरिसा	१५८	४२६
सव्वेसिं गंथाणं	६०	१५८
संखेज्जासंखेज्जा-	३५	९९
संजमणियमतवेण दु	१२३	३४३
सुहमसुहवयणरयणं	१२०	३३४
सुहमा हवंति खंधा	२४	६६

— कलशकाव्यों की वर्णानुक्रम सूची —

—卐—

	श्लोक	पृष्ठ
अ		
अक्षय्यान्त-	१६३	३०५
अखंडितमनारतं	१४६	२८७
अचेतने पुद्गल-	४५	८३
अत एव भाति नित्यं	२४४	३६२
अतितीव्रमोहसंभव-	१११	२१२
अत्यपूर्वनिजात्मोत्थ-	२३६	३८२
अथ जिनपति मार्ग-	१७१	३११
अथ जिनमतमुक्ते-	३०३	४८६
अथ तनुमनोवाचां	११८	२२६
अथ नययुगयुक्ति	३६	६२
अथ निजपरमानंदे-	११३	२१७
अथ नियतमनोवा-	१३४	२६५
अथ भवजलराशौ	१२१	२३६
अथ मम परमात्मा	१३८	२७४
अथ विविधविकल्पं	१६८	३०७
अथ सकलजिनोक्त-	१७	३०
अथ सति परभावे	२४	४४
अथ सति परमाणो-	४१	७८
अथ सुललितवाचां	१६६	३०८
अद्वन्द्वनिष्ठमनघं	२३७	३८२
अध्यात्मशास्त्रा-	१८७	३२६
अनवरतमखण्ड-	६०	१२४
अनवरतमखण्डा-	१६२	३३१
अनशनादि-	१८४	३२८
अनशनादि-	२०२	३४७
अनशनादि-	२५१	४०१
अनादिममसंसार-	१६७	३०७
अनिशमतुलबोधा-	६४	१२६
अन्यवशः संसारी	२४३	३६२
अवगतपरमात्म-	११२	२१५
अपरिस्पंदरूपस्य	६५	१८४
अपवर्गाय भव्यानां	४	३
अपि च बहुविभावे	२७	४८
अपि च सकलराग-	२०	५५
अपुनर्भवसुख-	२३३	३८१
अभ्यात्मति स्थिति बुद्ध्वा	४०	७६
अभिनवमिदमुच्चै-	२४०	३६०
अभिनवमिदं पाप	१७५	३१२
अयं जीवो जीव-	२१७	३६१
अविचलितमखंड-	२६६	४७६
असति च मति वर्त्म	७०	१३५
असति सति विभावे	३४	५७
असारे संसारे	२६४	४१६
अस्माकं मानसान्युच्चैः	६	३
अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य	३१०	४६६
अस्मिन् लोके	२६८	४२६
अहमात्मा सुखाकांक्षी	२०७	३५२
आं		
आंक्षितपंचमगतये	५८	११८
आ		
आकर्षति रत्नानां	७८	१५७
आत्मज्ञानाद्भवति	१८६	३२६
आत्मध्यानाद-	१२३	२४५
आत्मन्युच्चैर्भवति	२३८	३८६
आत्मा जानाति विश्वं	२७२	४३३

	श्लोक	पृष्ठ
आत्मा ज्ञानं भवति	२७८	४४२
आत्मा ज्ञान भवति	२८१	४४८
आत्मा तिष्ठत्य-	२६२	४१६
आत्मा धर्मी भवति	२७९	४४४
आत्मानमात्मनात्मायं	२२८	३७५
आत्मानमात्मनि	१२९	२५९
आत्मा नित्यं तपसि	२१२	३५५
आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं	२८७	४६१
आत्मा भिन्नो भवति	१६२	३०४
आत्माराधनया होनः	२९९	४८२
आत्मावश्यं सहज-	२५६	४०७
आत्मा स्पष्टः	१५५	२९८
आत्मा ह्यात्मानमा-	१५४	२९७
आत्मा ह्यात्मानमा-	२२७	३७३
आद्यन्तमुक्तमनघं	६८	१३०
आलोचनाभेद-	१५३	२९५
आलोचना सतत-	१७२	३११
आलोच्यालोच्य	१५२	२९३
आसंसारादखिल-	१६१	३०३

इ

इति जिनमार्गाम्भोधे-	५१	९८
इति जिनपति मार्गाद्	४३	८२
इति जिनपतिमार्गा-	१६	२८
इति जिनशासनसिद्धं	२१४	३५९
इति निगदितभेद-	१८	३५
इति परगुणपर्या-	२५	४४
इति ललितपदाना-	५३	१०३
इति विपरीतविमुक्तं	१०	१०
इति विरचितमुच्चै-	५०	९५
इति विविधविकल्पे	३८	७१
इति सति मुनिनाथ-	११०	२०८
इत्थं निजजेन	६७	१३०
इत्थं बुद्ध्वा जिनेन्द्रस्य	२४९	४०१
इत्थं बुद्ध्वा परम-	८१	१६२
इत्थं बुद्ध्वोपदेशं	६१	१२५
इत्थं मुक्त्वा	२०३	३४९
इदमिदमघसेना-	२१०	३५३
इदं ध्यानमिदं ध्येय-	१९३	३३६
इह गमननिमित्त	४६	८७

ई

ईहापूर्वं वचन-	२८९	४६९

उ

उद्भूतकर्ममोहान्	२०१	३७०

ए

एक एव सदा धन्यो	२५४	४०३
एको देवस्त्रिभुवन-	२९०	४६९
एको देवः स जयति	२७५	४३७
एको भावः स जयति	१६०	३०२
एको याति प्रबल-	१३७	३७२

क

कश्चिन्मुनिः सतत-	२६०	४१४
कषायकलिरजितं	११७	२२२
कायोत्सर्गो भवति	१९५	३३८
कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि	२०६	३५१
केचिदद्वैतमार्गस्थाः	२०५	३५१
को नाम वक्ति विद्वान्	१३२	२६१
कोपि क्वापि मुनिर्बभूव	२४१	३९०
क्वचिद्व्रजति कामिनी-	९	७
क्वचिल्लसति निर्मलं	१३६	२९९
क्वचिल्लसति सद्गुणैः	२६	४५
क्षमया क्रोधकषायं	१८२	३२५

	श्लोक	पृष्ठ
ग		
गलनादणुरित्युक्तः	३७	६५
गुणधरगणधररचितं	५	३
गुप्तिर्भविष्यति सदा	९१	१७६
घ		
घोरसंसृति-	१४५	२०५
च		
चित्तत्त्वभावनासक्त-	१३९	२७८
ज		
जगदिदमजगच्च	१४	२२
जयति जगति वीरः	८	६
जयति नियमसार-	३०५	४९२
जयति परमतत्त्वं-	६३	१२८
जयति विदितगात्रः	९९	१८५
जयति विदितमोक्षः	९९	१८७
जयति शांत-	१७८	३१४
जयति सततं	१४५	२८३
जयति स परमात्मा	१२८	२५७
जयति समता नित्यं	१४१	२८०
जयति समयसारः	५४	१०७
जयति समितिरेषा	८२	१६२
जयति सहजतत्त्वं	१४८	२८७
जयति सहजतेजः-	१९६	३३८
जयति सहजतेजः-	१७०	३०८
जयति सहजतेजो-	२५२	४०२
जयति सहजबोध-	७५	१५१
जयति सहजं तत्त्वं	१७६	३१३
जयत्यनघचिन्मयं	१५६	२९९
जयत्यनघमात्म-	२११	३५३
जयत्ययमुदारधीः	२४७	४००
जानन् सर्वं भुवन	२८८	४६६
जानाति लोकमखिलं	२८५	४५६
जितरतिपतिचापः	९८	१८९
जिनप्रभुमुखारविन्द-	१५०	२८८
जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः	२७९	४३७
ज्ञानज्योतिःप्रहत-	६२	१३२
ज्ञानं नाम सहज-	२७७	४४०
ज्ञानं तावद्भवति	२८६	४६९
त		
तत्त्वेषु जैनमुनिनाथ-	२३०	३७८
तपस्या लोकेस्मिन्नि-	२४९	३९१
त्यक्त्वा वाचं	९२	१७८
त्यक्त्वा विभावमखिलं	१५९	३००
त्यक्त्वा विभावमखिलं	१२२	२३८
त्यक्त्वा सर्वं सुकृत-	२१५	३९०
त्यक्त्वा संगं जनन-	२६९	४२६
त्यजतु भवभीरु-	८०	१६०
त्यजतु सुरलोकादि-	२४५	३९६
त्यजाम्येतत्सर्वं	२१८	३६३
त्रसहतिपरिणाम-	७६	१५४
त्रसहतिपरिमुक्तं	२०४	३५१
त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं	३०४	४९१
त्रैलोक्याग्रनिकेतनान्	२२५	३७१
त्वयि सति परमात्म-	१	१
द		
दुरघवनकुठारः	९२	१२८
दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-	२३	४१
देवेन्द्रासनदंपकारण-	२९२	४७२
देहव्यूहमहीजराजि-	३०६	४९४
ध		
ध्यानावलोमपि	११९	२३२

	श्लोक	पृष्ठ
न		
नमामि नित्यं	१८८	३३०
नमोऽस्तु ते	१०८	१०८
न ह्यस्माकं	७४	१४५
न ह्येतस्मिन्	२९१	४७०
नानानूननराधिनाथ-	२९	५३
नाभेयादिजिनेश्वरान्	२३१	३८०
निजात्मगुणसंपदं	१९८	३३९
नित्यशुद्धचिदानन्द-	५६	११२
नियतमिह जनानां	८३	१६२
निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं	१३१	२६०
निर्मुक्तसंगनिकरं	१५८	२९९
निर्वाणिकाचार्य-	१२५	२५०
निर्वाणस्थे प्रहतदुरित-	३०१	४८६
निर्विकल्पे समाधौ	२०१	३४४
निवृतेन्द्रियलोल्यानां	२३५	३८२
निश्चयरूपां समितिं	८४	१६३
निःशेषदोषदूरं	२२३	३७०
नीत्वास्तान्	१०२	१९०
प		
पदार्थरत्नाभरणां	५२	१०१
पद्मप्रभाभिधानो	३०९	४९९
परपरिणतिदूरे	४२	८०
परब्रह्मण्यनुष्ठान-	८५	१६५
परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा	१९	३५
पश्यत्यात्मा सहज-	२८२	४५०
पंचसंसारनिर्मुक्तान्	२९५	४७५
पंचास्तिकायषड्द्रव्य-	७	४
पुद्गलोऽचेतनो जीव-	४४	८२
प्रतीतिगोचराः सर्वे	४९	९४
प्रत्याख्यानं भवति	१४५	२८५
प्रत्याख्यानाद्भवति	१४७	२८६
प्रध्वस्तपंचबाणस्य	२४८	४००
प्रनष्टदुरितोत्करं	१५१	२९८
प्रपद्ये हं सदाशुद्ध-	१६६	३०७
प्रागेव शुद्धता येषां	७१	१३७
प्रायश्चित्तंमुक्त-	१८१	३२०
प्रायश्चित्तं न पुन-	१८९	३३२
प्रायश्चित्तं भवति	१८०	३१८
प्रायश्चित्तं ह्यात्मानां-	१८५	३२८
प्रीत्यप्रीतिविमुक्त-	५५	१०९
प्रेक्षावद्भिः सहज-	१३३	२६३
ब		
बन्धच्छेदादतुल-	२९४	४७४
बन्धच्छेदाद्भगवति	३०३	४८७
बहिरात्मान्तरात्मेति	२६१	४१४
भ		
भवति तनुविभूतिः	७९	१५८
भवभयभेदिनि भगवति	१२	१३
भवभवसुखदुःख	२९८	४८१
भवभवसुखमल्पं	१९७	३३९
भवभोगपराङ्मुख	६५	१२९
भविनां भवसुखविमुखं	१०६	१९६
भविनि भवगुणाः स्युः	३५	५७
भवसंभवविषभूरुह-	१९९	३४०
भव्यः समस्त-	१०९	२०६
भावकर्मनिरोधेन	३१	५६
भावाः पंच भवन्ति	२९७	४७९
भाविकालभव-	१४३	२८४
भीतिं विहाय पशुभि-	२६६	४२२
भुक्त्वा भक्तं	८६	१६९
भेदवादाः कदाचित्स्यु-	१९४	३३६
भेदाभावे सतीयं	२२९	३७६

	श्लोक	पृष्ठ
म		
मत्स्वान्तं मयि	१३०	२६०
मदननगसुरेशः	१००	१८७
मम सहजसुदृष्टौ	१३५	२६९
महानंदानंदो	१४६	२८६
मुक्तः कदापि	१६५	३०६
मुक्तयङ्गनालि-	१४०	२८०
मुक्त्वा कायविकारं	९३	१८०
मुक्त्वा जल्पं	२५९	४१२
मुक्त्वानाचारमुच्चै-	११४	२१७
मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां	२६३	४१७
मुक्त्वा मोहकनक-	२७१	४२८
मोक्षे मोक्षे जयति	२१	३६
मोक्षोपायो भवति	११	११
य		
यद्यं चरणं निजात्म	२५५	४०५
यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपम-	३००	४८४
यस्य प्रतिक्रमणमेव	१२६	२५०
यः कर्मशर्मनिकरं	३३	५६
या शुद्धात्मज्ञान-	१८३	३२८
या शुद्धात्मन्यविचल-	१९०	३३३
यः सर्वकर्मविषभू-	५७	११२
यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां	२४६	३९८
यावत्सदा गतिपथे	३११	४९९
ये मर्त्यदैवनिकुरम्ब-	२२६	२७१
ये लोकाग्रनिवासिनो	२२४	३७१
योगी कश्चित्स्वहित-	२३९	३८८
योगी नित्यं सहज-	२५८	४०९
यो नैव पश्यति जगत्त्रय-	२८४	४५४
र		
रत्नत्रयमयान् शुद्धान्	१०५	१९३
रागद्वेषपरंपरापरिणतं	२३४	३८१
रागद्वेषौ विकृतिमिह	२१३	३५७
ल		
ललितललितं	१५	२५
लोकालोकनिकेतनं	३०७	४९५
व		
वक्तिव्यक्तं	७७	११५
वचनरचनां त्यक्त्वा	१९१	३३५
वर्तनाहेतुरेषः स्यात्	४८	९३
वर्तेतेज्ञानदृष्टौ	२७३	४३६
वाचं वाचंयमीन्द्राणां	२	२
विकल्पो जीवानां	२६७	४२४
विकल्पोपन्यासै-	२०८	३५२
विजितजन्म-	१७९	३१४
विषयसुखविरक्ताः	११५	६२०
वृषभादिवीरपश्चिम-	२३२	३८१
व्यवहरणनयेन	१०१	२८९
व्यवहरणनयेन	२८०	४४७
व्यवहारनयस्येत्थं	२२२	३७०
श		
शतमखशतपूज्यः	१३	१८
शल्यत्रयं परित्यज्य	११६	२२२
शस्ताशस्तमनो-	९४	१८२
शस्ताशस्तसमस्त-	२०	२६
शीलमपवर्गयोषिद-	१०७	१९८
शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं	१२४	२४७
शुक्लध्याने परिणतमतिः	२१९	३६५
शुद्धनिश्चयनयेन	७३	१४२
शुद्धं तत्त्वं	१७३	३१२
शुद्धात्मानं निजसुख-	१५७	२९९
शुद्धाशुद्धविकल्पना	७२	१३९

	श्लोक	पृष्ठ
ष		
षट्कायक्रमयुक्तानां	२६३	४७४
स		
सकलकरणग्रामा-	१०४	१६२
सद्बोधपोतमधिरुह्य	२७४	४३६
सद्बोधमंडनमिदं	१२०	२३३
समयनिमिषकार्धा	४७	६०
समयसार-	६६	१२६
समाधिना	२००	३४३
समितिरिह यतीनां	८८	१७४
समितिपुसमीतीयं	८७	१७२
समितिसमिति	८६	१७४
समितिसंहृतिनं-	६०	१७४
सम्यक्त्वेऽस्मिन्	२२०	३६८
सम्यग्दृष्टिस्त्यजति	१२७	२५५
सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः	२८३	४५३
सर्वज्ञवीतरागस्य	२५३	४०२
सहजज्ञानसाम्राज्य-	२२	३७
सहजपरमं तत्त्वं	१७७	३१३
संज्ञानभावपरिमुक्त-	३२	५६
संसारघोर-	१६४	३०६
सानन्दं तत्त्वमज्ज-	१७४	३१२
सिद्धान्तोदधश्रीधवं	३	२
सुकविजनपयोजा-	३०८	४६८
सुकृतमपि समस्तं	५६	११६
सुखं दुःख योनौ	२०६	३५३
स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः	३६	७४
स्मरकरिमृगराजः	६७	१८६
स्वतःसिद्ध ज्ञान	२१६	३६१
स्वर्गे वास्मिन्मनुज-	२८	५३
स्ववशयोगि-	२५०	४०१
स्ववशस्य मुनिन्द्रस्य	२५७	४०७
स्वस्वरूपस्थितान्	१०३	१६०
स्वात्माराधनया पुराण-	२७०	४२८
ह		
हित्वा भीतिं पशुजनकृतां	२६५	४२६

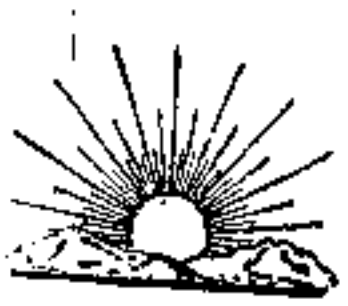

उद्धृत गाथा श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची

	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
अ			
अनवरतमनंत—	समयसार कलश	अमृतचंद्रसूरि	७१४
अन्यूनमनतिरिक्तं	रत्नकरंड श्रा०	समंतभद्र	२५
अभिमतफलसिद्धेः	आप्तपरीक्षा	विद्यानन्दि	१८
अलमलमतिजल्पैः	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२१२
अस्मिन्ननादिनि	,,	,,	७०
अहिंसाभूतानां	स्वयंभूस्तोत्र	समंतभद्र	१५३
आ			
आधारश्चतदेवैकं	—	—	३६८
आत्मकार्यं परित्यज्य	—	—	३८८
आत्म प्रयत्न सापेक्षा	—	—	३८८
आत्माधर्मः	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	३७५
आत्मामिश्रः	एकत्वसप्तति	पद्मनन्दी	३८६
आलोच्यसर्वमेनः	रत्नकरंड	श्रीसमंतभद्र	१३५
आसंसारात्प्रतिपद	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२९३
इ			
इत्युच्छेदात्परपरिणतेः	समयसारकलश	अमृतचन्द्र	४७८
इत्येवं चरणं	प्रवचनसार टीका	—	११२
उ			
उत्सृज्य कार्यकर्माणि	तत्वानुशासन	—	१८४

	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
उभयनय विरोध	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	६१
ए			
एकस्त्वभाविशमि	यशस्तिलक	सोमदेवसूरि	२७२
एयरसवण्णगन्धं	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्द	७७
एवं त्यक्त्वा बहि र्वाचं	समाधिशतक	पूज्यपाद	१७८
क			
कालाभावेन भावानां	मार्गप्रकाश	—	६३
कान्त्यैव स्नपयन्ति	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२१
कुसुम गभ०	मार्गप्रकाश	—	१६७
केवलज्ञानदृक्सौख्य	एकत्वसप्तति	पद्मनन्दी	२५७
ग			
गिरिगह्वरमुहां	अमृताशीति	--	३४६
च			
चक्कं विहायनिज०	आत्मानुशासन	गुणभद्र	३२२
चिच्छक्तिव्याप्त	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	१२४
चित्तस्थमप्यनवद	आत्मानुशासन	गुणभद्र	१२२
ज			
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट	मार्गप्रकाश	—	४०६
जयति विजितदोषो	श्रुतबिन्दु	—	४४६
जस्स अणेसणा अप्पा	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	१६७
जं पेच्छदो अमुत्तं	,,	,,	४५२
जानन्नप्येष विश्वं	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	४४०
ज्वरजनन जरायां	अमृताशीति	—	४८१

	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा	आत्मानुशासन	गुणभद्र	४२१
ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नः	स्वरूप संबोधन	अकलंक	४४२
ठ			
ठाणणिसेज्ज विहारा	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	४७०
ण			
णाविपरिणमदि णं	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	४६६
णाणं अत्थंतगयं	,,	,,	४३५
णाणं अव्विदिरित्तं	,,	,,	४६०
णिद्धत्तणेण दुगुणो	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	५६
णिद्धः वा लुक्खो वा	,,	,,	५६
णोकम्मकम्महारो	,,	,,	१६७
त			
तदेकं परमं ज्ञानं	पद्मनं० पंच वि०	आ० पद्मनन्दी	२६८
तेजोविद्धी णाणं	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	२१
द			
दर्शनं निश्चयः पुंसि	एकत्वसप्तति	पद्मनन्दी	१५०
दंसण पुव्वं णाणं	द्रव्यसंग्रह	नेमिचंद	४३६
द्रव्यानुसारि चरणं	प्रवचनसार टीका	अमृतचन्द्र	२७७
न			
नमस्यं च तदेकं	पद्मनन्दी पंच०	आ० पद्मनन्दी	२६८
नहि विदधति	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	१११
निषिद्धे सर्वस्मिन्	,,	,,	२६४
निष्क्रियं करणातीतं	,,	,,	२२६
प			
पडिकमणं पडिसरणं	समयसार	कुन्दकुन्द	२४१
परियट्टणं च वायण	मूलाचार	,,	४१८

	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
पंचाचार परात्मकिंचन	—	वादिराजदेव	१६०
पुढवी जलं च छाया	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्द	६८
प्रत्याख्याय भविष्य	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२५४
ब			
बन्धच्छेदात् कलयदतुल	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	४३३
बहिरात्मान्तरात्मेति	मार्गप्रकाश	—	४०८
भ			
भावयामि भवावर्त	आत्मानुशासन	गुणभद्र	२३५
भेदविज्ञानतः सिद्धा	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२०८
भेयं माया महागर्ता	आत्मानुशासन	गुणभद्र	३२४
म			
मज्झं परिग्गहो जह	समयसार	कुन्दकुन्द	१५६
मुक्त्वालस्त्व०	अमृताशीति	योगीन्द्रदेव	२७६
मोहविलासविजृम्भित	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२६२
य			
यथावद्वस्तुनिर्णीति	स्व० संबोधन	अकलंक	४३२
यत्प्रतिक्रमणमेव	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	२४१
यदग्राह्यं न गृह्णाति	समाधिशतक	पूज्यपाद	२५६
यदि चलति कथंचित्	अमृताशीति	योगीन्द्रदेव	४०४
यमनियम निसान्त	आत्मानुशासन	गुणभद्र	१६८
ल			
लोयायासपदेसे	द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र	९२
व			
वनचरभयाद्धावन	आत्मानुशासन	गुणभद्र	३२५
वसुधान्त्य चतुः स्वर्गेषु	मार्गप्रकाश	—	७८
व्यवहरणनयः स्यात्	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	१४०

श्लोक का प्रथम चरण	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
स			
सकलमपि विहाया०	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	१२३
समओ णिमिसो कट्ठा	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्द	८९
समओ दु अण्णदेसो	प्रवचनसार	,,	९२
समधिगत समस्ता	आत्मानुशासन	गुणभद्र	१६५
सव्वेभावा जम्मा	समयसार	कुन्दकुन्द	२५४
संसिद्धिराधसिद्धं	,,	,,	३१४
सिद्धान्तोऽयमुदात्त	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	१४४
सो धम्मो जत्थदया	,,	,,	१७
स्थितिजनन निरोध	स्वयंभूस्तोत्र	समंतभद्र	४५६
स्थूलस्थूलास्ततः	सांख्यप्रकाश	—	६९
स्वयकर्मकरोत्यात्मा	—	—	२७१
स्वरनिकर विसर्ग	अमृताशीति	योगीन्द्रदेव	१२७
स्वेच्छा समुच्छलद	समयसार कलश	अमृतचन्द्र	४११

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	११	गुरुणाप्रति	गुरुणा प्रति
९	१३	में स्थित	भाव में स्थित
१०	२२	उत्पन्न जो	उत्पन्न
११	६	[मोक्षगमिः]	×
१२	८	वीतराग द्वेष	वीतरागद्वेष
१७	२०	तृण, स्पर्श	तृणस्पर्श
१७	२३	इंदियाणाणं	इंदियणाणं
२३	११	भव्यै	भव्यैः
२५	२१	पूर्वा पर	पूर्वापर
३६	२५	मोक्षे-मोक्ष	मोक्ष-मोक्ष
३७	५	भणिद	भणिदं
३९	१८	पदार्थं ग्रहण	पदार्थं का ग्रहण
४४	१२	शार्दूलसत्वम्	शार्दूल ! सत्त्वम्
४८	१६	कार्यशुद्धिपर्याय	कार्यशुद्ध पर्याय
५२	१४	भव्यजीव	भव्यजीव के
५४	१३	कर्मों से	कर्मों का
५५	१२	अपने पृथक्	अपने से पृथक्
५६	१६	हैं	है
६१	१३	खडित	खंडित
६१	२०	रहते हुये	रहित हुये
७०	८	बादसुहुमं च सूक्ष्मस्थूलं च	बादरसुहुमं च सुहमसुहमं च
७२	१७	सम्बंध	सम बंध
७५	१४	आदि	आदि,
७८	२२	की इच्छुक	के इच्छुक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३	२२	समणावणओग	समावणओ ग
८५	६	लोक के शिखरी के	लोकस्थी शिखरी के
८६	१३	परिणामो	परिमाणो
८६	१५	परिणाम	परिमाण
८६	१७	हुये	हो
८७	७	सिद्धाणप्प	संठाणप्प [सिद्धाणप्प]
८८	२	षोडशभिः	षोडलभिः
६६	६	द्रव्याण्येवपञ्चा	द्रव्याण्येव पञ्चा
९८	१७	है	है
१०३	२५	णेयतो	णेयंतो
१०५	१५	भवंगुण	भवगुण
१०८	१०	सुखस्या भावान्न	सुखस्याभावान्न
१०९	२	शास्वत	शाश्वत
११६	५	तिदंसण	तिदंसणं
११७	१	चतुष्टय मावरण	चतुष्टयमावरण
११६	११	करके कार्य समयसार रूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके कार्य	करके कार्य
१४८	१३	मल,	चय
१५१	१४	धन्यकार	धन्यकार ने
१५१	२३	से गात्र	से रहित गात्र
१६०	५	मसतामिदम्	मसतामिदम्
१६६	६	पर घर	पर पर
१७७	१२	दधि खंड	दांधखंड
१८०	६	न	तं
१८१	६	चिद्रूपेसम्यग	चिद्रूपे सम्यग
१८४	९	अरिहता	अरिहंता
१९१	११	पतीन	पतीन्न
१९१	२६	बुद्धिवाले	बुद्धिवाले
१९७	२	प्रगुक्त	प्रागुक्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०३	२०	है	हैं
२०७	२५	कुन्दकुन्ददेव के	कुन्दकुन्ददेव ने
२१३	१	विराहण	विराहणं
२१९	८	निर्विकल्पमय	निर्विकल्पमय
२२१	११	परमनि:	परमनि:-
२२३	१८	आकार	आकर
२२८	३	बद्धहा	बद्धमहा
२३२	११	शाश्वत्	शाश्वत्
२३३	६	जोवेण	जोवेण
२४९	१४	अलंघन्	अलंघयन्
२६३	७	अवसेस	अवसेसं
२६५	४	मोहयादः	मोहयादः[1]
२६८	९	तदेवा	तदेवा
२६९	४	द्वन्द	द्वन्द्व
२७५	१०	चेतत्	चेतत्
२७५	१२	भेदात्त्रिविधम्	भेदात्त्रिविधम्
२७३	२२	बनते हैं	कारण बनते हैं
२७८	१२	असक्त	आसक्त
२७९	१०	रिपु	रिपू
२८०	२४	पूर्णिमा को	पूर्णिमा के
२८३	१०	हैं	है
२९१	७	ध्यावति	ध्यायति
२९४	३	शुद्धो	शुद्धो
२९५	२४	मुनि	मुनि को
३०२	४	मुक्तेनि	मुक्तेनि
३०२	४	पराणा	पराणा-
३०३	४	ककुम्मंडलं	ककुम्मंडलं
३०३	१६	अनादिविद्या	अनाद्यविद्या
३१०	२३	परितप्त	परितृप्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२१	१	मन	मद
३२२	२०	क्रोध का	क्रोध के
३२४	९	चित्तसंगो	चलसंगो
३२६	१३	ह्यत्र	ह्यत्र
३३२	४	महाःकर्मं	महाकर्मं
३५२	५	करें	करें—
३५२	२२	समह	समूह
३५३	३	कृतांहः ।	कृतांहः—
३५५	८	तिष्ठत्युच्चैः	तिष्ठत्युच्चैः
३५५	१२	मफल	सकल
३६०	४	संजातशुभ	संजातमशुभ
३६०	१६	विशेष उपार्जित	विशेष से उपार्जित
३६७	१७	भवित भवति	भक्तिर्भवति
३७६	९	भक्त्या	भक्त्या
३९२	२	दुःखभाक्	दुःखभाक्
३९३	५	भाव नमें	भावन में
४०९	६	मावश्यककर्मं	मावश्यकर्मं
४०६	१६	गुणवर्ती	गुणस्थानवर्ती
४१८	३	कुर्तुम	कर्तुम्
४२०	५	परीक्ष्यियित्वा	परीक्षयित्वा
४३९	५	प्रतिप	प्रतिप—
४४०	११	वणिग् दं	वणिग्दं
४५६	१४	चर जंगम	चर-जंगम
४५६	१५	अचर स्थावर	अचर-स्थावर
४५७	२५	अभाव है	अभिप्राय है
४६१	३	तत्वं	तत्त्वं
४६३	१४	ग्रहणं	गहणं
४६६	१५	प्रवचनासर	प्रवचनसार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७६	११	निन्दास्थान	निन्द्यस्थान
४८२	२४	(उस परमतत्त्व) में	(उस परमतत्त्व में)
४८३	२	आसाता—	असाता—
४६०	७	कहां	कहा
४६१	१	धर्मास्ति काया	धर्मास्तिकाया
४९१	१४	ज्ञनी	ज्ञानी
४६३	८	तुम मुक्ति	तुम भक्ति
४९७	२१	भागवत्	भागवत
४९८	१८	भागवत्	भागवत